प्रथम वर्ष प्रथम संख्या



प्राचीन भारत

[भारतीय शास्त्र एवं संस्कृति सम्बन्धीय मुख्य मासिक पत्रिका]

माघ संवत् १९९७

सम्पादक—महामहोपाध्याय, सकलनारायण शर्मा

सह० सम्पादक—श्री कालिदास मुकरजी एम. ए., एम. आर. ए. एस.

सह० सम्पादिका—कुमारी पद्मा मिश्र एम. ए.

परिचालक—श्री सतीशचन्द्र सील, एम. ए. बी. एल.

दी इन्डियन रिसर्च इन्स्टिट्यूट

१७०, मानिकतला स्ट्रीट कलकत्ता

सम्पादक-मंडल

(१) सभापति—डा० डी. आर. भंडारकर, एम. ए., पी. एच. डी., एफ. आर. ए. एस. बी.।
(भारतीय इतिहास एवं संस्कृति)

(२) महामहोपाध्याय लक्ष्मीनारायण शर्मा

(३) पं० भगवद् दत्त—(वैदिक साहित्य)

(४) डा० प्रभुदत्त शास्त्री एम. ए., पी. एच. डी (दर्शन-शास्त्र)

(५) श्रीयुत व्ही. एस. अगरवाल, एम. ए. (पुरातत्त्व-विभाग)

(६) डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, एम. ए., डी. लिट् (प्राचीन हिन्दी साहित्य)

(७) डा० हीरालाल जैन, एम. ए. डी. लिट् (जैन साहित्य)

(८) भिक्षु राहुल सांकृत्यायन (बौद्ध साहित्य)

(९) महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन सरस्वती, एम. ए., एल. एम. एस, (आयुर्वेद शास्त्र)

(१०) श्रीयुत सतीशचन्द्र शील, एम. ए. बी. एल. (परिचालक)

नियमावली

(१) माघ माह से प्राचीन भारत का वर्ष आरम्भ होता है। हर माह के पहले हफ्ते में यह पत्रिका प्रकाशित होती है। हर संख्या में लगभग ७२ पृष्ठ रहते हैं।

(२) इस पत्रिका का वार्षिक मूल्य ४) तथा छमाही मूल्य २।) रुपये (डाक सहित) है। प्रति संख्या की कीमत ।≠), डाक अलग।

(३) वार्षिक या छमाही मूल्य पहले पठाना पड़ता है।

(४) किसी विशेष-संख्या के प्रकाशित होने पर वार्षिक-ग्राहकों को उसकी कीमत नहीं देनी पड़ती है।

(५) वर्ष-समाप्ति के एक माह पूर्व वसूली के लिये पत्र दिया जाता है नहीं तो वर्ष-समाप्ति के बाद पहली संख्या वी० पी० द्वारा भेजी जाती है। जो महोदय पत्रिका बन्द करना चाहते हैं उन्हें पहले ही सूचित करना आवश्यक है।

(६) ग्राहक का पता यदि बदल जाय तो जितनी जल्दी हो सके सूचित करना चाहिये।

(७) ठीक समय में यदि पत्रिका न मिले तो ग्राहक १५ दिन के भीतर सह० सम्पादक को जनावें।

(८) लेखक कृपया पृष्ठ की एक ओर अपना लेख भेजें। प्रूफ केवल एक ही बार लेखक के पास भेजा जा सकता है।

(९) जो महाशय १००) देने की कृपा करेंगे वे इस संस्था के आजीवन—सदस्य बनेंगे। उन्हें पत्रिका एवं इस संस्था से प्रकाशित हिन्दी पुस्तकें मुफ्त में दी जायेंगी।

Printed and Published by Mr. Gour Chandra Sen, B.Com. from the Indian Research Institute, 170, Maniktala Street, Calcutta, at the Sree Bharatee Press of the same address.

रीजेण्टपार्क
टालीगंज—कलकत्ता
२९-१-५१

महाशय,

इण्डियन रिसर्च इन्स्टीट्यूट की छपी पुस्तकें जो अपने कृपा करके भेजीं उसके लिये मैं धन्यवाद करता हूं।

भारतीय-शास्त्र विज्ञान सम्बन्धी खोज का परिणाम अब तक प्रायः अंग्रेजी भाषा मे ही प्रकाशित होता आया है। इसका यह फल है कि जो विद्वान् अंग्रेज़ी नहीं जानते सामान्यतया उनको इसका पता नहीं लगता कि हमारे शास्त्रों के विषय मे अंग्रेज़ी में क्या लिखा गया है! इसलिये इस बात की आवश्यकता थी कि इस खोज का परिणाम राष्ट्रभाषा हिन्दी मे छपे। सेठ घनश्याम दासजी बिड़ला का भाषा मे उत्तम ग्रन्थो के छपवाने का प्रेम विदित है। उन्होंने 'प्राचीन भारत" नाम की पत्रिका के प्रकाशन में सहायता और प्रोत्साहन देकर अंग्रेज़ी भाषा न जानने वाले विद्वानों और देश की जो सेवा की है उसके लिये वे तथा और जो सज्जन इस कार्य में लगे हुये हैं धन्यवाद के पात्र हैं। मेरी प्रार्थना है कि शीघ्र से शीघ्र हिन्दी भाषा में सब ज्ञान विज्ञान सम्बन्धी लेख उसी प्रकार छपने लगें जिस प्रकार अन्य देशों के भाषा के ग्रन्थ अपने अपने देश की भाषा में प्रकाशित होते है। हमारे लिये यह प्रतिष्ठा की बात नहीं है कि ऐसे लेख अंग्रेज़ी में छपें। इसलिये 'प्राचीन भारत' के निकालने का प्रयत्न सराहनीय है। और उसको मै पूरी सफलता चाहता हूं।

मदन मोहन मालवीय

२७ जनवरी, १९४१

प्रिय श्रीयुत शील,

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि "प्राचीन भारत" का प्रथम अंक १ फरवरी को प्रकाशित होने वाला है। वैसे तो आपकी पत्रिका अंग्रेज़ी में कई साल से निकल रही है, पर उसमे पुरातन पंडितों में अनुसंधान को प्रवृत्ति जागृत नहीं हो सकती। इसलिए इस बात की जरूरत थी कि हिन्दी में एक ऐसी पत्रिका प्रकाशित हो जो हमारी पुरानी संस्कृति के विषय में अनुसंधान करे और उस मसाले को पुरातन पंडितों के सामने रखकर उनकी खोज प्रवृत्ति को भी जागृत करे। मुझे आशा है कि 'प्राचीन भारत" से यह कमी पूरी होगी। मैं आपको इसके लिए बधाई देता हूं और "प्राचीन भारत" को अपनी शुभकामना भेजता हूं।

भवदीय,

घनश्याम दास बिड़ला

श्री सतीश चन्द्र शील,

इंडियन रिसर्च इन्स्टीट्यूट, कलकत्ता।

(अंग्रेजी का अनुवाद)

वाइस चान्सेलर — बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी

भारतीय शास्त्र-ज्ञान-सम्बन्धी जो गवेषणा हुआ करती है उसे हिंदी में छपवाना आवश्यक है ताकि सब हिन्दी जानने वाले उसे समझ सकें। आशा है इन्डियन-रिसर्च इन्स्टिट्यूट से प्राचीन-भारत प्रकाशित करने पर कुछ अभाव मिट सकेगा।

३०—१—४१ — एस० राधाकृष्णन

॥ वन्देमातरम् ॥ जय भारत ॥

कलकत्ते की "भारतीय अनुसन्धानसमिति" की ओर से हिन्दी में एक पत्रिका निकालने का जो आयोजन हो रहा है, वह विशेष हर्ष की बात है। इस समिति के उद्देश्यों में हमारे पितृपुरुषों की संस्कृति की आलोचना और विश्वमानव के हित के लिये उसका प्रचार, ये दो मुख्य हैं। अब तक यह समिति, भारत की राजभाषा अंग्रेजी में (जो आधुनिक विश्व संस्कृति का प्रधान वाहन है), "इन्डियन कल्चर" नामक पत्रिका प्रकाश कर रही है। बंगाल की प्रान्तिक भाषा बंगला में भी यह समिति कुछ दिनों से संस्कृति चर्चा-मूलक एक उच्च-कोटि की पत्रिका प्रकाशित कर रही है। अब नितान्त औचित्य के साथ भारत की आधुनिक भाषाओं की प्रतिनिधि-स्वरूप, भारत संसार के सबसे अधिक संख्यक जनगणों में प्रचलित और प्रचारित भारत की होनहार राष्ट्र-भाषा हिन्दी में यह समिति एक नई पत्रिका प्रकाशित करने जा रही है। भारत में भारतीय संस्कृति और आदर्श की आलोचना तथा प्रचार के लिये हिन्दी निहायत कार्यकर होगी। "हिन्दी" शब्द का उच्चारण करते ही "हिन्द" और "हिन्दू" स्मरणपथ पर आ जाते हैं। ईश्वर से मेरी हार्दिक प्रार्थना है कि 'भारतीय अनुसन्धान समिति" की यह चेष्टा सर्वथा सफल हो, समग्र मानव-जाति के लिये हित-साधक हो, और साथ ही साथ भारत के अविनश्वर गौरव की संरक्षक और परिवर्धक हो। इति

३० जनवरी १९४१ ई०, माघ सुदी तीज स० १९९७	श्री सुनीति कुमार चाटुर्ज्या अध्यापक कलकत्ता विश्वविद्यालय

सूचीपत्र

प्राचीन भारत

१म वर्ष | माघ, (संवत् १९९७) | १म संख्या

"प्राचीन भारत" का अभिप्राय तथा उद्भावन

(भारतीय शास्त्र-ज्ञान सम्बंधी एक हिंदी मासिक पत्रिका)

भारतवर्ष की सभ्यता एवं संस्कृति संसार में यदि सबसे प्राचीन न हो तिसपर भी निस्सन्देह अति प्राचीन है जैसा कि मोहेनजोडारो तथा हरप्पा आदि के खोदने पर पता चला है। शताब्दियां बीत चुकी हैं परन्तु आज भी वे उत्साही खोजने वालों को नित्य-नूतन से चकित करते आ रहे हैं। वास्तव में यह समुद्र की थाह पाने की प्रचेष्टा का प्रयास सा ही है। जिस प्रकार समुद्र के अथाह जल में गोता मारकर बिखरे हुए मोती बाहर लाये जाते हैं, उसी प्रकार बड़े बड़े मेधावी पुरुष उस प्राचीन संस्कृति की अथाहता में गोता लगाकर उज्ज्वल मोतियां निकालने की चेष्टा करते हैं। प्राचीन-भारत के रहस्यवादी-भावी-दर्शियों तथा कवियों द्वारा उस "अनन्त-सत्य" के जानने की एकान्त उत्सुकता जैसा कि "सप्तसिंधु" के वेद की ऋचाओं में परिदर्शित है, उपनिषदों तथा वेदान्तों में वर्णित "जीवन-रहस्य" तथा सत्य के जानने की आकांक्षा जो कि आज भी विद्वानों के हृदय में उमड़ रही है, निर्वाण सम्बंधी बौद्धों का विचार—विश्वव्यापी-सत्य में आत्म-परिदर्शन तथा उसकी उन्नत नैतिक भावनाये, जीवन की अनन्त-पहेली को सरल करने के लिये जैनों का नीति-शास्त्र, धर्मशास्त्र रचयिताओं के नैतिक तथा सामाजिक नियमादि ही आधुनिक काल में चकित-चित्त को और भी चंचल कर देते हैं।

उन्नति के पथ पर अग्रसर होती हुई सभ्यता की गति साधारणतः जैसी हुआ करती है, प्राचीन भारत के भावी-दर्शी केवल उस अपरिसीम-सत्य की खोज में तथा मनो-वैज्ञानिक समस्यायों को हल करने में ही व्यस्त न थे, बल्कि साथ ही साथ उन्होंने गणित-शास्त्र, जोतिष, उद्भिद्-विद्या, चिकित्सा-शास्त्र आदि निरपेक्ष प्राकृतिक-विज्ञान की ओर भी अपना ध्यान दिया था। इसके अतिरिक्त काव्य-क्षेत्र में उन विद्वानों का उपहार आज भी रसिकों पर रस के छींटे छोड़ा करता है।

उस उन्नत-सभ्यता की ज्ञान के प्रति उत्साह दिलाने के लिये "इंडियन-रिसर्च-इन्स्टिट्यूट" की स्थापना की गई है। वैदिक एवं पूर्व-वैदिक काल में लिखित साहित्य पर टिप्पणी सहित पुस्तकें प्रकाशित करने के अतिरिक्त यह संस्था (इंडियन-रिसर्च-इन्स्टिट्यूट) एक गवेषणा मूलक अंग्रेजी

पत्रिका "दि इंडियन-कल्चर" (The Indian Culture) प्रकाशित करती है जिससे कि अंधेरे में पड़ी हुई प्राचीन-भारतीय-साहित्य के सभी अंशों में आलोक-रश्मि डाली जाय। इस पत्रिका का संपादन भारतवर्ष के विभिन्न सुप्रसिद्ध विद्वानों की सहानुभूति से ही होता है। बंगभाषा बोलने वालों के लिये "श्री भारती" नामक मासिक पत्रिका भी इसी संस्था से निकलती है।

इंडियन-रिसर्च-इन्स्टिट्यूट के पृष्ठपोषक एवं सहकारी सभापति श्रद्धेय घनश्यामदासजी बिड़ला ने ठीक ही कहा है कि संस्कृतज्ञ एवं अन्यान्य भारतीय पंडित जो कि अंग्रेजी भाषा से अनभिज्ञहैं, वे आधुनिक काल में जो भारतीय शास्त्र-विज्ञान संबंधी खोज हुई करती है नहीं जान पाते। इसका कारण केवल यही है कि अधिकतर ऐसी पत्रिकायें अंग्रेजी अथवा दूसरी भाषाओं में निकलती हैं। यथार्थ में हिंदी में कोई भारतीय शास्त्र-विज्ञान संबंधी पत्रिका नहीं है। इसी लिये बिड़लाजी ने ऐसे संस्कृतज्ञ एवं पंडितों के सुभीते के लिये हिंदी में एक पत्रिका निकालने का प्रारम्भ-सूचक कार्य किया है। इसका कारण केवल यही है कि यदि ऐसी पत्रिका हिंदी में निकाली जाय तो भारतवर्ष के विभिन्न भाषा-भाषी जैसे गुजराती, महाराष्ट्री, राजस्थानी, बुंदेली आदि सभी इससे लाभ उठा सकते हैं—खड़ी बोली बोलने वालों की तो बात ही निराली है। उन्होंने इंडियन-रिसर्च-इन्स्टिट्यूट को इस पत्रिका को चलाने का कार्य सौंपा है एवं उन्होंने आर्थिक सहायता देने की भी कृपा की है।

अतएव आलोच्य-पत्रिका प्रकाशित करने के हेतु संस्था के सदस्यों की एक बैठक हुई और एक सुदृढ़-संपादक-मंडल गठन किया गया तथा इस मंडल के प्रत्येक सदस्य को निम्नलिखित विषयों का भार सौंपा गया। इसके अतिरिक्त हिंदी साहित्य की समृद्धि के लिये एक कार्यकारिणी-व्यवस्थापक सभा भी बनाई गई जिसके सभापति श्रद्धेय बिड़लाजी बनाये गये।

इस प्रकार की हिंदी पत्रिका का सम्पादन और कुछ दिनों के पूर्व होना चाहिये था। अतएव पत्रिका प्रकाशन एवं प्रचालन हेतु यह संस्था प्रत्येक साहित्यागार—लाइब्रेरी, कालेज तथा भारत के विभिन्न संस्कृति आदि प्रिय सदस्यों की सहानुभूति प्रार्थना करता है।

विशेष नियमावली तथा उद्देश्य

१. इस पत्रिका का नाम "प्राचीन-भारत" रहेगा।

२. यह नौ फर्मों की एक मासिक पत्रिका होगी।

३. इसमें निम्नलिखित विषयों पर लेख रहेंगे :—

(अ) वैदिक (ब) दार्शनिक (स) बौद्ध (ड) जैन (इ) स्मृति तथा धर्म-शास्त्र (फ) भारतीय कला एवं पूर्व-कालिक साहित्यादि-विषयक विज्ञान (ज) भारतीय इतिहास एवं संस्कृति (ह) सिक्खधर्म (ई) सातवीं सदी के पूर्व ईरान का धर्म (ज़ोरोस्ट्रियन) (र) आयुर्वेदिक (क) हिंदी साहित्य (म) संस्कृत, पाली एवं प्राकृत साहित्य।

४. इसके अतिरिक्त नीचे लिखे विषयों पर भी लेख छापेजाये गे :—

(अ) प्राचीन एवं आधुनिक शिक्षा पद्धति ।

(ब) भारतवर्ष एवं भारतर्ष के बाहर धर्मालोन्दन ।

(स) विविध पत्रिकाओं में प्रकाशित महत्वपूर्ण भारतीय-शास्त्र-विज्ञान संबंधी लेखों का हिंदी में अनुवाद तथा संक्षिप्तसार ।

(ड) सम्पादकीय मन्तव्य (इ) हस्तलिखित प्रतियां, प्रकाशित दुष्प्राप्य पुस्तकें तथा आधुनिक गुरुत्वपूर्ण समाचारादि की समालोचना (फ) अप्रकाशित संस्कृत, पाली तथा प्राकृत प्रतियों का हिंदी अनुवाद एवं हिंदी हस्तलिखित प्रतियां का टीका-टिप्पणी सहित प्रकाशन । (ज) हस्तलिखित प्रतियों एवं दुष्प्राप्य प्रकाशित पुस्तकों की इतिवृत्ति ।

५. भारतवर्ष में इस पत्रिका का डाक सहित वार्षिक मूल्य ४) रहेगा, तथा बाहर ६ शिलिंग (डाकसहित)। वार्षिक मूल्य पहिले ही पठाना पड़ेगा। प्रति संख्या की कीमत ॥) तथा बाहर १ शिलिंग ।

सम्पादक-मंडल

आयुर्वेद – प्राचीन तथा वर्तमान

महामहोपाध्याय कविराज श्री गणनाथ सेन सरस्वती,

एम. ए, एल. एम. एस.

आयुर्वेद-शास्त्र अति विशाल तथा गम्भीर है—इसकी तुलना एक मात्र अनन्त-रत्नाकर से ही हो सकती है। महाभारत युद्ध के समय भेषज-चिकित्सा तथा शस्त्र-चिकित्सा के द्वारा ही भारत-वासियों की शारीरिक रक्षा हो सकी थी। तदनन्तर भारतवर्ष ने ही संसार के विभिन्न देशों को आयुर्वेद का पाठ पढ़ाया था। पश्चिम में ईरान, अरब, मिश्रदेश, ग्रीस तथा रोम, एवं पूर्व में ब्रह्मदेश तथा सुदूर चीन से लोग इस भारत भूमि में आकर चिकित्सा-शास्त्र सीख गये थे—यहां तक कि सिकंदर भी भारतवर्ष में आकर आयुर्वेद की कार्य-कारिता देख दंग हो गया था। उसी समय से आयुर्वेद के प्रभाव के कारण ग्रीक तथा रोमन चिकित्सा-पद्धति का उद्भव हुआ; चीन की चिकित्सा-पद्धति भी आयुर्वेद का ऋणी है। उपर्युक्त विचारों को बड़े बड़े ऐतिहासिकों ने स्वीकार किया है, किन्तु कुछ ऐसे अदूर-दर्शी कूप-मण्डूक हैं जो कि अभी तक ग्रीसकी चिकित्सा-पद्धति को ही सबका मूल ठहराते हैं—पर उन लोगों के लिये तो यूरोप ही विश्व ठहरता है।

आयुर्वेद का अर्थ तथा परिचय।

मनुष्य के जीवन-काल को आयुः कहते हैं। दीर्घ तथा सुखकर आयुः भोग करने की उपाय जिस शास्त्र में वर्णित है उसी का नाम आयुर्वेद है। "विद्" धातु का अर्थ ज्ञान है—आयुः संबंधीय ज्ञान-विज्ञान जिस शास्त्र की सहायता से होता है उसका नाम आयुर्वेद है। चरक-संहिता में लिखा है कि मनुष्य की आयु चार प्रकार की हुआ करती है—हित आयु, अहित आयु, सुख आयु तथा दुःख आयु। सुश्रुत में लिखा हुआ है कि आयुर्वेद का प्रयोजन दो प्रकार से हुआ करता है—स्वस्थ-मनुष्य की स्वास्थ्य रक्षा करना तथा रोग होने से उसका प्रतिकार करना; इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिये आयुर्वेद शास्त्र में सब प्रकार के उपाय दिये गये हैं। चिकित्सा भी दो प्रकार की हुआ करती है—भेषज-साध्य तथा शस्त्र-साध्य, इसी से आयुर्वेद के दो मुख्य सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई है—काय-चिकित्सक सम्प्रदाय (School of Physicians) और शल्य-चिकित्सक-सम्प्रदाय (School of Surgeons).

वास्तव में स्वस्थ-शरीर तथा दीर्घ-आयु पा कर ही मनुष्य सुखी नहीं हो सकता—धर्म, अर्थ, समाज आदि विविध-विषयों के साथ भी उसका कुछ न कुछ सम्पर्क अवश्य है; इसीलिये धर्म-नीति

समाज-नीति आदि पर भी आयुर्वेद ने विस्तार-पूर्वक मूल्यवान उपदेश दिया है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि केवल मनुष्य जाति की स्वास्थ-रक्षा पर ही आयुर्वेद में वर्णन नहीं मिलता बल्कि साथ ही साथ अश्वायुर्वेद, गवायुर्वेद, गजायुर्वेद एवं वृक्षायुर्वेद आदि पर भी अनेक ग्रन्थ दिखलाई पड़ते हैं। इन विषयों पर शालिहोत्र-संहिता, पालकाप्यसंहिता आदि ग्रंथावली आज भी उपलब्ध हैं।

अति प्राचीन-काल में ही आयुर्वेदीय-चिकित्सा शास्त्र आठ अंगोमें विभाग किये गये थे। यथा :—

(१) शल्य-तंत्र अर्थात् यन्त्र-शस्त्र-साध्य रोगों का निर्णय एव उनकी चिकित्सा (Surgery and Midwifery) प्रसूति तन्त्र इसी के अन्तर्गत है।

(२) शालाक्य-तंत्र अर्थात् आंख, कान, नाक, कठ इत्यादि सिर और गलेके अंगप्रत्यंगों में होने वाले रोगों का निर्णय तथा उनकी चिकित्सा। (Diseases of eye, ear, nose, throat and their treatments)

(३) काय-चिकित्सा अर्थात् भेषज-साध्य सर्व-शारीरिक रोगों की चिकित्सा (Practice of Medicine).

(४) भूत-विद्या अर्थात् मानस-रोग चिकित्सा। (Mental diseases).

(५) कौमार-भृत्य अर्थात् शिशु-पालन-विधि तथा शिशु चिकित्सा। (Pediatrics)

(६) अगद-तन्त्र अर्थात् स्थावर-जगम सब प्रकार के विष का ज्ञान तथा उनकी चिकित्सा। (Toxicologist including Bites of Snakes Scorpions, Insects etc)

(७) रसायन-तन्त्र अर्थात् जरा-व्याधि-पीड़ित जीर्ण लोगों की आयु बढाने की प्रचेष्टा।

(८) वाजी-करण तन्त्र अर्थात् विवाहित जीवन में वीर्य-क्षय रोकने का उपाय तथा क्षीण-वीर्य लोगों की चिकित्सा।

उपर्युक्त अगों में से अंतिम दोनों की ओर पाश्चात्य-चिकित्सकों ने अभी हाल ही में ध्यान दिया है।

पाश्चात्य-चिकित्सा के विभिन्न अंगों में आजकल जैसे विशेषज्ञ (Specialist) हुआ करते है, प्राचीन-काल में भी उसी प्रकार आयुर्वेद के विशेषज्ञ थे। वे 'काय-चिकित्सक' (Physician), 'शल्य-तांत्रिक' (Surgeon), 'शालाकी चिकित्सक' (Specialist in Eye, Ear, Nose and Throat disease), 'अगद-तांत्रिक' अथवा विषचिकित्सक (Toxicologist) आदि नामों से प्रसिद्ध थे। उपर्युक्त प्रत्येक अंग की उन दिनों में विशेष उन्नति हुई थी तथा प्रत्येक अंग के आठ-दस संहिता-ग्रंथ (Authoritative works) भी बनाये गये थे। लगभग सात-आठ सौ वर्ष पूर्व रचित टीकाओं में इस तरह के ५०-६० ग्रंथों के नाम तथा पाठोद्धार पाये जाते हैं। खेद है

कि अब मूल ग्रंथों में से अधिकांश अप्राप्य हैं। चरक, सुश्रुत, वाग्भट इत्यादि जो प्रामाणिक ग्रंथ आज उपलब्ध हैं वे प्रायः उन प्राचीन संहिताओं के प्रतिसंस्कार (Recompilation) अथवा संग्रह मात्र हैं।

आयुर्वेद की प्रागैतिहासिक मूल—

वेद में आयुर्वेद।

सुश्रुत में लिखा है कि आयुर्वेद अथर्ववेद का उपांग है। चरणव्यूह में व्यासदेव ने आयुर्वेद को ऋग्वेद का उपांग कहा है, अतएव ऐसा कहना बुरा नहीं होगा कि आयुर्वेद सम्बंधीय कुछ तत्व अथर्ववेद में पाये जाते है। ऋग्वेद में भी कुछ सामग्री पाई जाती है, चरक-संहिता में अथर्ववेद पर ही विशेष भक्ति दिखलाई गई है। वैदिक साहित्य में आयुर्वेदके प्रत्येक अगके संबधमें कुछ ऐसी आवश्यक वस्तुए पायी जाती हैं कि यदि उन्हें इकट्ठा किया जाय तो एक नई पुस्तक बन सकती है। कुछ दृष्टांत देकर इस प्रसग को यही समाप्त करता हू :—

अथर्ववेद में हृदय (Heart), क्लोम (Tracheobronchial Tree), फेफड़ा (Lungs), अंतड़ी (Kidneys) तिल्ली, मस्तिष्क (Brain), धमनी (Artery), नस (Veins), नाड़ी (Nerves) इत्यादि शारीरिक शास्त्र की कई संज्ञाये विद्यमान हैं। आयुर्वेद के सुप्रसिद्ध त्रिदोष-तत्व वायु, पित्त, कफ के विषय में तथा प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान आदि वायु के विभिन्न विभागों पर, एवं अन्न-विपाकादि शारीरिक कार्य-प्रणाली पर कई तत्व वैदिक साहित्य में मिलते हैं।

इसके अतिरिक्त अथर्ववेद में सूक्ष्म अथवा अदृश्य तथा स्थूल अथवा दृश्य कीट सबंधीय जो वर्णन दिया हुआ है उन पर यदि आलोचना की जाय तो विस्मित होना पड़ता है। अदृश्य कीट का उल्लेख चरक सुश्रुतादि में है किन्तु अथर्ववेद में दिया हुआ वर्णन और भी विस्तृत एवं निराला है, उसमें यह भी लिखा हुआ है कि सूर्य-तेज से कई सूक्ष्म कीड़ों का नाश हो जाता है।

रोगोंके वर्णनके प्रसग में अथर्ववेद में बवासिर (अर्शः, Piles), अपची (Scrofula), खांसी, कुष्ठ, दमा इत्यादि रोगों का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य में भेषज-संबंधीय वर्णन भी मिलता है—अंवला, अश्वगंधा, करंच, कुमुदादि के नाम पाये जाते हैं। लेख बढ़ जाने के डर से इसे यहीं समाप्त करता हू।

आयुर्वेद का दैव तथा आर्षकाल।

आयुर्वेद के अवतरण-प्रसंग पर चरक-सुश्रुतादि में यह लिखा हुआ है कि इस शास्त्र

का सर्वप्रथम आविर्भाव ब्रह्मा के हृदय में हुआ था। तदनंतर उन्होंने दक्ष-प्रजापति को उपदेश दिया और उनसे स्वर्ग के वैद्यों (अश्विनी-कुमार-द्वय) ने सीखा। उसके उपरांत देवराज इंद्र ने उन वैद्यों से आयुर्वेद-विद्या सीख ली और वे आयुर्वेदाचार्य ठहराये गये। इन्द्र का निवास हिमालय के उसपार था। संसार के लोगों को रोग-ग्रसित देखकर मर्त्तलोक में आलोच्य-शास्त्र लाने के लिये ऋषियों ने भरद्वाज को भेजा। महर्षि भरद्वाज ने इस शास्त्रका अध्ययन कर ऋषियों को उपदेश दिया। तदनन्तर पुनर्वसु आत्रेय आदि ने मर्त्तलोक में इसका प्रचार किया। पुनर्वसु तथा आत्रेय के अग्निवेश, भेल, जतूकर्ण, पराशर, हारीत, क्षारपाणि आदि शिष्यों ने अपनी अपनी संहिता बनाई। उन्होंने "अत्रेय-सम्प्रदाय" अथवा "काय-चिकित्सक-सम्प्रदाय" (School of Physicians) के नाम से प्रसिद्धि पाई। उसी समय काशीराज दिवदास-धन्वन्तरी ने एक अलग सम्प्रदाय चलाया, वह उन्हीं के नाम पर "धन्वन्तरी-सम्प्रदाय" कहलाया। ऐसा कहा जाता है कि ये काशीराज समुद्रमथनोद्भुत धन्वन्तरी-नारायण के अवतार थे। उनके शिष्यों में से सुश्रुत, भोज, उपधेनव, उरभ्र, पुष्कलावत, वैतरण, गोपुर-रक्षित आदि ने अपने नाम पर बहुत सी शल्य-तंत्र-संहिता की रचना की थी। आजकल जो सुश्रुत-संहिता उपलब्ध है वह इसी सम्प्रदाय का मुख्य-ग्रंथ है, परंतु इसे प्राचीन सुश्रुत-संहिता का संक्षिप्त-सार ही समझना चाहिये। यह "धन्वन्तरी-सम्प्रदाय", "शल्य-तांत्रिक-सम्प्रदाय" (School of Surgeons) नाम से अभिहित हुआ है। आधुनिक काल में आयुर्वेद की जो टीका-टिप्पणी पाई जाती है उससे यह स्पष्ट है कि लगभग सात-आठ सौ वर्ष पूर्व भी उपर्युक्त ग्रंथों में से कुछ उपलब्ध थे। खोज करने पर उन प्राचीन पुस्तकों में से कुछ आज भी हाथ लग सकते हैं जैसा कि तजौर-लाइब्रेरी से "भेल-संहिता" तथा नेपाल से "वृद्ध-जीवक-तंत्र" की उपलब्धि हुई है।

आयुर्वेद का सिद्ध-युग अर्थात् रस-वैद्य-सम्प्रदाय।

दैवकाल तथा आर्षकाल के अतिरिक्त "रसवैद्य" अर्थात् सिद्ध-सम्प्रदाय पर भी दो चार बातें कहना आवश्यक है। इन्हों लोगों ने प्रायः दो हजार वर्ष पूर्व पारा आदि धातु-विषयक-चिकित्सा का प्रवर्तन किया था। आर्षकाल में लोहा आदि कुछ धातु का प्रयोग थोड़ा बहुत हुआ करता था परंतु उन दिनों में वैद्य पारा का उपयोग प्रायः नहीं किया करते थे। "रस-वैद्य-सम्प्रदाय" ने सर्वरोग-नाशकारी-शक्ति के लिये पारा का उपयोग किया था और उसकी सहायता से इन्होंने सोना-चाँदी अलग करने की प्रथा चलाई थी। हम कह सकते हैं कि आधुनिक आयुर्वेद पर रस-वैद्य-सम्प्रदाय का विशेष-प्रभाव पड़ा है। इस सम्प्रदाय के आदि गुरु महादेवजी कहलाते हैं।

दक्षिण-भारत में आयुर्वेद।

ऐसा कहा जाता है कि अगस्त्य-मुनि ने दक्षिण भारत में आयुर्वेद का प्रचार किया था। आयुर्वेद के साथ ही साथ "सिद्ध-सम्प्रदाय" अथवा "रस-वैद्य-सम्प्रदाय" का सिद्धान्त भी वहां तामिल भाषा में प्रचार किया गया था, इसी लिये वहां "सिद्ध-सिद्धान्त" आयुर्वेद का प्रतिद्वन्दी-स्वरूप आ खड़ा हुआ है। पुलस्त्य, प्यूहमणि, पुलिप्पाणि आदि प्रायः ३०-५० सिद्ध-आचार्यों के ग्रंथ आज भी तामिल भाषा में लिखित उपलब्ध हैं। दक्षिण में वसवराज, विज्ञानेश्वर, पूज्यपाद मंगराज, मन्थानभैरव आदि आचार्यों के संस्कृत ग्रंथ भी पाये जाते हैं। उनमें से वसवराज आदि लिखित दो एक ग्रंथों का हिंदी में भी अनुवाद किया गया है।

मलावार तथा कोचीन त्रावणकोर आदि प्रदेशों में विष-चिकित्सा पर कई एक ग्रंथ केरल तथा संस्कृत-मिश्र भाषा केरल में पाये जाते है। उनमें से *लक्षणामृत, उड्डीश, उत्पल, हरमेखला, नारायणीय, काल्वञ्च, काल्वचन, ज्योत्स्निका* तथा *प्रयोग समुच्चय* आदि ग्रंथ विशेष प्रसिद्ध हैं।

प्राचीन आयुर्वेद में ज्ञानोत्कर्ष का परिचय।

प्राचीन काल में आयुर्वेद के प्रत्येक अंग में कितनी उन्नति हुई थी इस पर नीचे विचार किया जाता है :—

उन दिनों में यह नियम था कि बिना शरीर-विद्या सीखे कोई चिकित्सा नहीं कर सकता, अतएव शल्य-तांत्रिक तथा काय-चिकित्सक दोनों को ही शरीर-विद्या सीखनी पड़ती थी। इसीलिये चरक में लिखा है :—

शरीरं सर्वथा सर्वं सर्वदा वेदयो भिषक्।
आयुर्वेदं स कार्त्स्न्येन वेद लोकसुखप्रदम्॥

केवल चरक तथा सुश्रुत ही क्यों वेद, वेदांग और यहां तक कि धर्मशास्त्रों में तथा पुराणों में भी शरीर-विद्या पर बहुत कुछ दिया हुआ है। इससे यही सिद्ध होता है कि उन दिनों में एक साधारण व्यक्ति भी कुछ न कुछ शरीर-विद्या जानता था। प्रश्न यह उठता है कि भारतवर्ष के बाहर प्राचीन काल में 'शरीर-विद्या' की क्या अवस्था थी? डा० पुशमैन (Dr. Puschmann) ने History of Medical Education में मध्यकाल में शरीर-विद्या की अवस्था पर लिखा है। उनका कहना है, "Dissection of the human subject was in the first centuries of the middle ages opposed by religious and political ordinances and also by social prejudices" अर्थात् यूरोप के मध्यकाल में मुर्दे की चीर-फाड़ करना धार्मिक, राजनैतिक यहां तक कि सामाजिक नियमों के विरुद्ध था।

आयुर्वेद के त्रिदोष-तत्व (वायु, पित्त, कफ) की सर्वदेह-व्यापी-क्षमता पर भी प्राचीन काल में विशेष आविष्कार हुआ था। आधुनिक काल में चूहा, बिल्ली और कुत्तों की परीक्षा कर जो तत्व ग्रहण किया जाता है उससे आयुर्वेद के रस, वीर्य विपाकादि निर्णय करने से अधिक लाभ होगा। द्रव्य का स्वाद, शरीर के भीतर द्रव्य-रस का परिणाम अथवा विपाक तथा रोगनाश करने की शक्ति पर प्राचीन आचार्यों की पहुंच खूब मार्के की थी। द्रव्य-गुण-सबंधीय जो परिभाषा आयुर्वेद में लिखित है यदि उसका अर्थ समझा जाय तो द्रव्य-गुण-शास्त्र की अच्छी जानकारी हो सकती है। द्रव्य-गुण की परीक्षा उस समय चिकित्सक पहले अपने ऊपर किया करते थे,—रोगियों पर बाद में, पर आज कल ऐसा कहां है ?

रस-शास्त्र-विज्ञान में आयुर्वेद-रस-तन्त्र की कितनी उन्नति हुई थी इस पर सर पी. सी. राय ने History of Hindu Chemistry में लिखा है। "रस-वैद्य-सम्प्रदाय" ने यह तत्व आविष्कार किया था कि पारा के साथ गंधक मिलाने से उसकी कार्यकारिणी-क्षमता और भी बढ़ जाया करती है और निडर होकर उसका उपयोग किया जा सकता है। पाश्चात्य चिकित्सक आज भी इस तत्व से अनभिज्ञ हैं परंतु एक साधारण वैद्य भी पारा-गंधक-मिश्रित कज्जली, पर्पटी, रस-सिंदूर, मकरध्वज आदि औषधिया बना सकता है, एवं सफलता के साथ उनका उपयोग भी किया करता है। इसके अतिरिक्त वैद्य मीठा-विष, रसमाणिक्य आदि विषाक्त औषधियों का भी सकौशल व्यवहार करते हैं। जहरीली दवाइयों को निर्दोष बनाने की प्रणाली आयुर्वेदीय-चिकित्सकों की तो मानो बपौती ही है। यह अत्युक्ति नहीं होगी कि डाक्टर मकरध्वज का प्रयोग तो किया करते हैं, पर वह शुद्ध है अथवा अशुद्ध क्या वे इसका निर्णय कर सकते हैं ? सोना, चांदी, लोहा, सीसा, दस्ता आदि को जलाकर उसकी दवाई बनाना प्राचीन काल से वैद्यों में चला आ रहा है। द्रव्य-समूह की रोग-निवारिणी-शक्ति का निर्णय बिल्ली-कुत्तों पर परीक्षा करने से नहीं हो सकता, उसके लिये सूक्ष्म-ज्ञान की आवश्यकता है, प्राचीन आचार्य इससे भली-भांति परिचित थे।

शल्यतन्त्र (चीर फाड़ Surgery) में भी आयुर्वेद की पहुंच कम नहीं थी। आवश्यकतानुसार हाथ काटना, पेट चीरकर विभिन्न अवयवों पर अस्त्राघात करना यहां तक कि गर्भाशय को भी टुकड़े टुकड़े कर डालना आदि कठिन विषयों पर भी सुश्रुतादि ग्रंथों में लिखा हुआ है। यंत्रों की उपयोगिता पर आयुर्वेद में जो श्रेणी विभाग किया गया है वह निराला ही है। स्वस्तिक, सन्दंश तालयंत्र, नाड़ी-यंत्र, शलाका-यन्त्र तथा उपयंत्र ऐसा श्रेणीविभाग आयुर्वेद का निजस्व ही है।

प्राचीन काल में युद्धक्षेत्र में वैद्यों का स्कंधावार (डेरा camp) कैसे स्थापित किया जाता था यह सुश्रुत-संहिता में दिया हुआ है। इसके अतिरिक्त दूषित-वायु शुद्ध करने के लिये वैद्यों के विभिन्न कार्यों का वर्णन भी उसमें मिलता है। यहां यह कहना निरर्थक नहीं होगा कि

प्राचीन काल में सांप-बिच्छू के अतिरिक्त पागल-कुत्तों का जहर परखना भी वैद्य जानते थे, उसे दूर करने का सवाल तो बांये हाथ का खेल था। कीट- शास्त्र (Entomology) भी आयुर्वेद का एक विशेष अंग ही था।

प्राचीन-काल की रोग-निर्णय-प्रणाली भी आधुनिक काल की सी थी। आजकल जैसे डाक्टर दर्शन, श्रवण, घ्राण तथा स्पर्श की सहायता से रोग निर्णय करने की चेष्टा किया करते हैं, प्राचीन काल में भी ऐसी ही प्रथा जारी थी। चरक का इन इंद्रियों पर लिखा हुआ वर्णन मिलता है। सुश्रुत में रसेन्द्रिय पर भी दिया हुआ है। केवल नाड़ी परख कर रोग पकड़ने की चेष्टा करना चरक-सुश्रुत में नहीं दिया है, यहां तक कि परवर्त्ती काल में भी वागभट्ट ने इस पर कुछ नहीं कहा है। शार्ङ्गधर-संहिता तथा भाव-प्रकाश आदि ग्रन्थों में नाड़ी-विज्ञान पर कुछ दिया हुआ है पर ऐसा कहीं नहीं पाया जाता कि केवल नाड़ी परख कर—कलाईपर अंगुली दबाये रहने से ही सबरोग पकड़े जा सकते हैं।

कोढ़, दमा, आंख-आना आदि कुछ रोगों का वर्णन भी प्राचीन-आयुर्वेद में मिलता है। अवश्य कीट ही कोढ़ादि रोगों के कारण हैं इसका पता भी उन दिनों में था। परंतु यह अवश्य स्वीकार करना पड़ता है कि आजकल इन रोगों की जितनी जानकारी हो सकी है वह अधिक ही है, तिसपर भी जबकि माइक्रासकोप (Microscope) का आविष्कार नहीं हुआ था सुश्रुत लिखते हैं :—

"रक्तवाहिसिरास्थाना रक्तजा जन्तवोऽणवः, षट् ते कुष्ठैककर्माणः"।

(अगले अंक में समाप्त होगा)

अनुवादक—कालिदास मुकरजी एम. ए. एम. आर. ए. एस.

सिकंदर ने व्यास नदी पार क्यों न की ?*

डा. एच. सी. राय, एम. ए. (कलकत्ता), पी. एच. डी. (लंदन) डी. लिट् (लंदन)

भारतीय-ज्ञान-विज्ञान में दिलचस्पी रखने वाले बड़े बड़े विद्वानों ने सिकंदर के भारत-आक्रमण पर अपना मन्तव्य प्रकट किया है। डा. व्ही. ए. स्मिथ (Dr. V. A. Smith) ने Early History of India में तथा इ. आर. बीव्हन (E. R. Bevan) ने Cambridge History of India में इस विषय पर विस्तृत आलोचना की है। डा. एच. सी. रायचौधरी ने Political History of Ancient India में सिकंदर-आक्रमण पर बहुत कुछ कहा है एवं इस विषय में उनके साथ मेरी राय मिलती जुलती है। इस लेख में मैं केवल इस प्रश्न पर विचार करूंगा कि सिकंदर व्यास नदी के तीर से क्यों लौट गया था।

३३४ ई. पू. में सिकंदर ३०००० पैदल तथा ४००० घुड़ सवारों[१] को लेकर हेलेसपांट पार कर गया। ३३१ ई. पू. की वसंत-ऋतु में मेसिडोनिया के सम्राट सिकंदर ने एकेमेनियन राजा को परास्त किया। एगियन सागर (Aegaeun Sea) से लेकर भारतवर्ष की छोर तक विस्तृत ईरानी-राज्य उस थोड़ी सी यूनानी (Greeks) सेनाकी जादूगरी देखकर थर्राने लगा। उनकी विविध-प्रचेष्टाये एवं लाखों की सेना व्यर्थ हुई। इसका कारण केवल यही हो सकता है कि यूनानी शिक्षा एवं सेनाध्यक्षता के सामने ईरानियों की कुछ न चल सकी[२]।

इस प्रकार ४९२ ई. पू. में मरडोनियस का हेलास (Hellas) आक्रमण जो कि ४८० ई. पू. में एथेन्स विध्वंस कर सर्वोच्च-शिखर पर जा पहुंचा था रुक गया। परंतु सिकंदर की तृष्णा इससे भी न मिटी। साफल्य के साथ साथ उसकी उत्सुकता एवं आकांक्षा बढ़ती ही गई।

---

* अलेकजेंडर (Alexander)। इस विषय में एक लेख एसियाटिक सोसाइटी (कलकत्ता शाखा) के जरनल में सन् १९२३ में छप चुका है।

१. कुछ लोगों का कहना है कि ४२००० पैदल और ५००० घुड़सवार थे। देखिये Bernadotte Perrin's Plutarch's Lives Vol. VII P 261.

२. प्लुटार्क के अनुसार डेरियस (Dareius) गागमेला में एक लाख की सेना लेकर सिकंदर से भिड़ा।

संपूर्ण एशिया को जीतकर डायोनिशस, हीराक्लस, सेमिरामिस तथा कुरस१ (Curus) आदि के कल्पना-मूलक महाव-कार्यों को भी वह तुच्छ दिखलाना चाहता था—यों ही नहीं, बल्कि भारतवर्ष को जीतकर। इसलिये सिकंदर ३२७ ई पू. की बसत ऋतु में हिंदूकुश पार कर इस देश की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर आ पहुंचा। राह में आते समय उसे बहुत योद्धादि और आ मिले थे एवं प्लुटर्क (Plutarch) के अनुसार भारतवर्ष आक्रमण करने के पहले दिन शाम को उसकी सेना में १२०,००० पैदल और १५००० घुड़सवार थे। भारत आक्रमण-प्रसंग से मानवों के साथ ही साथ देवों की नेकनामी पर भी धब्बा पड़ा। सम्भवतः एक भीषण दुर्धर्ष-दल का सामना करना पड़ेगा समझकर ही सिकंदर को अपनी सेना बढ़ानी पड़ी थी।

इस तरह आक्रमण करने के लिये वह आगे बढ़ा। कठिनाई से रास्ता तय करता हुआ वह ओहिन्द आ पहुंचा। फिर सिंधु नदी तथा झेलम (Hydaspes) पारकर उसकी मुठभेड़ हुई पुरु-राज (पोरस) के साथ। पोरस हार गया। तदनंतर सिंधु की और दो सहायक नदियों को पारकर ३२६ ई. पू. की सितम्बर में वह व्यास-नदी के किनारे आ पहुंचा। उसके लिये हिंदुस्थान-आक्रमण कर लौटने का स्थान यहीं से था, क्योंकि इतिहासकारों ने कहा है कि उसकी सेना बलवा मचायी और आगे बढ़ने के लिये उन्होंने साफ नाहीं कर दी। अरियन (Arrian) का कहना है कि व्यास के उस पार हिंदू वीरों की चर्चा सुनकर सिकंदर की तृष्णा और भी बढ़ गई और वह आगे बढ़ना चाहा, परंतु लाचार था—यूनानी सेना इसके लिये राजी न थी२। सिकंदर की वक्तृता, धमकी यहां तक कि जबरदस्ती करने का परिणाम था सेना की हिचकिचाहट, असंतोष एवं आंखों से गरम-बूंदों की धारा। किन्तु ऐसी परिस्थिति में यूनानियों का असंतोष—हो न हो दाल में कुछ काला अवश्य था।

किन्तु यूनानियों के असंतुष्ट होने का कारण क्या था? उस समय की एक तिहाई सेना की सहायता से उन्होंने एक भारी ईरानी-सेना का छक्का छुड़ाया था। मेसिडोनिया से निकलकर उन्होंने प्रायः सम्पूर्ण दक्षिण-पश्चिमी एशिया को अपने कब्जे में कर लिया था—यही नहीं आफ्रिका का एक विस्तृत-अंश उस यूनानी-सम्राट के सामने सिर झुकाये खड़ा था, और उस समय व्यास नदी के किनारे वह विजयी सेना विश्राम कर रही थी। ऐसा हो सकता है कि कई घमसान युद्धों के बाद परिश्रांत होकर यूनानी सेना घर लौटना चाहती थी। पर क्या बलवे का एक मात्र कारण यही था?

व्यासनदी के किनारे सिकंदर ने अपनी सेना को जो वक्तृता दी थी उसमें एक

---

१. McCrindle's Ancient India, सिकंदर का आक्रमण पृष्ठ ७०, ८२, १९४, १७३, २४६.

२. McCrindle's Ancient India, पृष्ठ १२१

जगह उसने कहा था, "हे यूनानी योद्धा मैं यह अच्छी-तरह जानता हूं कि कुछ दिनों से भारतवासियों ने झूठी-खबर फैलाकर तुम लोगों में भीति-जाग्रत की है"१। परंतु यह "झूठी-खबर" कौन सी थी ? यूनानी सेना यह अच्छी तरह जानती थी कि भारतवर्ष को जीतना टेढ़ी खीर है—इसी भारत ने कुरुस और सेमिरामिस जैसे दिग्विजयी की क्या हीराक्लस और डायोनिसास जैसे कल्पना-मूलक देवों का भी छक्का छुड़ाया था। परंतु उस समय ऐसी झूठी खबरों का फैलाया जाना सम्भव नहीं था। हो न हो यह झूठी-खबर व्यास के उसपार के राज्यों की थी। यूनानी डेरों में जो व्यक्ति आ पहुंचे थे अब हम उनकी कथन की जांच करते हैं।

अरियन (Arrian) का कहना है कि व्यास के उसपार के लोग वीर थे तथा वहां की राजनीति भी अच्छी थी। कर्टियस (Curtius) और डायोडोरस (Diodorus) कहते हैं कि सब जातियों में शूर वीर गंगा तट और प्राच्यके लोग थे। सिकदर को इसका पता लग चुका था कि वहांका राजा अग्रामिस (Xandrammes) अपने देशकी सीमा रक्षा करने के लिये २०००० घुड़ सवार, २००००० पैदल, २०००रथ, तथा ३००० हाथी हमेशा तैयार रखता था२। उसे यह समाचार व्यास तीर के भागल (Phegcus) राजा ने दी थी। वह आत्मसमर्पण कर चुका था। सिकन्दरने उसकी बात का विश्वास नहीं किया, किन्तु जब पौरव राजा ने भी यही कहा तब उसे विश्वास हुआ। परतु सिकन्दर जैसे शूर-वीर का अविश्वास करने का कारण क्या है ? इसका उत्तर प्लुटर्क ने यों दिया है३ :—

"पोरस के साथ जो लड़ाई हुई थी उससे यूनानियों को धक्का पहुंचा—वे सहम गये और हिंदुस्थान में आगे बढ़ने के लिये उन्होंने साफ नाहीं कर दी। पोरस को हराने में उन्हें लोहे के चने चबाने पड़े थे और उस समय उनके पास कुल २०००० पैदल तथा २००० घुड़सवार बचे थे। इसी लिये जब सिकदर गंगा के उस पार तक जाना चाहा तब यूनानियों ने आपत्ति की"। इसके अतिरिक्त वह यह भी कहता है कि गंगा-तटके अधिवासी (Gandaritai) तथा प्राच्य (Prasii) के राजा सिकंदर से भिड़ने के लिये ४०००० घुड़ सवार, २००००० पैदल, ४००० रथ और ८००० हाथियां लेकर बाट जोह रहे थे। सेनाकी इस संख्यामें अत्युक्ति नहीं है क्योंकि वहांके राजा चन्द्रगुप्त [Androkottas] ने, जो कि ६००,००० की सेना लेकर राज्य किया करता था, और जिसने कि सारा भारतवर्ष जय किया था, कुछ दिनों के ही बाद सेल्युकसको ५०० हाथी भेंट दी थी४। इस विषय में पुराण ने भी

---

१. McCrindls's Ancient India पृष्ठ २२१.

२. Ibid पृष्ठ २२१-२२ तथा पृष्ठ २८१-८२। डायोडोरस के अनुसार ४००० हाथी थे ;

३ McCrindle's Ancient, India पृष्ठ ३१०.

४. Pargiter, Kali Age, पृष्ठ २३-२६

कारमाइकल लैक्चर्स सन् १९१८, पृष्ठ ८४-८६

उग्रसेन महापद्म और उनके वंश के बारे में जो कहा है यह उससे मिलती जुलती है। इस प्रसंग की पुष्टि डायोडोरस सिकुलस (Diodorus Siculus) की वार्ता से होती है, वह लिखता है, "दक्षिणी देशों में से काकेशस के नीचे हिन्दुस्थान है। यह देश अपनी विस्तृति एवं जन-संख्या के लिये प्रसिद्ध है। इस देश में कई जाति के लोग रहते हैं उनमें गदरितइ के राजा की विशेष ख्याति है। सिकंदर ने उससे लोहा न लिया। उसके हाथियों को देखकर वह घबड़ा गया" ।

इन कथनों से व्यास-तीर में यूनानियों के बल्वे का कारण स्पष्ट है। नंद-राजा की कीर्ति-वार्ता उनके डेरों में पहुंच चुकी थी—परतु यही एक मात्र कारण नहीं हो सकता। प्लुटर्क के कथनानुसार यह स्पष्ट है कि पोरस को हराने मे यूनानियों को लोहे के चने चबाने पड़े थे, इसी लिये आगे बढ़ने में उन्होने नाहीं की थी। सिकन्दर ने सहज ही एकेमेनियन राजा को परास्त किया था किन्तु उन दिनों में हिंदुस्थान में केवल नदो का राज्य ही नहीं था, बल्कि और भी कई छोटे छोटे पराक्रमी राज्य थे। पोरस से भिड़कर सिकदर हिंद्-वीरता परख चुका था—ईरानियों को पराजित करना उसके लिये बांये हाथ का खेल था परतु हिंदुओं से दुबारा भिड़ने के लिये उसकी सेना राजी नहीं थी —और यही था उस बल्वे का कारण। मसागा (Massaga) की लड़ाई मे गिरे हुए योद्धाओं के हाथों से अस्त्र छीनकर स्त्रियों ने यवनों को मार भगाने की चेष्टा की थी—नौ जगह चोट खाकर भी पोरस लड़ता रहा—इन्हीं सब कारणों से यूनानियों ने भारतवासियों को छेड़ना उचित न समझा—व्यास पार करने की बात तो कोसों दूर रही। यूनानी डेरों में नद-राजा की चर्चा के साथ ही साथ यूनानी-योद्धाओं की क्लान्ति की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है। यदि सिकदर सचमुच ही आगे बढ़ता तो उसकी क्या अवस्था हुई होती?—सम्भवतः पुल्तावा (Pultawa) की लड़ाई के बाद द्वादस-चार्ल्स (Charles XII) की जो दशा हुई थी, अथवा मास्को (Moscow) जीतने के बाद नेपोलियन की परिस्थिति का सामना सिकदर को भी करना पड़ता।

---

१. McCrindle's Ancient India, as described in classical Litt. पृष्ठ २०१

हमारी संस्कृति के बारे में विदेशी क्या कहते हैं ?

डाक्टर डी० आर० भण्डारकर

हममें से कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जिनका कहना है कि इतिहास बहुत ध्यान देने योग्य विषय है और बिना इसके पढ़े किसी की शिक्षा उदार तथा पूरी नहीं कही जा सकती। पर वे पूछते हैं कि भारतीय-इतिहास में चाहे वह मुसल्मानों के समय का हो या उनके पहले का, क्या कुछ सीखने लायक है ? अगरेजों के जीतने के पहले हिन्दुस्तान में था ही क्या ? क्या यहां पर बर्बरता फैली हुई न थी ? हिन्दुस्तान ने दुनिया की सभ्यता (Civilisation) में क्या कुछ योग दिया है ? दूसरी ओर यूरोप और अमेरिका को देखिये। श्वेतद्वीप (यूरोप) के विभिन्न देश संस्कृति के शिखर पर पहुंच गये हैं। क्या वे आफ्रिका और एशिया के गुरु के रूप में संसार के सामने खड़े नहीं हैं ? इसीलिये यूरोप और अमेरिका के ही इतिहास शिक्षाप्रद और मनभावने हो सकते हैं। हमें उन्हीं का इतिहास पढ़ना चाहिये। भारतीय इतिहास में रखा ही क्या है ? पिछली पीढ़ी के बहुत से हिन्दुस्तानी हठ के साथ इसी विचार पर डटे थे। अब उनकी संख्या कम हो रही है पर अभी ऐसे व्यक्ति वर्तमान हैं, और कभी कभी वे हमारा ध्यान जबरदस्ती अपनी ओर खींच लेते हैं। एक भारतीय विश्व-विद्यालय में ही एक शिक्षित भारतीय ने प्राचीन संस्कृति और इतिहास के विभाग को, जो कि पहले खुल चुका था और ठीकसे चल रहा था, अपव्यय के कारण बन्द करने के लिये प्रस्ताव पेश करने की कोशिश की थी। ऐसे तर्क उनके अक्षम्य अज्ञान को ही प्रकट करते हैं। उन्हें शिक्षित किस तरह कहा जाता है इस पर चकित हुये बिना नहीं रहा जाता। अब सारे यूरोप में यह बात मान ली गई है कि भारतीय इतिहास ने संसार के इतिहास को और ख़ास कर पूर्वी एशिया के इतिहास को बहुत कुछ दिया है। इस विषय पर अच्छी तरह विचार करने का न तो समय ही है और न स्थान ही। हिन्दू सभ्यता धीरे धीरे पूर्वी एशिया याने तिब्बत, चीन, जापान, गङ्गापार के प्रायद्वीप और हिन्दुस्तानी द्वीप-समूह (Archipelago) में फैल गई थी। तिब्बत, चीन और जापान ने केवल बुद्धधर्म ही नहीं, बौद्धों की कला और तत्त्वज्ञान भी अपना लिया था। हिन्दुओं के ब्रह्मा शब्द का ही अपभ्रंश बर्मा है और कम्बोडिया तथा जावा संस्कृत के कम्बोज और यव ही हैं। श्याम की पुरानी राजधानी का नाम अयोध्या था और अनाम की राजधानी चम्पा थी। इन देशों का धर्म, नीति और राजनैतिक संस्थायें सब हिंदू ही थीं। मन्दिर और पगोडा के जो खंडहर इन देशों में जहाँ तहाँ फैले हैं, उन सब की बनावट और उनमें चित्रित लिपियां या तो बौद्ध हैं या ब्राह्मणों की, दोनों तरह से हिंदू ही हैं। क्या इसके बाद भी इसमें कुछ संदेह रह जाता है कि उन्होंने अपनी संस्कृति और सभ्यता हिन्दुस्तान से ली थी ? हिन्दुस्तान की उत्तर-पूर्वी सीमा प्रान्तों में जो हुआ था वही उत्तर-पश्चिम

में भी हुआ। चीनी तुर्किस्तान या खोतान में सर औरेलस्टाइन द्वारा की गई खुदाई में सैकड़ों सरकारी और मामूली कागजात मिले हैं। उनकी आलोचनात्मक अध्यन से पता लगता है कि वहाँ का प्रचलित धर्म बिना किसी सन्देह के बौद्ध ही था, इस विषय की बहुत सी हाथ की लिखी प्रतियाँ वहाँ मिली हैं। यही नहीं, इनमें से बहुतों की लिपि भी खरोष्ट्री है और भाषा भी हिन्दुस्तान में ईसवी सन् की शुरूकी शताब्दियों में प्रचलित प्राकृत ही है। इस प्रकार खोतान के निवासियों ने उस समय केवल धर्म ही नहीं, भाषा और लिपि जैसे सभ्यता के दूसरे तत्व भी हिन्दुस्तान से लिये थे। भारतवासी उपनिवेश में ही कुशल नहीं थे, वे एशिया में अपने आसपास के देशों के शिक्षक और सभ्यता-विधायक भी बने थे। इससे यह न समझना चाहिये कि पश्चिमी एशिया में खोतान ही पर हिन्दुस्तान का प्रभाव पड़ा। ऐसे अनेक विषय हैं जिनमे हिन्दुस्तान का प्रभाव एशिया ही नहीं यूरोप के देशोंपर भी पड़ा था। उन सब का यहां वर्णन करना निरर्थक है। यूरोप के निरपेक्ष विद्वानों ने थेरापुट (Therapeutae) और एसेनेस (Essenes) के यहूदी धर्म पर तथा ईसवी सन् के शुरू में ईसाई मत पर बौद्ध धर्म का प्रभाव मान लिया है। पश्चिम में बौद्धों का प्रभाव तब और भी गहरा और प्रबल हो गया जब एक ईसाई भिक्षु ने 'बर्लाम और जोसफ' (Barlaam and Joasaph) नाम की किताब लिखी थी। मध्ययुग में सब ईसाई देशों में यह कथा अत्यन्त लोक-प्रिय थी। बोधिसत्व का अपभ्रंश हुआ बुधासफ, उससे जुदासफ हो गया और जोसफ तथा जुदासफ में कुछ अन्तर नहीं रहा। इसी बोधिसत्व को रोम के कैथोलिक गिरजे ने ईश्वर का अंश मान लिया था, यह हमें मालूम ही है। सब प्रसिद्ध विद्वानों ने यह बात मान ली है कि संसार के पशु-पक्षी-सम्बन्धी कथा-कहानियों की उत्पत्ति का एकमात्र कारण हिन्दुओं की अनोखी बुद्धि ही है। इस कथा साहित्य का बालकों और युवकों को शिक्षा देने के साधनों में महत्त्वपूर्ण स्थान है और यह यूरोप और अमेरिका के कोने कोने में पहुंच चुका है। किसी राजकुमार को नीति शिक्षा नीतिपूर्ण कविता में देने का मूल विचार हिन्दुओं के मस्तिष्क की ही सूझ है।

यह कहा जा सकता है कि सम्भवतः भारतवासियोंने प्राचीन काल में दूसरोंसे अधिक सभ्यता प्राप्त कर ली थी और अपने बर्बर पड़ोसियोंमें संस्कृति फैलानेमें ऐक बड़ा भाग लिया हो, लेकिन यूरोप और अमेरिकाकी आधुनिक सभ्यताके सामने उसकी पुरानी सभ्यता क्या की ? क्या उसकी संस्कृतिमें कोई ऐसी वस्तु है जो श्वेतद्वीपकी किसी जातिने ग्रहण किया हो, या उसके ग्रहण करने लायक हो। यह बताना ही कि यूरोपके निवासियों का हिंदू-सभ्यता और संस्कृति के बारे में क्या विचार है, इस प्रश्न का सबसे ठीक उत्तर होगा। उस देश के विद्वानों में सुयोग्य मैक्समूलर हैं, जिन्होंने संस्कृत भाषा, उसके साहित्य और हिंदू धर्म के बारे में बहुत कुछ लिखा है। ५६ साल पहले हिन्दुस्तानी सिविल-सर्विस के उम्मीदवारों को केम्ब्रिज विश्व-विद्यालय की ऐतिहासिक अध्ययन की समिति के आमन्त्रण पर व्याख्यान देते हुये उन्होंने हिन्दुस्तानके बारे में क्या कहा था वह नीचे दिया जाता है :—

"Whatever sphere of the human mind, you may select for your special study, whether it be language, or religion, or mythology, or philosophy, whether it be laws or customs,......everywhere, you have to go to India, whether you like it or not, because some of the most valuable and most instructive materials in the history of man are treasured up in India, and in India only."[1]

अर्थात् "मनुष्य की बुद्धि की पहुंच के भीतर यदि कोई विषय अपने विशेष अध्यन के लिये चुना जाय, चाहे वह भाषा हो या धर्म, पुराण-विज्ञान हो अथवा दर्शन शास्त्र, कानून हो या रीति-रिवाज, हर एक विषय के अध्ययन के लिये, इच्छा हो अथवा नहीं, तुम्हें हिन्दुस्तान की शरण लेनी होगी। क्योंकि मनुष्य के इतिहास की सबसे बहुमूल्य और उपदेशपूर्ण सामग्री का खजाना केवल हिन्दुस्तान में ही है।"

इसका प्रत्येक शब्द ठीक है। यह अच्छी तरह मालूम है कि भाषा-विज्ञान और धर्म-विज्ञान उत्पत्ति के लिये नहीं तो अपने विकास के लिये अवश्य ही संस्कृत के अध्ययन और धार्मिक विचारों के मनन के ऋणी हैं। इस डर से कि हिन्दुस्तानी कहीं पुराने हिन्दुस्तान की आवश्यकता से अधिक प्रशंसा न कर दे हम मैक्समूलर की ही राय देते हैं :—

"No country can be compared to India, as offering opportunities for real study of the genesis and growth of religion .... What we can watch and study in India better than anywhere else is, how religious thought and religious language arise, how they gain force, how they spread, changing their forms as they pass from mouth to mouth, from mind to mind, yet always retaining some faint contiguity with the spring from which they rose at first. I do not think therefore that I am exaggerating when I say that the sacred books of India offer for a study of religion in general, and particularly for the study of the origin and growth of religion, the same peculiar and unexpected advantages which the language of India, Sanskrit, has offered for the study of the origin and growth of human speech. It is no longer denied that for throwing light on some of the darkest problems that have to be solved by the student of language, nothing is so useful as a critical study of Sanskrit. I go further, even, and maintain that, in order to comprehend fully the ways and means adopted by other languages, nothing is more advantageous than to be able to contrast them with the proceedings of Sanskrit."[1]

"धर्म की उत्पत्ति और उसके विकास को समझने में किसी भी देश की तुलना हिन्दुस्तान से नहीं की जा सकती। दूसरे देशों की अपेक्षा यहां जो बात हम अच्छी तरह देख सकते हैं, वह यह है कि धार्मिक विचार और भाषा की उत्पत्ति किस तरह होती है वे कैसे जड़ पकड़ते और फैलते हैं, कैसे वे मनुष्यों की बातचीत से, उनकी बुद्धि के संसर्ग से, रूप बदलने पर भी हमेशा अपने मूल रूप से धुंधली समानता बनाये रखते हैं। मेरे इस कथन में थोड़ी भी अत्युक्ति नहीं है कि यहां की धार्मिक पुस्तकों में धर्म की उत्पत्ति और विकास के वही अनूठे और अचिन्तित अवसर मिलते हैं जो यहां की भाषा संस्कृत ने मनुष्य की बोली के उद्गम और विकास के अध्ययन के लिये उपस्थित किया है।"

"इससे अब सब सहमत हैं कि भाषा के विद्यार्थी को जो कठिन से कठिन समस्याएं सुलझानी होती हैं उसमें संस्कृत भाषा के समालोचनात्मक अध्ययन से बढ़ कर और किसी से इतनी मदद नहीं मिलती। मैं तो यहां तक कहूंगा कि दूसरी भाषाओं ने जो ढंग स्वीकार किये हैं उनको अच्छी तरह समझने में संस्कृत के प्रभाव से उनका विरोध दिखाने के योग्य होने से बढ़ कर अधिक लाभदायक कुछ भी नहीं है।"

हिंदू तत्त्व-ज्ञान को ही लीजिये। कहा जाता है कि १८२९ में ही तत्त्वज्ञान के सबसे बड़े ऐतिहासिक विक्टर कज़िन ने यह कहा था :—

"When we read with attention the poetical and philosophical monuments of the East, above all, those of India which are beginning to spread in Europe, we discover there many a truth, and truths so profound, and which make such a contrast with the meanness of the results at which the European genius has sometimes stopped, that we are constrained to bend the knee before the philosophy of the East, and to see in this cradle of the human race the native land of the highest philosophy."

"जब हम पूर्व के और विशेष कर हिन्दुस्तान के तत्त्वज्ञान और काव्य के उन ग्रन्थों को, जो अब यूरोप में भी फैल रहे हैं, ध्यान से पढ़ते हैं, तो हमें कई गम्भीर तथ्य मिलते हैं। ऐसे तथ्य जिनके समक्ष उन परिणामों की तुच्छता प्रकट होती है जिन पर यूरोप की प्रज्ञान बुद्धि (Genius) पहुंच कर अटक गई है। इस महान् अन्तर को देखकर हमारा सिर अपने आप पूर्व के इस अद्भुत तत्त्वज्ञान के सामने श्रद्धा से झुक जाता है। और हम मानव की इस जन्म-भूमि को सबसे ऊंचे तत्त्वज्ञान का असल उद्गम-प्रदेश मानने के लिये बाध्य हो जाते हैं।"

उपनिषद् के बारे में जो 'मनुष्यमात्र के आध्यात्मिक ज्ञान की सबसे ऊंची उड़ान हैं, जर्मनी के तत्त्वदर्शी शोपेनोर का कहना है :—

Oh? how thoroughly is the mind here washed clean of all early grafted Jewish superstitions and of all philosophy that cringes before these superstitions. In the whole world there is no study, except that of the originals, so beneficial and so elevating as that of the Upanishads. It has been the solace of my life, it will be the solace of my death."

"यहां हमारे चित्त का वह समस्त यहूदी अंधविश्वास, जिसे वहां जमा दिया गया था, और वह तत्त्वज्ञान जो उस अंधविश्वास का दास है, सम्पूर्णरूप से धोकर बहा दिया जाता है। सारे संसार में उपनिषदों के अध्ययन को छोड़कर इतना लाभदायक और चित्त को ऊंचा उठा देने वाला, मूल पुस्तकों के सिवाय और किसी ग्रन्थ का अध्ययन नहीं है। यह अध्ययन मेरे जीवन का सहारा रहा और यही मेरी मृत्यु का सहारा होगा।"

इन अन्तिम शब्दों में कितना सुन्दर और हृदयग्राही भाव भरा है। मैक्समूलर ने भी बड़े चाव से इसका अनुमोदन करते हुये कहा है :—

"If philosophy is meant to be a preparation for a happy death, or Euthanasia, I know of no better preparation for it than the Vedānta Philosophy[1]"

"अगर शान्तिपूर्वक मृत्यु की तैयारी ही तत्त्वज्ञान का तात्पर्य है तो मैं वेदान्त दर्शन को छोड़ कर इस तैयारी के और किसी दूसरे ढंग को नहीं जानता।"

भगवद्गीता के विषय में भी यही कहा जा सकता है। वह भी उपनिषदों की तरह ही विश्वसाहित्य का अंग हो गई है। चार्ल्स विल्किन्सने १७८५ में पहले पहल इसका अंग्रेजी में अनुवाद किया था। वारेन हेस्टिंग्ज़ जैसे नीति-निपुण का नेथानियल स्मिथ को लिखा हुआ पत्र इस अनुवाद की भूमिका में छपा है, जिसमें वे लिखते हैं :—

"Works like Bhagavadgītā will survive when the British dominion in India shall have long ceased to exist, and when the sources which it once yielded of wealth and power are lost to remembrance."

"भगवद्गीता जैसी कृतियाँ संसार में तब भी बनी रहेंगी जब हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी राज्य की इति हो जायगी, और जब सम्पत्ति और शक्ति के जो उपकरण हिन्दुस्तान ने दिये हैं वे विस्मृति के अंधकार में खो जायंगे।"

भगवद्गीता का अंगरेज़ी और जर्मन में बराबर अनुवाद होता रहा। जर्मन लेखक विल्हम

---

1. The Vedanta Philosophy, p. 8.

फोन हमबोल्ट ने कहा है "सबसे गम्भीर और ऊँची वस्तु जो संसार ने अभी तक देखी है वह यही है।" अपने एक मित्र को उसने लिखा था कि जब पहली बार उसने यह पुस्तक पढ़ी तो वह ईश्वर को धन्यवाद दिये बिना न रह सका, क्योंकि ईश्वर ने इस सुअवसर तक उसको जीवित रखा था।

यह भी कहा जा सकता है कि हिन्दुस्तान तत्त्वदर्शियों की जन्मभूमि है, उसके तत्त्वज्ञान ने यूरोप के विद्वानों को अगर मुग्ध कर लिया तो इसमें आश्चर्य क्या है? प्रश्न यह है, क्या इसके साधारण साहित्य में भी कुछ विचित्रता है, जिसने वहां के साहित्यिक विचारों पर अपना असर डाला हो या उन्हें आकृष्ट किया हो? मुझे भय है कि यूरोप के साहित्यिक व्यक्तियों पर संस्कृत साहित्य के प्रभाव का विस्तृत-वर्णन बहुत बड़ा और क्लेशजनक होगा। इसलिये एक दो उदाहरण ही बहुत होंगे। यूरोप में शायद ही कोई शिक्षित व्यक्ति ऐसा हो जिसने कालिदास की सबसे सुन्दर कृति 'शकुन्ला नाटक' का नाम न सुना हो। हमें मालूम है कि जर्मनी का कवि गेटे (Goethe) किस तरह इसका अनुवाद पढ़ कर नाच उठा था और खुशी के मारे यह कविता बिना प्रयास के ही उसके हृदय से उमड़ पड़ी थी:—

"Wouldst thou the young year's blossom
and the fruit of its decline,
And all by which the soul is charmed
Enraptured, feasted, fed,
Wouldst thou the Earth and Heaven itself
In one sole name combined,
I name thee, O Śakuntala, and all at once is said.

इसका तात्पर्य यह है कि गेटे की सम्मति में पृथ्वी और स्वर्ग इन दोनों में सर्वोत्तम वस्तु शकुन्तला है, इस नाम में ही इस ससार की सब सुन्दर वस्तुओंका समागम है। कालिदासकी इस कृतिका गेटे के मस्तिष्क पर इतना गहरा और अमिट प्रभाव पड़ा था कि कहते हैं शकुन्तला नाटक की प्रस्तावना ने उसे 'फौस्ट' की भूमिका का ढांचा सुझाया था। कालिदास के प्रत्येक नाटक और शुद्रक का मृच्छकटिक यूरोप के रंगमंच के अनुकूल बनाये गये हैं और खेले जाने पर उन्हें देखने को जनता बहुत बड़ी संख्या में आती भी रही है। इसके अतिरिक्त पंचतन्त्र और हितोपदेश भी इंगलैण्ड में पढ़े जाते हैं। इन संस्कृत की पुस्तकों में कई सुभाषित या लोकप्रिय श्लोक हैं जिनमें एक आन्तरिक विशेषता रहती है। एक ऐसे ही श्लोक का जिसमें इस अनित्य जीवन का वर्णन है अंगरेजी में यों अनुवाद हुआ है:—

"And on the mighty Ocean's waves
Two floating logs together come,

And having met for ever part :
So briefly joined are living beings."

संस्कृत का श्लोक यह है—

" यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ।
समेत्य च व्यमेयातां तद्वत् भूतसमागमः।"

जैसे समुद्र में बहते हुए दो लकड़ी के टुकड़े एक क्षण के लिए एक दूसरे से आ मिलते हैं और लहर से टकराते ही फिर अलग हो जाते हैं वैसे ही मनुष्यों का मिलन हुआ करता है ।

क्या कभी कोई सोच सकता था कि इन पक्तियों का प्रभाव एक अगरेज़ कवि के चित्त पर भी पड़ सकता है ? मैथ्यू-आरनोल्ड ने अपनी पुरानी प्रेयसी की याद में जो हृदयविदारक पक्तियां लिखीं हैं, उनमें हम यही भाव पाते हैं। ये पक्तियां "Terrace at Bernes" शीर्षक कविता में दी गई हैं:—

'Like driftwood spars, which meet and pass,
Upon the boundless ocean-plain,
So on the sea of life, alas !
Man meets man—meets, and quits again.'

चाहे हम प्राचीन काल को ही लें या आधुनिक को, हम देखते हैं कि हिन्दुस्तान ने केवल अपने पड़ोस के देशों में ही नहीं परन्तु सुदूर पूर्व और पश्चिम में भी अपना असर डाला है। कोई निष्पक्ष विद्वान् या ऐतिहासिक कभी यह अस्वीकार नहीं कर सकता कि हिन्दुस्तान का गहरा प्रभाव एशिया और यूरोप में हमेशा नहीं पड़ा है। इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन काल में हिन्दुस्तान गुरु और सभ्य बनाने वाला दोनों ही था। आजकल भी यूरोप और अमेरिका जैसे देशों के लिए जो सभ्यता की शिखर पर पहुंच चुके हैं, भारतीय विचार-धारा और सस्कृति का गहन अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। मैक्समूलर का कहना है—

"And if I were to ask myself from what literature we here in Europe—we who have been nurtured almost exclusively on the thoughts of the Greeks and the Romans, and of one Semitic race, the Jewish—may draw that corrective which is most wanted in order to make our inner life more perfect, more comprehensive, more universal,, in fact, more truly human a life, not for this life only, but a transfigured and eternal life—again I should point to India."

" अगर मुझसे पूछा जाय कि यूरोप के रहने वाले हम लोगों को, जो यूनानी और रोम के

निवासियों तथा यहूदियों के विचारों में ही पले हैं, किस साहित्य से वह शोधक वस्तु मिल सकती है, जिससे हमारा आन्तरिक जीवन और अधिक पूर्ण, बहुग्राही, विश्वजनीन और सचमुच ही एक मनुष्य का जीवन, केवल इस जन्म में ही नहीं पर एक रूपान्तरित और सनातन जीवन बन जाय, तो मैं फिर हिन्दुस्तान का ही नाम लूंगा।"

जब भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का इतना गौरव एक यूरोपवासी की दृष्टि में है तो हमारे देशवासियों के लिए यह पूछना—जैसा कि बहुत से अब भी पूछ बैठते हैं, कि हिन्दुस्तान का इतिहास पढ़ने से क्या लाभ, बिलकुल बचपन और अज्ञानता सूचित करता है। जो यह प्रश्न पूछते हैं उन्हें इतिहास के कर्तव्य का कुछ ज्ञान नहीं है। एक ऐतिहासिक से क्या सीखने की हम आशा कर सकते हैं? हिन्दुस्तान के इतिहास लेखक को क्या बताना चाहिए? इन सब सवालों का सीधा सा जवाब है कि वह हमें बताये—हम इस अवस्था में कैसे पहुचे? कैसे हमने इतनी उन्नति कर ली? उसे चाहिये कि हमें पहुंचे के सब आवश्यक हाल चाल बतलावे। हमारी नसों में कैसा खून है, हमारे सिर का ढांचा कैसी हड्डियों का बना हुआ है, हमने अपने पूर्वजोंसे किस तरह का मस्तिष्क और साहस पाया है? इन सब बातोंसे हमें परिचित कराना उसका कर्तव्य है। अगर हम एक पढ़े लिखे अंगरेज से ऐसा प्रश्न करें तो वह फौरन बतला देगा कि वह अपने बुद्धिमान् पूर्वजोंका—चाहे वे यूनान, रोम, जर्मनी या फिलस्तीन में रहे हों, कितना ऋणी है। यदि किसी हिन्दुस्तानी से यही प्रश्न पूछा जाय तो वह आधुनिक यूरोपवासी की बुद्धिसम्बन्धी वंशावली सम्भवतः बता देगा, लेकिन अपनी बुद्धि-सम्बन्धी और आध्यात्मिक पैतृक सम्पत्ति के बारे में कुछ न कह सकेगा। क्या ऐसे हिन्दुस्तानी शिक्षित व्यक्ति कहलाये जा सकते हैं, ऐसा व्यक्ति जिसने पक्षपातहीन और उदार शिक्षा पाई है? तब भी बहुत से हिन्दुस्तानियों का इस विषय का ज्ञान, कि उन्होंने कौन से प्राचीन विचार, सामाजिक संस्थायें, नैतिक और धार्मिक विचारधारायें अपने पूर्वजों से पाई हैं, नही के बराबर है। इसका यह मतलब नहो कि शिक्षित हिन्दुस्तानियों को पुराने हिन्दुस्तानके बारे में अनावश्यक, गौण और अप्रिय विवरणों से अपना मस्तिष्क भर लेना चाहिये। उन्हे कनिष्क या भास का ठीक समय जानने की ज़रूरत नहीं। यह समय-निर्धारित करने वालों का काम है। हमें इन बातों का निर्णय करने के लिये माथापच्ची करने से क्या लाभ कि राष्ट्रकूट वंश का ध्रुव अपने पिता कृष्ण के बाद ही गद्दी पर बैठा या अपने बड़े भाई गोविन्द द्वितीय को हटा कर, अथवा पाल राजवंश के विग्रहपाल तृतीय से जिस कालचूरी राजकुमारी का विवाह हुआ था, उसका नाम क्या था? वंशक्रम निर्धारित करने वाले और लिपिविज्ञ पर इस के निर्णय का भार छोड़ दिया जा सकता है। समुद्रगुप्त ने कितनी तरह के सिक्के चलाये, इससे हमें क्या? यह तो मुद्रान्वेषी का काम है। हमारा असली सम्बन्ध तो इस प्रश्न से है कि हम कैसे और क्यों इस पद पर पहुंचे हैं, हमारी बौद्धिक और आध्यात्मिक

वंशावली क्या है ? जब हम यह जान जांय कि हमारे पूर्वज कौन थे और उन्होंने हमारे लिये क्या-क्या किया था, तभी अपने पीछे होने वालों के प्रति अपने कर्तव्यका ज्ञान भी हमें हो सकता है। हमें यह अवश्य जानना चाहिये कि मनुष्यमात्र की भलाई और विश्व की भलाई, ये दोनो हिन्दुस्तान के आदर्श कैसे बने ? हिन्दुस्तानी क्या राजनैतिक विचारों और कार्यों से शुरू से ही विमुख थे, क्या उन्होंने कभी राजनैनिक विचारों और व्यवहारों का विकास किया था, अगर किया था तो वे क्या हैं ? क्या उनकी सस्थाओ के राजनैतिक ही नही बल्कि आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक पहलू भी प्रजातन्त्रवादी थे। हिन्दू क्या हमेशा जन्म से ही हिन्दू होता था या वह भी ईसाई और मुसलमानों की तरह शुद्धिवादी था ? क्या हम सब शुद्ध आर्य हैं या हमारे खून में विदेशी खून भी मिला हुआ है ? भारत क्या हमेशा हो कृषि-प्रधान देश था, और विदेशी अधिकतर वाणिज्य व्यापार का काम करते रहे, अथवा हिन्दुस्तानी भी कारीगर होते थे और पूर्वी तथा पश्चिमी देशो से व्यापार किया करते थे ? हिन्दुस्तानियो ने दूसरे देशों में उपनिवेश बसाने का क्या कभी प्रयास किया था ? अगर हां, तो किस-किस जगह ? वर्णव्यवस्था जो वर्णों के (ब्राह्मण आदि) आपस में मिलकर एक हो जाने में बाधक है और हिन्दुस्तानियो को एक जाति नहीं बनने देती, इसकी उत्पत्ति कैसे हुई और किस तरह ? इसने यह रूप कैसे धारण कर लिया ? विश्व में ब्रह्मकी व्यापकता और आन्तरिकता के इस विचारका कब प्रारम्भ हुआ और इसने भारतवासियों के दृष्टिकोण को कैसे बदल दिया ? इसी तरह के अनेक प्रश्न है जिन के उत्तर का ज्ञान हर एक हिन्दुस्तानी को होना चाहिये। यदि किसी हिन्दुस्तानी ने इनके बारे में न कुछ सोचा है और न वह कुछ जनता ही है तो उसे हम पूर्णरूप से शिक्षित नहीं कह सकते। इन्हीं विषयो पर पुराने हिन्दुस्तान के ऐतिहासिक को प्रकाश डालना है। इसीसे हमें यह पता लग सकेगा कि हिन्दुस्तान का सभ्यता-पोत कहां से चला, उस ने कौन-सा मार्ग ग्रहण किया और अब उसे किस ओर जाना है ?

अनुवादिका—कुमारी पद्मा मिश्र, एम. ए.

मध्यकालीन भारतीय इतिहास में हिन्दुओं की दशा

अनिल चन्द्र बनर्जी

भारतीय-ऐतिहासिक-कांग्रेसके अधिवेशन में (कलकत्ता सन् १९३९ में) एक लेख पढ़ा गया था। इस लेख में (जो कि प्रोसिडिंग्स में प्रकाशित भी हुआ था) डा० महदी हुसेन ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि मध्यकाल के मुसल्मान शासकों ने अपनी हिन्दू-प्रजा की धार्मिक एवं राजनैतिक व्यापारों में हस्तक्षेप नहीं किया था।

आपका कहना है कि "Cojus regio ejus religio" का सिद्धान्त जो कि इंग्लैण्ड के ट्यूडर राजाओं तथा जर्मन राजकुमारों में धार्मिक उत्तेजना पैदा किया था, मध्यकालीन भारतीय-इतिहास में छू तक भी नहीं गया। परन्तु वास्तव में यह अनुमान आपत्तिकर है। क्या काश्मीरके सुल्तान सिकन्दर ने अपनी प्रजाको "कुरान अथवा निर्वासन"में से किसी एकको चुन लेने के लिये नहीं कहा था? सर उल्सली हेग (Sir Wolsely Haig)का कहना है, "सिकन्दरकी मनोवृत्तिका परिणाम आज भी काश्मीर में दृष्टिगोचर होता है, जहां कि १०००० की जन-संख्या में ५२४ से अधिक हिन्दू नहीं पाये जाते"१। क्या फिरोज़शाह तुगलक ने एक ब्राह्मणको धर्मप्रचारणार्थ जीते जी नहीं जलवा दिया था२? क्या सिकन्दर लोदी ने एक ब्राह्मणको मरवा नहीं डाला था?—पर अपराध उसका क्या था? केवल यही न कि उसने राजा और प्रजा के बीच धार्मिक मनो भावनाओं को दूर करने की चेष्टा की थी३। क्या भारतीय-शिक्षा-केन्द्र नवद्वीप (नदिया) ध्वंश करने के लिये तथा ब्राह्मणों को सवश कुरान पढ़ाने के लिये बगाल के हुसेन शाह ने अपनी सेना नहीं भेजी थी४? क्या जहांगीर अपने आत्म-चरित्र में यह नहीं कहता कि उसने अर्जुनसिंह को केवल धार्मिक उत्साह के कारण ही मरवा डाला था। मध्यकाल का इतिहास जाननेवाला एक साधारण व्यक्ति भी इससे अधिक उदाहरण दे सकता है। जो अकबर तथा काश्मीर के जैनुल-अबेदिन आदिकी सहिष्णुता का राग अलापते रहते हैं, वे 'साधारण नियम के परे' वाली कहावत भूल जाते हैं। हम यह सिद्ध करना कभी नहीं चाहते हैं कि वे मुसलमान शासक अपनी धर्म-विरोधी प्रजा को दमन करने में सफल हुए थे। यदि एलिज़ाबेथ अपनी उतनी भारी प्रजा की सहमति एवं सहायता से थोड़े से कैथोलिक और प्युरिटनों को दबा न सकीं तो मुट्ठीभर मुसल्मानों के लिये उतनी भारी हिंदू-प्रजा को अपने धर्म में दीक्षित करना टेढ़ी खीर सी थी। अल्लाउद्दीन खिलजी जैसे चतुर शासक

---

1. Cambridge History of India, Vol III. P. 280.
2. C. H. S, III, P. 187
3. C. H. I., III, P. 246.
4. जयानन्द-कृत "चैतन्य-मंगल" तथा वृन्दावन-दास कृत चैतन्य-भागवत" (२ गला) देखिये।

उस समय की समस्या से भलीभांति परिचित थे तभी तो उन्होंने मुघिसुद्दीन जैसे विद्वान की सलाह सुनी अनसुनी कर दी थी। किन्तु फिरोजशाह तुगलक, काश्मीर के सिकंदर तथा सिकंदर-लोदी आदि उस समय की पारिपार्श्विक अवस्था समझने में असमर्थ हुए थे इसीलिये उन्हों ने हिन्दुओं के लिये "दमननीती-नीति" का अनुसरण किया था।

डाक्टर साहब कहते हैं, "मध्यकाल में हिन्दू धार्मिक स्वच्छन्दता उपभोग करते थे"। किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि इस विषय में उन्होंने बर्नियर (Bernier) तथा एल्फिन्स्टोन (Elphinstone) की गवाही दी है। परन्तु एल्फिन्स्टोन के जमाने के बाद भारतीय इतिहास की ऐसी उन्नति हुई है कि एक साधारण स्कूल का विद्यार्थी भी उस पर सहज में विश्वास नहीं करेगा। हुसेन साहब कहते हैं कि बर्नियर ने हिन्दुओं को विधवा जलाते हुए, सूर्य-ग्रहण में मेला जाते हुए तथा घाटों में नहाते हुए देखा है,—ये सब डाक्टर साहब के उदाहरण हैं। पर यह किस प्रकार सिद्ध हो सकता है कि "मध्य-काल में किसी भी मुसलमान शासक ने हिन्दुओं की धार्मिक-स्वच्छन्दता में हस्तक्षेप नहीं किया था" ? बर्नियर ने अपनी समसामयिक-स्थिति पर लिखा है पूर्व पर कदापि नहीं। इसके अतिरिक्त बर्नियर के समय का यदि और भी कोई औरंगजेब की शासन-प्रणाली का विश्वास योग्य सूत्र पाया जाय तो हमें उसे भी परखना चाहिये। सर यदुनाथ सरकार ने औरंगजेब ५ की धर्म-नीति पर जो कुछ यथार्थ में संग्रह किया है क्या डाक्टर हुसेन हमें उस पर अविश्वास करने के लिये कहते हैं ? जिस बर्नियर पर डाक्टर साहब इतना यकीन करते हैं क्या वही यह नहीं कहता कि बहुत से हिन्दू जजिया-कर से बचने के लिये मुसलमान बन गये ?

डा० हुसेन का यह कहना हम स्वीकार करते हैं कि उस समय कई मन्दिर और धर्मशालाएं बनाये गये थे और बादशाहों ने मन्दिरादि बनवाने में सहायता भी दी थी। भारतवर्ष जैसे बड़े देश में यदि ६०० वर्ष के भीतर मन्दिरादि बने तो उसे रोकना क्या इतना ही सहज था ?—इतनी विस्तृत सीमा पर पहरा देना कुछ हंसी खेल नहीं था। आशा है कि डाक्टर साहब यह विश्वास करेंगे कि मंदिर बनवाने में सहायता देने वालों की अपेक्षा मंदिर गिराने वालों की संख्या अधिक ही थी। मुसलमानी इतिहास के पढ़ने वाले तथा मध्यकालीन-भारतीय-निर्माण-कला के विद्यार्थी मंदिर गिरवाने की कई कहानियों से परिचित हैं, अतएव उनकी यहां पुनरुक्ति करना निरर्थक है।

डा० हुसेन कहते हैं, "अलाउद्दीन यह नहीं चाहता था कि हिन्दू धन-संचित करें। वह केवल उनकी दाल-रोटी पाने पर ही संतुष्ट था।" अलाउद्दीन के इस सिद्धान्त का उद्देश्य तो केवल यही हो सकता है कि 'जाओ रे हिन्दू अपने मालिक के लिये कुल्हाड़ी लेकर लकड़ी काटो और घड़ा लेकर पानी

५. History of Aurangzib, Vol. III, Chap. XXXIV

करें'। डाक्टर साहब इस बात की सफाई यह देते हैं, "आवश्यकता पड़ने पर ऐसा करना पड़ता था जैसा कि आजकल समय समय पर मार्शियल-ला (Martial-Law) जारी किया जाता है"। किन्तु यह "आवश्यकता" किस कोटि की थी यह डाक्टर साहब नहीं कहते हैं। उन्होंने अलाउद्दीन का वक्तव्य दृष्टान्त स्वरूप यह दिया है कि वह हिन्दुओं को बिलकुल गरीब बनाकर शरणागत तथा कर्त्तव्य-परायण देखना चाहता था,—"आवश्यकता" के विषय में कुछ नहीं कहा है। हिन्दुओं को दीनता की पराकाष्ठा में पहुंचाना ताकि कौड़ी कौड़ी के लिए वे तरसते रहें—यही थी उस समय की राजनीति। डा० हुसेन मोरलैंड (Moreland) का उल्लेखकर यह कहते हैं, "अलाउद्दीन देहातियों तथा ग्राम और परगनाओं के अधिकारियों की शक्ति दूर करना चाहता था।" वह उच्च जाति और नीच जाति को पृथक कर अधमरे नीच जाति किसानों६ को छोड़ दिया करता था,—धन तो रहता था उच्च-जाति के पास, अलाउद्दीन उन्हीं का गला घोंटना चाहता था। इस नीति का गहरा प्रभाव हिन्दू-जाति-विशेष पर पड़ा। आशा है कि डा० हुसेन यह अविश्वास न करेंगे कि आधुनिक ऐतिहासिक पुस्तकें उसे जो 'हिन्दू-विरोधी' राजनीति७ कहते हैं वह कुछ अन्याय नहीं है। गनीमत तो यह है कि वह नीति अपना उद्देश्य पूरा न कर सकी।

डाक्टर साहब साथ ही साथ यह कहते हैं कि उन बादशाहों ने जज़िया-कर बैठा कर कुछ अन्याय नहीं किया था। उनका कहना है, "मुसल्मानी धर्म अस्वीकार करने के लिए उन लोगोंसे दंड-स्वरूप जज़िया कर नहीं लिया जाता था—बल्कि मुसल्मानी सेना की संरक्षता में रहकर सुख भोगना परन्तु सेना में भर्ती नहीं होने के लिये ही हिन्दओं से जज़िया लिया जाता था।............बादशाही सेना में भरती होते ही जज़िया माफ़ कर दिया जाता था"। परन्तु डाक्टर साहब ने स्वतः अपने वक्तव्य को यह कह कर मिथ्या प्रमाणित कर दिया है, "पहले की बादशाही सेना में कई हिन्दू थे"। क्या उस समय हिन्दुओं को जज़िया-कर नहीं देना पड़ता था? क्या औरंगजेब की सेना में हिन्दू नहीं थे? फिर उसने क्यों पुनर्वार जज़िया बैठाया? इससे यही सिद्ध होता है कि हो न हो जज़िया कर मुसल्मानी धर्म (इस्लाम) अस्वीकार करने के लिये ही दंड-स्वरूप लिया जाता था।

डाक्टर साहब ने दो उदाहरण देकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि मुसल्मानी शासनकाल में हिन्दुओं को "रक्षा" दी जाती थी। एक उदाहरण मुहम्मद-बिन-तुगलक के समय का है और दूसरा है

६ डा० हुसेन अफ़ीफ़ का उल्लेखकर यह कहते हैं कि 'प्रत्येक रैयत के घर साफ़-सुथरा अच्छा पलंग और सुंदर बगीचा हुआ करता था और उनकी स्त्री सोने-चांदी के जेवर पहना करती थी। यदि राजकवि द्वारा ऐसा वर्णन ठीक भी हो तो वह फिरोजशाह तुगलक के समय का ही हो सकता है।

७ डा० हुसेन बरनी का उल्लेख कर यह कहते हैं कि हिंदुओं के पास इतना धन रहता था कि मुसलमानों के धन के साथ उसकी तुलना ही नहीं हो सकती थी—यानी आप हिंदुओं को राजा भोज बनाकर 'कहां राजा भोज और कहां गंगू तेली' वाली कहावत उपयोग करना चाहते हैं।

जहांगीर के समय का। पर ये दोनों शासक फिरोज़शाह तुगलक तथा औरंगजेब आदि सरीखे अपनी धार्मिक मनोवृत्तियों में उतने कठोर नहीं उतरे थे। इसके अतिरिक्त लाखों में से केवल दो उदाहरण कुछ के बराबर नहीं है।

ऐसा कहा जाता है कि मुहम्मद-बिन-तुगलक तथा मुगल बादशाहों के समय हिन्दुओं को अच्छी सरकारी नौकरी मिली करती थी। किन्तु दूसरे बादशाहों के समय उनकी क्या अवस्था थी? डा॰ हुसेन का कहना है, "सिकंदर-लोदी ने हिन्दुओं को फारसी भाषा सीखने के लिये आमन्त्रित किया था ताकि वे सरकारी नौकरी करने में समर्थ हो सकें"। क्या उसके किसी भी पूर्वज ने ऐसा किया था? आधुनिक काल में जिस प्रकार राजभाषा (अंग्रेजी) सीखने के लिये लोग लालायित रहते हैं, उसी प्रकार उन दिनों में भी लोगों ने फारसी सीखने के लिये आग्रह प्रकट किया था। परन्तु उन्हें पहली तीन शताब्दियों तक क्यों बेकार बाट जोहना पड़ा? इसका उत्तर केवल यही हो सकता है कि उन्हें सरकारी नौकरी नहीं मिलती थी। १३ वीं शताब्दी में अफगान, अरबवासो, अबीसिनियावासी तथा भारतवासियों को सरकारी नौकरी पाने से तुरुक वंचित ही करते रहे। मुसल्मानों पर उनकी सहानुभूति बनी रही पर हिन्दू बेचारे मुंह ताकते ही रह गये।

मध्यकालीन-भारतीय-इतिहास में हमारा आलोच्य विषय नितान्त गुरुत्व-पूर्ण है। इस विषय को सामने लाकर उपस्थित करने के लिये डा॰ हुसेन सभी ऐतिहासिक-गवेषक के विशेष बधाई के पात्र हैं, पर खेद यह है कि आधुनिक काल की राजनैतिक-वातावरण ऐसी नहीं है कि हम खुल्लम-खुल्ला इस जटिल विषय पर तर्क-वितर्क कर सकें। हमारे मुसल्मान भाइयो को पुराने बादशाहों की करतूत पर बुरा नहीं मानना चाहिये और न हिन्दुओं को भी यह सोचकर उत्तेजित होना चाहिये कि हमारे मंदिर गिरवाकर उसी के ईंट-पत्थरों से मस्जिद बनवाये गये तथा हमारे पूर्वपुरुषों को जबकि पब्लिक-सर्विस-कमीशन नहीं थी तब भी नौकरी न दी जाती थी। उन दिनों में मुसल्मानों की जो इच्छा वे वही कर सकते थे, राजनैतिक, आर्थिक तथा धार्मिक सभी उपायों से वे हिन्दुओं को दमन कर सकते थे और ऐसा करना उनके लिये स्वाभाविक ही था—परन्तु इस बीसवीं शताब्दी में क्या यह कुछ खटकता नहीं है?

अनुवादक—कालिदास मुकरजी, एम. ए., एम. आर ए. एस. (लंदन)

प्राचीन हिन्दी

सकलनारायण शर्मा

सृष्टि के आदि में जो भाषा बोली जाती थी उसे देवभाषा अथवा देववाणी कहते हैं। ईश्वर ने जगत् उत्पन्न कर मनुष्यों को जिस भाषा के द्वारा कर्त्तव्य का उपदेश दिया वही देवभाषा अथवा वैदिक भाषा है। दुनिया में जितने मानव हैं, उनके आदिम पुरुष उसी भाषा के द्वारा आपस में बात करते थे। उस समय उनसे त्रुटि भी होती थी। जैसे किसी ने कहा "आत्मना", दूसरे ने उसे "त्मना" उच्चारण किया। दोनों प्रयोग प्रचलित हो गये और वैदिक भाषा के शब्द माने गये। जब इस ढंग की त्रुटियां अधिक बढ़ गयीं तब त्रुटि वाली भाषा का नाम गाथा हो गया। अशिक्षित लोग गाथा बोलने लगे। पर बड़े लोग वैदिक भाषा तथा गाथा भाषा के सब शब्दों का व्यवहार छोड़ कर चुने हुए भूषित शब्द बोलने में प्रवृत्त हुए, इन चुने हुए शब्दों को संस्कृत कहते हैं। इस शब्द में "कृ" के पहले एक सकार है। उसका अर्थ भूषण, शोभा है। इसीसे संस्कृत का अर्थ "स परिभ्यां करोन्तै भूषणे" इस पाणिनि सूत्र से भूषित होता है। अशुद्ध बोलने वालों की बोली अभूषित मानी जाने लगी। कुछ समय बीतने के बाद संस्कृत से प्राकृत की उत्पत्ति हुई। लोग फिर संस्कृत शब्दों को बिगाड़ने लगे। उन बिगड़े हुए शब्दों का नाम प्राकृत पड़ा। प्रकृति से—संस्कृत भाषा से—मूल भाषा से, जो उत्पन्न हुई वह प्राकृत है। इस प्राकृत भाषा में गाथा शैली तथा उसके शब्दों का भी ग्रहण हुआ। इस प्राकृत के दो भेद प्रधान हैं पूर्वी तथा पश्चिमी। पूर्वी मागधी अथवा पाली कही जाती है, पश्चिमी शौरसेनी है। इन दोनों के योग से अर्द्ध-मागधी निकली। वही हिन्दी की जननी है। यह संस्कृत के सैन्धवी शब्द से हैन्दवी होकर हिन्दी हो गई है। विदेशी भारतवर्ष को सिन्धु के नाम पर हिन्दू कहा करते थे। वे संस्कृत के सकार को हकार तथा धकार को दकार बनाने में हिचकते नहीं थे। यही कारण है कि कई हजार वर्ष की पुरानी पुस्तक आवेस्तामें जदद्श्र ने भारत को हिन्द लिखा है "अक तूं विरहम ते व्यास नाम अजहिन्द आयद" (अवेस्ता) अर्थात् पारस में हिन्द से व्यास नामक ब्राह्मण आया। इस प्रकार हिन्द की बोली हिन्दी प्रसिद्ध ही है और प्राचीन है।

हिन्दी के प्रारम्भिक रूप

'गद्य'

पद्य की भांति गद्य का उत्पत्ति स्थान राजपूताना है। कई शिलालेखों में गद्य के प्रारम्भिक रूप

दिखलाई पड़ते हैं। उन के पढ़ने से यह धारणा होती है कि उन के बनने में कई शताब्दियां व्यतीत हुई हैं। यहां दो शिला-लेख उद्धृत किये जाते हैं।

(१) स्वस्ति श्री चीत्रकोट महाराजाधिराज नथे राज श्री समरसी जी वचनात् अमा आचरज रष केस कस्ये थाने दली सु डायजे लाया अणी राज में ओषद थारी लेवेगा.........

दुवे पंचोली जानकी दास सं० ११३९ का भौ वदी ३।

(२) श्री श्री दलीन महाराजं धी राज नं राजधान सेमरी नरेशं पूरबदली तषत श्रीमाहानं राजं धी राजं नं पृथीराजी सु साथं नं आचारज रषी केस धनं त्रिअस न काका जीनं के दुवा की............. सई दुवे हुकुम के हुबमंत राज्य, समत ११४५ वर्षे आसाढ़ सुदी १३। दोनों शिला लेखों में केवल छः वर्ष का अन्तर है, पर पहले की अपेक्षा दूसरे में वर्तमान हिन्दी का स्वरूप प्रस्फुटित हो रहा है। पहले का एक वाक्य है "दली सु डायजे लाया" दिल्ली से दहेज में ले आया। उक्त वाक्य में जो सु विभक्ति है उसका 'सो' रूप अब होता है। डायजे में जो एकार है उसका आजकल की हिन्दी में 'में' स्वरूप होता है, लाया क्रिया ज्यों की त्यों प्रयुक्त होती है। दूसरे में एक वाक्य है "तमने काकाजी नं के दुवा की"—तुमने काकाजी की दवा की। उक्त वाक्य वर्तमान हिन्दी से मिलता है तथा प्रचलित व्याकरण से शुद्ध है। इसमें 'त' में उकार नहीं है और 'दु' में उकार है। यहां 'नं' का प्रयोग अधिक है अन्यथा यह हिन्दी का उत्तम नमूना है।

बाबा गोरखनाथ जी गद्य हिन्दी के पहले ग्रन्थकार हैं। इनका रचनाकाल १३५० के बाद है। इनकी पद्य पुस्तकें बहुत हैं पर गद्यकी एक पुस्तक है। यह व्रजभाषा मयी है। उसका यह उदाहरण है। "श्रीगुरु परमानन्द तिनको दण्डवत् है। मैं जुहों गोरख सो मछन्दरनाथ को दण्डवत् करत हौं"

श्रीगोरखजी पूर्वी कवि थे। हिन्दी को वर्त्तमान रूप देनेवाले इंशाअल्लो खां तथा पं० सदल मिश्र जी हैं। प० लल्लूजीलाल की भाषा में कुछ व्रजभाषापन है। ये लोग नवीन हैं। पर वर्त्तमान लेखकों तथा ग्रन्थकारों की अपेक्षा प्राचीन हैं। प्राचीन समय में अच्छे गद्य काव्य नहीं बने पर इन दिनों उत्तमोत्तम गद्य काव्य दीख पड़ते हैं। उन में रस की कमी नहीं है, वे अच्छे कवियों की ऊंची कल्पनाओं के बलपर आदर पा रहे हैं। हिन्दीके निबन्ध, कहानियां तथा उपन्यास भारत की अन्य भाषाओं के उक्त ढंगके ग्रन्थों के समान हैं। बाबू व्रजनन्दन-सहायजी की पुस्तकें बहुत ही लोकप्रिय हैं। उनके पिता बाबू शिवनन्दनसहायजी की लिखी हुई तुलसीदासजी की जीवनी आदि अपनी समानता नहीं रखतीं।

'पद्यकाव्य'

मनुष्यों को आनन्द देने वाले वाक्यसमूह काव्य हैं—चाहे लक्षण कोई हो। हिन्दी के प्राचीन काव्यों में रासो का स्थान पहले है। रसायण शब्द से इसकी उत्पत्ति है। दोनों शब्द रासो में मिलते हैं—

"नाल्ह रसायण नर भणई"
"सांभल्यां रास गंगा फल होई"

(बी० दे० रा०)

खुमान रासो हिन्दी भाषा का पहला काव्य है। इसे दलपति विजय ने ८७० विक्रम सम्वत् में बनाया था। यह पुस्तक छपी नहीं है। इसकी अपूर्ण प्रति पूना के भण्डारकर इन्स्टिट्यूट में सुरक्षित है। इसमें १३९ पृष्ठ हैं। पुस्तक के आठ खण्ड हैं तथा खुमान की आठ पीढ़ियों का वर्णन है। यात्रा तथा विवाह के अतिरिक्त महमूद गोरी के युद्ध को चर्चा है। ग्रन्थ के नामक बप्पारावल बड़े बीर थे। उनकी खुमान उपाधि क्षुण्मान का अपभ्रंश है। इसका अर्थ दूसरों की मान प्रतिष्ठा चूर्ण करने वाला है। इस में गणेशजी के दर्शन निम्न रूपमें होते हैं :—

भृकुटी चन्द भल हलें गग खलहलें समुज्जल।
एकदन्त उजलो सुण्ड ललबले रण्ड गल।
मुह मधूप प्रम्फले सेस सलव्वले जीह लल।
धुम्र नेत्र परजले अंग अकले अतुल बल॥

इसके "प्रम्फले, सलब्बले और अकले" ये तीन शब्दों के अर्थ कठिन हैं नही तो अर्थ समझ में आ जाता है। प्रम्फले शब्द चूर्ण, सलब्बले शब्द सगबगाने तथा अकले शब्द अकेला अर्थ को बताते हैं। जो शरीर इकहरा है वह अकेला है। इसमें महाराणा प्रतापसिंह तथा पद्मविजय आदि जैनों के नाम प्रक्षिप्त हैं। इनका काल सत्रहवीं शताब्दी है। दुःख की बात है कि अभी तक यह पुस्तक मुद्रित नहीं हुई। यद्यपि इसमें कई रस हैं तथापि प्रधानता बीररस की है। हमारा अनुमान है कि इसके वीररसात्मक पद्य कुछ निकाल दिये गये हैं तथा अन्यरसात्मक सन्निविष्ट कर दिये गये हैं।

बीसल देव रासो नरपति नाल्ह का बनाया हुआ है। नरपति कवि की उपाधि नाल्ह है। उक्त कवि इसे गा गा कर लोगों को सुनाता था। इसके चार खण्ड हैं। इनकी कथा यह है कि बीसल देव ने जिनका संस्कृत नाम विग्रहराज देव है, धार नरेश भोजराज की कन्या राजमती से विवाह किया। वह युद्धादिक कारणों से कई वर्षों तक उड़ीसे में रहा। ग्रंथ में रचनाकाल १२१२ विक्रम संवत् लिखा हुआ है :—

बारह सै बहोत्तरां मंझारि। जेठ बदी नवमी बुधवार॥
नाल्ह रसायन आरंभइ।..................

इसकी दो लिखित प्रतियां मिली हैं। उनमें यह छन्द जयपुर वाली प्रति का है। बीकानेर की एक प्रति है उसमें ग्रन्थ निर्माण काल १०७३ विक्रम सम्वत् है:—

संवत् सहस तिहत्तर जानि
नाल्ह कवीसर रसीय बखाणि ॥

यह बात प्रसिद्ध है कि कवि ने इस रासो को कहीं लिखा नहीं था। सैकड़ों वर्षों के बाद भाटों ने इसे लिपि बद्ध किया। बीकानेर की प्रति की लिखने वाले भांट ने प्राचीनता बढ़ाने के लिए यह छन्द जोड़ दिया। उससे रासो शब्द का प्रयोग नहीं हो सका। उसके लिए 'रसीय' शब्द प्रयुक्त हुआ है। लेखक साधारण भांट था, वह अभिप्रेत शब्द नहीं ला सका। बीसल-देव अथवा विग्रहराज कई हुए हैं। उनमें चतुर्थ विग्रह राज इस ग्रंथ के नायक हैं। दिल्ली में फिरोज़शाह की लाट है। उस पर इस बीसल देव की प्रशस्ति खुदी हुई है और सम्वत् १२२० है। इसने गुजरात जीता था और जयसिंह सिद्धराज से कर लिया था। अजमेर में इसकी स्थापित एक विद्यालय की पत्थरी दीवारों पर हरकेलि तथा ललित-विग्रह-राज दो संस्कृत नाटक खोदे गये थे जो ढाई दिन के झोपड़े नामक स्थान की खुदाई में मिले हैं। पहला नाटक उसी का बनाया हुआ है। दूसरे को कवि सोमेश्वर ने उसकी प्रशंसा के लिए लिखा था। सम्वत् १२१५ अङ्कित है। इस रासो में उसकी ऐतिहासिक विजयों की चर्चा नहीं है। इसका कारण यह है कि इसके गाने वालों को जो अंश स्मरण नहीं रहा लिपि-बद्ध नहीं हुआ। साधारण लोग शादी व्याह की बात पसन्द करते हैं, वह ग्रंथ में रह गयी। अन्यथा उसके पिता भाई की मृत्यु-चर्चा तो उपलब्ध होती। उसके भाई ने गद्दी के लिए पिता की हत्या की थी और प्रजा ने उसे राजसिंहासन पर बैठने नहीं दिया।

इस रासो की भाषा प्राचीन हिन्दी का नमूना है। काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा ने इसे प्रकाशित कर हिन्दी का बड़ा उपकार किया है। रासो भांट लोग कैसे गाते है इसकी विधि इसमें लिखी हुई है। गाने वाले गाने की तैयारी जब करते हैं तब बंशी बजने लगती है। गायक का साथी घूंघरू बजाता है। गाने वाले मंडली बना कर बैठते हैं, बीच में थोड़े लोग तथा बाहरी घेरे में अधिक रहते हैं। इसके गाने में कई ताल काम में आते हैं:—

गावण हार भांड दूरगाई।
रास कई यह वंस लीवाई॥
ताल कई समवई घूंघरी।
माहिली मांडली छीटा होई।
बारली मांडली सांधना।
रास प्रभास इणी विधि होई॥　　(बी० दे०)

विवाह के समय वर श्वसुर से पहले भी मांगता था। यह भी वर्णन है और रीतियां आज-

कल की भांति होती थीं पर वेश्या का नृत्य नहीं होता था। विवाह प्रसंग में बड़ी बारात गयी पर रंडी का नाच बर कन्या किसी पक्ष से नहीं हुआ।

विवाह हो जाने के बाद राणी राजमती पति के उड़ीसा जाने के कारण बहुत ही खिन्न है।

प्रीय बोलावे घन रोवती आई।
सुनऊ मन्दिर मेल्हइ घैछाई ॥
साधन करलइ मोर ज्युं।
पांच पेड़ोसिन बैठी छइ आय ॥
ओ निस्तान्यौ जा कर गयो।
दिवसनई रात मों चिन्ता जाई ॥

राणी पति के पुकारती हुई जोर से चिल्ला कर रोती है और मोरनी के समान भयङ्कर शब्द करती है। चार-पांच पड़ोसिनें आ गयी हैं और कहती हैं कि निः सन्तान राजा ने तेरे लिए क्या किया। तुझे दिन और रात चिन्ता में व्यतीत होती हैं। उक्त पद्य में घन शब्द का अर्थ स्वामिनी है और घैछई का अर्थ है होता है। जिसे बीसल देव रासो से परिचय हो जायगा वह दूसरे रासोओं को कुछ समझने लगेगा।

(क्रमशः)

कुषाण काल में नाग पूजा

बैजनाथ पुरी एम. ए., लखनऊ

भारतीय इतिहास में कुषाण काल का उच्च स्थान है। राजनैतिक, आर्थिक और कला की उन्नति के अतिरिक्त इस काल में विशेषता यह थी कि प्रत्येक मनुष्य को धार्मिक स्वतन्त्रता थी। राजनीति उनके धार्मिक कार्यों में किसी प्रकार की बाधा नहीं डाल सकती थी। सब साधारण व्यक्ति अपनी इच्छानुसार अपने धार्मिक कार्य कर सकते थे। इस बात का प्रमाण कुषाण काल की मूर्त्तियों से मिलता है जो मथुरा ऐसे पवित्र स्थान की खुदाई में मिली हैं। ये मूर्त्तियां ब्राह्मण, बौद्ध और जैन धर्मावलम्बियों द्वारा स्थापित की गयी थीं। इनके अतिरिक्त कुछ मूर्त्तियां और लेख जो नाग पूजा से सम्बन्ध रखते हैं, वे भी मथुरा में खुदाई करने पर मिले हैं। ये लेख और मूर्त्तियां इस बात का प्रमाण देती हैं कि कुषाण काल में जब कि संस्कृति और सभ्यता उच्च कोटि पर पहुंच चुकी थी, नाग पूजक भी इस उन्नति में पीछे न थे। नागपूजा

का वर्णन करने के पहिले, कुछ नाग लेखों पर विचार करना आवश्यक है। ये लेख नाग मूर्त्तियों और पत्थर के स्तम्भों पर पाये गये हैं।

नाग पूजा सम्बन्धी प्रथम कुषाण लेख १ महाराज कनिष्क के राज्याभिषेक के अष्टम वर्ष का है। यह एक नाग मूर्त्ति पर लिखा हुआ है जो इस समय मथुरा अजायब घर में है। इस मूर्त्ति के बीच में नाग राज खड़े हैं और उनके दाहिने बांयें दो नाग और स्थित हैं। नाग राज के मस्तक के ऊपर सप्त फण का एक सर्प दिखाया गया है। नाग राज का शुभ नाम स्वामिनाग है। इस लेख में लिखा है कि यह नागमूर्त्ति एक कामार और उद्यान सहित दान कर, स्थापित की गयी थी।

द्वितीय लेख २ एक पत्थर पर लिखा हुआ है जो इस समय लखनऊ के अजायबघर में है। यह लेख महाराज हुविष्क के राज्यकाल के २६ वर्ष का है और यह एक नाग देवता दधिकरण के विषय में है जिनका विहार उसी स्थान पर था जहां कि महाराज हुविष्क ने अपना विहार बनवाया था। इस लेख की तिथि यद्यपि मिट गई है किन्तु डाक्टर वोगेल ३ के अनुसार यह लेख महाराज हुविष्क के राजकाल में २६ वर्ष का है। इससे यह प्रगट होता है कि उस स्थान पर प्रथम नाग देवता दधिकरण का विहार २६ वें वर्ष में था। तत्पश्चात् ४१ वर्ष में उसी स्थान पर हुविष्क महाराज का विहार स्थापित हुआ। इसका प्रमाण एक पत्थर के स्तम्भ पर लिखे हुए लेख ४ से मिलता है जो हुविष्क के विहार में मिला है। इस लेख में लिखा है कि यह दान देविल नाम के पुरुष का है जो पहिले दधिकरन के विहार में चोकर था। यह देविल कौन था इस विषय पर चर्चा आगे की जावेगी यहां केवल इतना कह देना आवश्यक है कि जिस स्थान पर महाराजा हुविष्क का विहार बना वहीं पर पहिले नाग देव दधिकरण का विहार था।

नाग पूजा के सम्बन्ध का सबसे सुन्दर और पूर्ण लेख ५ छारगांव से मिली हुई नाग-मूर्त्ति पर लिखा है। यह नाग देवता अभय मुद्रा में खड़े हैं। उनका दाहिना हाथ मस्तक के ऊपर उठा है। तन पर धोती है और कमर में एक दुपट्टा बांधे हैं और वक्षस्थल पर एक सुन्दर माला है। ऊपर सर्प का फन है। लेख में लिखा है कि सेन हस्थिन और भूमक नाम के दो साथियों ने ४० वें वर्ष में इस मूर्ति को स्थापित किया था जिससे कि नाग देवता प्रसन्न हों। मथुरा के अजायब घर में जाने के पहिले इस मूर्ति को

---

१ एपीग्राफिया इंडिका जिल्द १७ पन्ना १०।

२ एपीग्राफिया इंडिका जिल्द १ नवम्बर १८ पन्ना ३९०।

३ आर्कियोलाजिकल सर्वे रिपोर्ट १९०८—९ पन्ना १५९ सी।

४ इंडियन ऐंटीक्वेरी जिल्द ३३ सं १९०४ पन्ना १०२।

५ वोगेल : कैटालाग आफ मथुरा म्यूजियम नम्बर सी १३।

वहां के गांव निवासी भगवान् कृष्ण के ज्येष्ठ भ्राता बलराम समझ कर पूजते थे। इस मूर्ति की उंचाई कोई ९'८" इंच है।

इनके अतिरिक्त एक और लेख ६ एक नाग मूर्त्ति पर लिखा मिला है। इसकी उंचाई कोई ९' ४" है। इस नाग देवता का दाहिना हाथ उठा हुआ है और बांये हाथ में एक पात्र है। मस्तक के पीछे एक सप्तफन वाला सर्प दिखाया गया है। इस नाग देवता की मुद्रा और पहनावे से ऐसा मालूम पड़ता है कि यह कोई कुषाण काल के बोधिसत्व की मूर्त्ति है। लेख की तिथि सं० ५२ की वर्षा ऋतु के तृतीय मास का २५ वां दिवस है।

इनके अतिरिक्त कोई और नाग मूर्त्ति नहीं मिली जिस पर किसी प्रकार का लेख लिखा हो परन्तु एक और लेख मिला है ७ जिससे यह सिद्ध होता है कि श्याम सर्पों में नष्ट और विध्वस कर देने की भी शक्ति होती थी। कौशिक वंश के शिवमित्रा नाम की स्त्री ने इस लेख में श्याम—सर्प की स्तुति की है जिससे पोटनाय और शकों का नाश हो। ये दो कौन थे? इस विषय पर विचार करना यहां आवश्यक नहीं है। कुषाण काल में कणिष्क और हुविष्क राजाओं को छोड़ कर और कोई दूसरे राजा का लेख नहीं मिलता है जिसमें नाग पूजा का वर्णन हो।

इन लेखों के आधार पर यह बात पूर्ण रूप से सिद्ध हो गई कि कुषाण काल में नागपूजा अच्छी तरह से प्रचलित थी। यद्यपि वासुदेव के समय के लेख इस विषय पर नहीं मिले हैं फिर भी यह न समझ लेना चाहिये कि उसके समय में नाग पूजा का अन्त हो चुका था। हां! यह हो सकता है कि उसके राज्यकाल में यह उतनी प्रचलित न थी और अधिकतर मनुष्य बौद्ध धर्म को मानते थे। बौद्ध धर्मावलम्बियों ने इन नाग पूजकों को अपने धर्म में दीक्षित करने के लिए अवश्य उद्योग किया होगा यहां तक कि उन्होंने नाग पूजा की भी अनुमति, बौद्ध रहते हुए दे दी होगी। यह कहां तक सत्य है इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि महाराज हुविष्क ने अपने समय में दधिकरण नामक नाग के विहार की नींव पर अपना विहार बनवाया था। उसी विहार के चौकर देविल ने हुविष्क के विहार के लिए एक स्तम्भ दान किया था। इसका वर्णन पहिले किया जा चुका है। इस दधिकरण नामक नाग के विषय में लूडरस साहब, जिन्होंने सबसे प्रथम इस लेख का अनुवाद किया था, लिखते हैं ९ कि दधिकरण का नाम हेमचन्द्र ने इस सूची में दिया है जिसको उन्होंने अभिधर्म चितामनि नामक पुस्तक की व्याख्या करते समय बनायी थी १०।

---

६ वोगेल नम्बर सी २१।

७ एपीग्राफिया इंडिका जिल्द १ नं० ३३ पन्ना ३९६।

८ इंडियन ऐंटीक्वेरी जिल्द ३३ नम्बर १३ पन्ना १०२

९ इंडियन ऐंटीक्वेरी जिल्द ३३ सं १९०४ पन्ना १०३।

१० ग्रीक १३११

डाक्टर वोगेल के कथनानुसार ११ हरिवंश के अहनिक मंत्र में नाग दधिकरण का नाम मिलता है। वह दधिकरण का विहार किस प्रकार से महाराज हुविष्क के विहार में परिणत हो गया, इसका उत्तर केवल यह है कि बहुत से नाग पूजक बौद्ध हो गये होंगे और बौद्ध होते हुए भी उन्होंने इसको बन्द नहीं किया था।

क्या वास्तव में नाग पूजक बौद्ध थे? इस प्रश्न का उत्तर बौद्ध गाथाओं द्वारा मिल सकता है। इन गाथाओं के अनुसार नाग पूजक बुद्ध के उपासक थे। यह सत्य है कि उनको बौद्ध स्वयं बुद्धजी ने बनाया था। पहिले बौद्ध धर्म के प्रति उनकी कुदृष्टि थी पर बुद्धजी की सगति में रहकर उन्होंने अपनी अमानुषिक वृत्तियां छोड़ दीं और उन्होंने साधुवृत्ति धारण की। इसका वर्णन बौद्ध गाथाओं में मिलता है। सबसे प्रथम गया में उरविल्व के काश्यप भ्राताओं के अग्नि गृह में बुद्ध जी और नाग दानव में भीषण आत्मिक युद्ध हुआ। रात्रि भर दोनों अपने-अपने तेज के प्रभाव से एक दूसरे को परास्त करने का उद्योग करने लगे। अन्त में बुद्धजी की आत्मिक अग्नि के बल से वह नाग उन के भिक्षुपात्र में गिर कर परास्त हो गया।१२ इसके अतिरिक्त और भी कई गाथाए हैं १३ जो इस बात का प्रमाण देती हैं कि किस प्रकार से नाग बुद्धजी के पूर्णतया उपासक बन गये। यद्यपि वे बुद्धजी के उपासक थे किन्तु उन्होंने नाग पूजा का त्याग पूर्णरूप से न किया हो। इसी कारण से कुषाण काल में नाग पूजा प्रचलित अवश्य थी जैसा कि मूर्त्तियों और लेखों से प्रगट होता है। पर इन लोगों ने दधिकरण के विहार की नीवपर बौद्ध विहार बनने में कोई आपत्ति न दिखलाई। इसका पता देविल के लेख से मिलता है जिसने एक स्तम्भ बौद्ध विहार के लिये दान किया था।

पर नाग पूजक केवल बौद्ध ही नहीं थे। उन में से बहुत से ब्राह्मण भी थे। इस बातका पता इससे चलता है कि नाग मूर्त्तियां कृष्णके भ्राता बलराम समझ कर पूजी जाने लगीं। कृष्ण भक्ति के उत्थान के साथ ही साथ बलराम की मूर्त्ति का भी आगमन हुआ। डाक्टर वोगेल का कहना है १४ कि हरिवंश में नाग शक्ति का बलदेव जी से सबध दिखलाया गया है। मूर्त्तियों में बलदेव जो सदैव हल सहित हैं। 'हल' कृषि के लिये अत्यन्त आवश्यक है इसलिये वे कृषक अथवा किसानों के पूज्य देवता हैं क्योंकि बिना हल के वह अपना काम चला ही नहीं सकता। पर जितनी कृषक को हल की आवश्यकता होती है उतनी ही उसे जल की आवश्यकता होती है। नाग जल में रहते हैं इसलिये उनकी पूजा करना भी कृषक के लिये आवश्यक है। इसलिये बलराम और नागदेव दोनों ही की पूजा होने लगी। नाग पूजा का कृष्णभक्ति से इस तरह सम्बन्ध दिखाया जाने लगा। डाक्टर वोगेल ने ठीक

---

११ वोगेल : इंडियन सरपेंट लोर पन्ना १८२।

१२ वोगेल : इंडियन सरपेंट लोर पन्ना ९९।

१३ महावग्ग (सेक्रेट का अनुवाद) जिल्द २ पन्ना १००।

१४ आर्कियोलाजिकल सर्वे रिपोर्ट १९०८—९ पन्ना १५८ से।

कहा है १५ कि बौद्धों की तरह भागवत अथवा वैष्णव भी नाग पूजकों को अपनी ओर आकर्षित करने का उद्योग करने लगे। परन्तु कृष्ण भक्तों ने एक दूसरा मार्ग निकाला। उन्होंने कहा कि नाग पूजा और बलरामजी की पूजा एक है। इस प्रकार नाग पूजकों को उन्होंने कृष्ण का भक्त बनाया यद्यपि वे नाग देवता को पूजते ही रहे।

नाग देवों की विशेषता ब्राह्मण और बौद्ध धारणा के अनुसार उन के रूप और चित्रकला द्वारा पूर्णतया प्रगट है। उनके रूप कई जगह भिन्न-भिन्न हैं। कभी वे सर्प के रूप में दिखाये गये हैं, कभी मनुष्य के रूप में पर अधिक सर्प और मनुष्य दोनों रूप एक साथ मिलाये गये हैं इस प्रकार से कला में तीन तरह के नाग दिखाये गये हैं, प्रथम एक सर्प का रूप जिसके बहुत से फन हैं, दूसरे मनुष्य का रूप जिसके पीछे कई फन वाला सर्प खड़ा है और तीसरे में सर्प और मनुष्य-रूप का संसर्ग है। ऊपर का भाग मनुष्य का रूप है और नीचे का भाग सर्प का। ये तीनों रूप की नाग मूर्त्तियां भारतवर्ष में पाई जाती हैं।

कुषाण काल में नाग मूर्त्तियां गान्धार, मथुरा और अमरावती में बनी। गान्धार कला में नागमूर्त्ति को मनुष्य के रूप में दिखाने का पक्ष लिया गया है। केवल एक दृश्य दिखाने के लिये नाग को सर्प के रूप में बनाया, वह दृश्य था उरविल्वा के एक दानव और बुद्धजी का आत्मिक युद्ध जिसमें एक दूसरे को अपना तेज़ दिखाकर पराजित करना था। इस दृश्य का वर्णन पहले किया जा चुका है। पेशावर के अजायब घर में भी एक पत्थर पर खुदा हुआ दृश्य है जिसमें सारनाथ के मृग उद्यान में बुद्धजी के सामने ऐलपत्र नामक नागराज का आगमन दिखाया गया है। इसमें नागराज दिखाने के लिये बुद्धजी की चौकी के सामने एक पांच फन वाला सर्प बनाया गया है१६। इनके अतिरिक्त और सब स्थानों पर जहां नाग-पूजक बौद्ध बनाये गये हैं, वे सब अधिकतर जल से ऊपर निकलते हुए दिखाये गये हैं। केवल ऊपर का भाग दिखाई पड़ता है, नीचे का भाग जल में है१७।

मथुरा कला में इन नाग मूर्त्तियों में कुछ विशेषता दिखाई गई है। सबसे प्रथम देव के मस्तक के पीछे एक अर्धचक्र में सप्त-फन का नाग खड़ा दिखाया गया है। मथुरा कला में अर्ध-चक्र का प्रवेश गान्धार कला का प्रभाव है। सर्प के फन बिलकुल साफ तौर से कभी आगे और अधिकतर पीछे दिखाये गये हैं। इस प्रकार से कलाकार ने नागदेव दिखाने के लिये सर्प के फनों के बीच में एक मनुष्य की मूर्त्ति बना दी है।

अमरावती में नागदेव इसी प्रकार दिखाये गये हैं किन्तु मथुरा कला से वह अधिक सुन्दर है। सर्प के फन एक दूसरे से अलग अलग दिखाये गये हैं और वे इस सुन्दरता से बनाये गये हैं कि वह मस्तक के

१५ वही पन्ना १६२। १६ फूचे : बोगेल के इण्डियन सरपेण्ट लोर से पन्ना ४०।
१७ फूचे : गान्धार मूर्त्तियां नम्बर १९४—६, २५१, २७०।

छत्र का काम देते हैं। कलाकार ने यह छत्र देव की पीठ के पीछे दिखाया अथवा सर्प के कण्ठ के ऊपर, यह बात अमरावती के एक बड़े पदक से प्रगट है जो आजकल विलायत के अजायबघर में है। इसमें नागराज और उनके साथी एक पत्थर के डिब्बे को पूजते दिखाये गये हैं जिसके अन्दर बुद्धजी की हड्डियां थीं। नाग कन्यायें कई दशाओं में खड़ी दिखाई गई हैं। वे उस सिंघासन के सम्मुख खड़ी हैं जिसपर वह पत्थर का डिब्बा रखा है। उनके पीछे से एक सर्प निकलता दिखाई पड़ता है[१८]।

इसलिये यह बात स्पष्ट है कि कुषाण काल में गान्धार, मथुरा और अमरावती जो तीन कला के केन्द्र थे, नाग मूर्त्तियां मनुष्य के रूप में दिखाई गई हैं। उनमें और बोधिसत्व की मूर्त्तियों में केवल भिन्नता इतनी ही थी कि नाग मूर्त्तियों के पीछे सर्प अवश्य दिखाया जाता था।

नाग की पूजा का कारण यह था कि प्रसन्न होने पर नाग देव तरह तरह की विभूतियां प्रदान करते थे पर साथ ही साथ उनमें दूसरे को नाश कर देने की भी शक्ति थी। कुषाण लेखों से पता चलता है कि उनकी स्तुति अथवा पूजा इसलिये की जाती थी कि उपासक का हित हो और उसके शत्रु का नाश हो[१९]। एक अंधविश्वास यह भी था कि उनकी पूजा से वंश बढ़ता है[२०]। इसके अतिरिक्त एक यह भी विश्वास था कि नागदेवों के पास तरह तरह की विभूतियां और तेज का भण्डार है। एक जातक में लिखा है[२१] कि प्रसन्न होने पर नागदेव विशाल हृदय वाले पुरुष को धन इत्यादि देते हैं और लालची को दंड देते हैं। कथा-सरित-सागर में लिखा है[२२] कि नाग वसुनेमी के पास एक वंशी थी जिसे उसने उदयन नाम के राजा को प्रदान की थी इस राजा ने वसुनेमी को एक जादूगर के हाथ से बचाया था। नागदेव की कृपा से वर्षा भी होती थी। इसीलिये कृषक उनकी पूजा करते थे। प्रसन्न होने पर वे इतनी वर्षा करते थे कि खूब कृषि फले फूले और क्रोधित होने पर ओले बरसाते थे[२३]।

इससे यह बात पूर्णतया सिद्ध हो गई कि नागदेवों की उपासना इसलिये की जाती थी कि उनमें दान देने और नाश करने की शक्ति थी। प्रसन्न होने पर वे धन प्रदान करते थे और क्रोधित होने पर नाश करते थे। एक कुषाण लेख से[२४] पता चलता है कि कौषिक वंश की एक स्त्री ने उनकी स्तुति पोटनय और शक जातियों को नष्ट करने के लिये की थी। यह नाग पूजा केवल कुषाण काल में ही नहीं होती थी। नाग मूर्त्तियां मिलने से मालूम पड़ता है कि यह पूजा बहुत काल तक भारत के भिन्न भिन्न स्थानों में होती रही। आज भी नागपंचमी के दिवस में प्रत्येक हिन्दू नागदेवता की पूजा करता है। इसके अतिरिक्त किसी शुभ कार्य के आरम्भ होते समय भी इनकी पूजा होती है जिससे वह कार्य पूर्णतया सफलता से समाप्त हो।

---

१८ फरगूसन : ट्री ऐण्ड सरपेण्ट वरशिप तसवीर ६२।

१९ एपीग्राफिया इण्डिका जिल्द १ नम्बर २२ पन्ना २९६।

२० क्रूरी हाथ बास्सी साउथ इण्डियन गाड्स ऐण्ड गाडिसस पन्ना २५१। २१ महावणिज जातक नं० ४१३।

२२ टानी का अनुवाद जिल्द १ पृ० ५५। २३ फोगल्स नागलेख जे० आर० ए० एस १९०१ पन्ना ४६१ से।

२४ एपीग्राफिया इण्डिका जिल्द १ नम्बर २२ पन्ना २९६।

मत्स्य-देश

कुमारी पद्मा मिश्र एम्. ए.

राजपूताना जिस प्रकार आजकल जोधपुर, जयपुर, उदयपुर आदि राज्यों में बटा हुआ है, उसी तरह प्राचीन काल में भी इसके कई छोटे छोटे विभाग थे। इन विभागों में सब से प्राचीन मत्स्य देश था, जिसका यह नामकरण वहां रहने वाली मत्स्य जाति के कारण ही हुआ था। हिन्दुस्तान के पुराने भूगोल की एक विशेषता यह है कि देशों तथा राज्यों के नाम वहां बसने वाली जातियों या राजाओं के नाम पर रखे जाते थे। मत्स्य देश के सम्बन्ध में भी यही हुआ था, क्योंकि इसका यह नाम मत्स्य जाति के अधिकार में होने से पड़ा। इस प्रान्त में रहने वाले मत्स्यों का नाम ऋग्वेद में भी पाया जाता है इससे हम इसे राजपूताने का सबसे पुराना विभाग कह सकते हैं। दाशराज्ञ युद्ध में भाग लेने वाली दूसरी जातियों के साथ इनका भी नाम एक ऋचा में मिलता है[1]। इस युद्ध में दस राजाओं और उनकी सेनाओं ने भाग लिया था। इन्हीं में मत्स्य भी थे। प्रारम्भ में इस ऋचा का अनुवाद विद्वानों ने ठीक से नहीं किया था, उन्होंने मत्स्य, अज, शिश्रु इत्यादि के अर्थ मछली, बकरा, सूली आदि किये थे। पर अब सब यह स्वीकार करते हैं कि ये जातीय-चिह्न के कारण पड़े हुए नाम हैं। इसलिए इस ऋचा में भी मत्स्य का तात्पर्य मत्स्य चिह्न वाली जाति है। इसमें सन्देह का कोई स्थान नहीं है क्योंकि ब्राह्मणों में तथा महाभारत आदि में इनका बराबर उल्लेख मिलता है। शतपथ-ब्राह्मण में अश्वमेध-यज्ञ करने वाले राजाओं के प्रसंग में मत्स्यों के राजा ध्वसन द्वैतवन का नाम दिया है[2]। गोपथ ब्राह्मण[3] में जातियों की एक सूची में इनका नाम शाल्व जाति के साथ मिलता है जिससे अनुमान होता है कि ये शाल्वों के समकालीन और पड़ोसी थे। कौषीतकी-उपनिषद् [4] में मत्स्य और वश, इन दोनों का नाम साथ साथ पाया जाता है जिससे इन दोनों के देशों का एक दूसरे के निकट होना सिद्ध होता है। महाभारत में अधिकतर चेदि और शूरसेनों के साथ इनका उल्लेख है। मह्र्षि देश की अन्य जातियों के साथ इनका नाम मिलता है, इसलिए ये आर्य-धर्म के कट्टर अनुयायी रहे होंगे, क्योंकि ब्रह्मर्षि-देश पवित्रता में ब्रह्मावर्त यानी देवों के निवास स्थान से कुछ ही कम था। मानवधर्मशास्त्र के प्रणेता मनु का कहना है कि मत्स्य, कुरु, पञ्चाल और शूरसेन

---

१ ऋग्वेद, ७, १८, ६।

२ शत० ब्राह्मण १३, ५, ४, ९।

३ गो० ब्रा० १, २, ९।

४ कौषी० उप० ४, १।

इन चार जातियों की निवास-भूमि का नाम ब्रह्मर्षि देश था[१]। उन्हीं मनु ने इनकी शूरता की प्रशंसा करते हुए कहा है कि मत्स्य शूरसेन इत्यादि इतने वीर हैं कि इन्हें सेना के अगले भाग में रखना चाहिये।[२]

इनकी यह प्रसिद्धि बौद्धों के प्रारम्भिक काल तक बनी रही। अंगुत्तरनिकाय ३ में जो सोलह महाजन पदों के नाम मिलते हैं उनमें से एक मत्स्य-देश भी है। जनवसभ सुत्तन्त[४] में गौतम बुद्ध के वाटिका में ठहरने का वर्णन करते हुए मत्स्य का भी नाम दिया गया है।

शतपथ-ब्राह्मण के उस वाक्य के बारे में ऊपर लिखा जा चुका है, जिसमें ध्वसन द्वैतवन का जिन्होंने द्वैतवन झील के किनारे अश्वमेध यज्ञ किया था, नाम मिलता है। उसी प्रकरण में लिखा है कि राजा ने ही उस झील का नाम द्वैतवन रखा था। उस समय यह झील अवश्य ही मत्स्यों के अधीन रही होगी। द्वैतवन झील का जो इसी नाम के जंगल में थी, महाभारत में कितनी ही बार उल्लेख है। वनवास के प्रारम्भ में पाण्डव इसी झील पर गये थे[५]। पाण्डवों के भ्रमण-वर्णन में इस झील के आसपास के प्रदेशों का वर्णन भी महाभारत में मिलता है, जिससे इसकी स्थिति का कुछ ज्ञान हो सकता है। पांडव तीर्थ-यात्रा के लिए झील से चले गये थे। अनेक वन, नदी और आश्रम आदि में घूमने के बाद जब वे झील पर लौटने लगे तो उन्हें एक जंगल पार करना पड़ा था, जिसके समाप्त होते ही रेगिस्तान आ गया। इस रेगिस्तान में सरस्वती नदी बहती थी, यहां से वे द्वैतवन पहुँच गये[१]। इससे मालूम होता है कि झील से सरस्वती नदी दूर न थी। यह झील किस जगह थी, अब इसके निर्णय करने का यत्न किया जाय। ऊपर कहा जा चुका है कि झील के चारों ओर एक रेगिस्तान था। जिसमें से होकर सरस्वती नदी बहती थी। यह विश्वास भी अब प्रमाणों द्वारा पुष्ट हो गया है कि सरस्वती राजपूताने के रेगिस्तान में लुप्त हो गयी है। ये सब बातें सांभर झील के सम्बन्ध में भी कही जा सकती हैं। यह झील जोधपुर और जयपुर की सीमा पर है और इसके चारों ओर अधिकतर रेगिस्तान ही है। लूनी जो सांभर से निकलती है शुरु में सागरमती कहलाती है और सरस्वती से मिलने पर लूनी हो जाती है[२]। इस तरह सरस्वती और सांभर का सामीप्य भी यहां है। सांभर का खारा पानी उसकी तली में किसी नमक की चट्टान के कारण नहीं है और इस भाग में किसी समय समुद्र रहा हो ऐसी भी सम्भावना नहीं है। इस खारे पानी का कारण तो वह मिट्टी है जो सांभर में गिरने वाली तीनों नदियां अपने साथ लाती हैं। इस मिट्टी की गहराई साठ से सत्तर फीट तक है। झील के पास ही मीठा पानी भी मिलता है, क्योंकि इसके पास तीन गांव हैं जिनमें नमक निकालने वाले रहते हैं। ईसा से २०० वर्ष पहले तक के खंडहर सांभर से चार मील दूर, स्वर्गीय दयाराम जी साहनी के निरीक्षण में की गई खुदाई में मिले हैं। ये खंडहर एक छोटी

---

१ मनुस्मृति २, १९। २ मनु. स्मृ. ७, १९३।

३ वोल्यूम १, पृष्ठ—२१३। ४ वो. २, पृष्ठ २००—१, २०१।

५ महाभारत—३, २४, १२। ६ महाभारत ३, १७७, २१।

७ इम्पीरियल गजटीयर आफ इंडिया, वोल्यूम २२, पृष्ठ १९।

झील के पास हैं, जिसका पानी सांभर झील के पास होने पर भी मीठा था। यह झील अब सूख गई है। इस तरह वहां प्राचीन समय से अब तक मीठे पानी के मिलने में कोई कठिनाई नहीं रही। यह सांभर झील ही महाभारत आदि में वर्णित द्वैतवन है। अब प्रश्न उठता है कि विराटनगर सांभर से मथुरा की अपेक्षा निकट है फिर पाण्डव वहां से होकर क्यों विराटनगर गये थे। महाभारत में द्वैतवन से मत्स्य की राजधानी विराटनगर तक का मार्ग दिया हुआ है। वनवास के १२ साल बीत जाने पर १ वर्ष के अज्ञातवास के लिए पाण्डव द्वैतवन से विराटनगर गये थे। जाते समय उन्हें जो जो देश पार करना पड़ा वे महाभारत में मिलते हैं१। पाण्डवों का मार्ग यकृल्लोम और शूरसेनों के राज्य में से होकर गया था और दशार्ण उनके दक्षिण में थे तथा पञ्चाल उत्तर में। जंगल पार करने पर वे विराट नगर के आसपास के खेतों में पहुँच गये थे। विराटनगर वहां से बिलकुल पास था। इस लम्बे मार्ग को ग्रहण करने का कारण यही हो सकता है कि मत्स्यों की राजधानी विराटनगर के चारों तरफ बहुत घना जंगल रहा होगा, जिसे मथुरा की ओर से पार करना सहज था, इसीलिए पाण्डव उस तरफ से गये थे। शतपथ ब्राह्मण के समय में मत्स्य-देश की सीमा सांभर तक थी, पर महाभारत के समय यह झील उनके हाथ से निकल गई थी। कनिंघम२ पुरातत्त्व की अपनी रिपोर्ट में लिखते हैं कि जमुना और अलवर की अरावली पहाड़ी के बीच की सारी भूमि मत्स्य, दशार्ण और शूरसेन जातियों में बँटी हुई थी। इस प्रदेश का पश्चिमी भाग मत्स्यों के आधीन था, पूर्व में शूरसेन थे, और दक्षिण तथा दक्षिण पूर्व में दशार्ण। मनु ने मत्स्य-देश को ब्रह्मर्षि-देश के अन्तर्गत माना है। इस देश में कुरु, पञ्चाल, मत्स्य और शूरसेन ये चार जातियां रहती थी। रैपसन ३ के अनुसार जिन प्रदेशों पर मत्स्यों का अधिकार था, वे थे अलवर, भरतपुर और जयपुर।

अगर हम जयपुर से कुछ दूर उत्तर में स्थित वैराट को विराटनगर मान ले तो इसका उल्लेख बराबर मिलता रहता है। सबसे पहले तो चीनी यात्री हुयेनसांग इसका नाम अपनी यात्रा के वर्णन में देते हैं। ये हर्षवर्धन के समय हिन्दुस्तान आये थे और इन्होंने यहां अच्छी तरह भ्रमण किया था। उसी का रोचक वर्णन इन्होंने लिखा है जिसकी सहायता से अनेक प्राचीन नगरों की पहचान का निर्णय किया जाता है। इन्होंने पोलियेतोलो का जो हाल चाल दिया है, वह वैराट की उस समय की अवस्था से ठीक-ठीक मिलता है। इसीलिये रेनो आदि विद्वानों ने पोलियेतोलो को पारयात्र या वैराट मान लिया है। उस समय इस राज्य की सीमा बहुत कम हो गई थी और यह वैराट कहलाता था। फिर इसका उल्लेख ग्यारहवीं शताब्दी में मिलता है जब महमूद गज़नवी ने सन् १०१४ में इस पर चढ़ाई की थी और इस नगर को तहस नहस कर दिया था। इसके बाद यह उजड़ ही गया और मुगलों के राज्य-काल में यह नगर फिर से बसा और आईने-अकबरी में तांबे की खानों के लिये इसका नाम पाया जाता है।४

---

१ महाभारत ४, ५, ४। २ कनिंघम, आरक्योलोजिकल सर्वे आफ इंडिया, वोल्यूम २०, पृष्ठ २।

३ रैप्सन, एनशेंट हिस्ट्री पृष्ठ ५०, ५१। ४ आरक्योलोजिकल रिपोर्ट, वोल्यूम २, पृष्ठ २४४।

जायसी-वर्णित भारतवर्ष की सामाजिक अवस्था

कालिदास मुकरजी, एम ए., एम. आर. ए. एस. (लन्दन)

कवि ही काल का प्रतिनिधि एवं शिक्षक है—साहित्य में ही मानव-जीवन तथा समाज का चित्र खिंचा हुआ रहता है। मलिक मुहम्मद जायसी ने सन् १५४० ई० के लगभग पदमावत की कथा लिखी थी। इस कथा का पूर्वार्द्ध तो केवल कवि की कल्पना मात्र है—शेष ऐतिहासिकाधार पर लिखा हुआ है। पद्मावती—अथवा सर्व-लोकप्रिय उस चारु नाम से ही पदिमनी कहिये—की कथा तो छोटे-छोटे बच्चे भी जानते हैं, अतएव उसकी यहां आवृत्ति करना निरर्थक है। हां, उस कवि की सूक्ष्म-दृष्टि तथा काव्य की बलिहारी है जिससे कि पद्मावती का नाम बगाली और विशेषतः बग-भाषा-भाषी मुसलमान भी जानते हैं। इसका श्रेय है अलावल को जिस ने कि पद्मावत का बगानुवाद किया था।

मलिक मुहम्मद जायसी ने पदमावत में सन् १५४० के लगभग भारतवर्ष की सामाजिक अवस्था उस समय की रीति नीति इत्यादि कई विषयों पर आभास दिया है, नीचे उन पर सक्षेप में आलोचना की जा रही है :—

जन्मोत्सव—जन्मोत्सव मनाना एक प्राचीन-प्रथा है, किन्तु जायसी ने मुसलमान होकर हिन्दुओं को जन्मोत्सव-कार्यप्रणाली की जो तालिका दी है वह वास्तव में सराहनीय है। छठी या छट्ठी की प्रथा, तदनंतर पडितों का नव-जात-शिशु की जन्म-कुण्डली बनाना, राशि-चक्रादि पर मन्तव्य प्रकट करना आदि प्रसंग पद्मावती तथा कुछ-कुछ रत्नसेन एव उसके पुत्रों के जन्मोत्सव-अवसर पर दर्शाया गया है। साथ ही साथ गरीब-ब्राह्मणों को दानादि देना पुरानी-प्रथा की पुनरावृत्ति सी है।

विवाहः—रत्नसेन-पद्मावती-विवाह-खड में हिन्दू-विवाह अवसर की साधारण नियमावली पर प्रकाश डाला गया है। स्त्री-आचार पर भी अच्छा वर्णन पाया जाता है परन्तु जायसी-कृत विवाह वर्णन को हम विस्तृत नहीं कह सकते हैं। कई प्रसंगों का यथोचित उल्लेख नहीं हो पाया है, देखिये :—

लगन धरा औ रचा बियाहू। सिंघल नेवत फिरा सब काहू॥
बाजन बाजे कोटि पचासा। भा अनन्द सगरौं कैलासा॥

× × ×

पांवरि तजहु, देहु पग पौरि जो बांक तुखार ।
बांधि मौर, सिर छत्र देहु, बेगि होहु असवार ॥

× × ×

आइ बजावति बैठि बराता । पान, फूल, सेंदुर सब राता ॥
जंह सोने कर चित्तर-सारी । लेइ बरात सब तहां उतारी ॥
मांझ सिंघासन पाट सवारा । दूलह आनि तहां बैसारा ॥

× × ×

कंचन-कलस नीर भरि धरा । इन्द्र पास आनी अपछरा ॥
गांठि दुलह दुलहिनि कै जोरी । दुऔ जगत जो जाइ न छोरी ॥
वेद पढ़त पंडित तेहि ठाऊं । कन्या तुला रासि लेइ नाऊं ॥

× × ×

दुऔ नांव लै गावहिं बारा । करहिं सो पदमिनि मंगलवारा ॥
चांद के हाथ दीन्ह जयमाला । चांद आनि सूरज गिउ घाला ॥
सूरज लीन्ह, चांद पहिराई । हार नखत-तरइन्ह स्यों पाई ॥
पुनि धनि भरि अंजुलि जल लीन्हा । जोबन जनम कंत कंह दीन्हा ॥
कत लीन्ह, दीन्हा धनि हाथा । जोरी गांठि दुऔ एक साथा ॥
चांद सुरुज सत भांवरि लेहीं । नखत मोति नेवछावरि देहीं ॥
फिरहिं दुऔ सत फेर, घुटै कै । सातहु फेर गांठि सो एकै ॥
भइ भांवरि, नेवछावरि, राज चार सब कीन्ह ।
दायज कहौं कहां लगि ? लिखि न जाइ जत दीन्ह ॥
रतनसेन जब दायज पावा । गंध्रबसेन आइ सिर नावा ॥

विवाह अवसर पर दावत का भी विस्तृत-वर्णन दिया हुआ है। भोजन के समय वाद्य की एकान्त आवश्यकता थी क्योंकि "जेंवन आवा, बीन न बाजा । बिनु बाजन नहिं जेंवै राजा ॥" हिन्दुओं के खाद्य-पदार्थ पर भी जायसी ने बहुत कुछ कहा है, उनमें से कुछ नीचे दिया जा रहा है :—

पहिले भात परोसे आना । जनहुं सुबास कपूर-बसाना ॥
झालर मांड़े आए पोई । देखत उजर पाग जस धोई ॥
लुचुई और सोहारी धरी । एक तौ ताती औ सुठि कोंवरी ॥

खंडरा बचका औ डुभकौरी। बरी एकोतर सौ, कोहंडौरी ॥
पुनि सधाने आए बसांघे। दूध दही के मुरंडा बांधे ॥

× × ×

भांति भांति सीम्हीं तरकारी। कइउ भांति कोहंडन्ह कै फारी ॥
बने आनि लौआ परबती। रयता कीन्ह काटि रती रती ॥
चूक लाइ कै रींधे भांटा। अरई कहं भल अरहन बाटा ॥
तोरई, चिचिड़ा, डेंडसी तरी। जीर धुंगार झार सब भरी ॥
परवर कुंदरू भूंजे ठाढ़े। बहुतै घिउ महं चुरमुर काढ़े ॥
करूई काढ़ि करैला काटे। आदी मेलि तरे कै खाटे ॥
रींधे ठाढ़ सेब के फारा। छौंकि साग पुनि सोंध उतारा ॥

× × ×

जेंवत अधिक सुबासित, मुंह महं परत बिलाइ।
सहस स्वाद सो पावै एक कौर जो खाइ ॥

इसके अतिरिक्त खाद्य पदार्थ पर विशेषतः मुसलमानों के बहुत विस्तृत वर्णन दिया हुआ है।

सोहागरातः—विवाह एव दावत के पश्चात् सोहागरात पर भी जायसी ने संक्षेप में कहा है, इस पर पाठकों को विशेष कुछ सूचित करना नहीं है।

वेश-भूषा :—जायसी ने अपने समय की वेश-भूषा पर भी संकेत किया है। स्त्रियां चोली पहनती थीं, हाथ पैरादि में जेवर पहनने के अतिरिक्त सिर भी गहनों से सजाया जाता था :—

तारा-मंडल पहिरि भल चोला। भरे सीस सब नखत अमोला ॥

× × ×

सब राजा रायन्ह कै बारी। बरन बरन पहिरे सब सारी ॥

× × ×

"चिहुर चुईं मोतिन कै माला। ....॥"

× × ×

स्रवन सीप दुइ दीप संवारे। कुण्डल कनक रचे उजियारे ॥
मनि-कुण्डल झलकैं अति लोने। जनु कौंधा लौकहि दुइ कोने ॥

× × ×

पहिरे खुंभी सिंघल दीपी । ....॥

× × ×

औ पहिरे नग-जरी अंगूठी । ....॥

× × ×

बाहूं कंगन, टाड़ सलोनी । ....॥

उन दिनों में भी बेनी गुंथने की प्रथा थीः—

"बेनी नाग मलयगिरि पैठी । ससि माथे होइ दूइज बैठी ॥"

विभिन्न ऋतुओं में वेश भी विभिन्न हुआ करता था :—

ग्रीष्म-ऋतु में :—

पहिरि सुरंग चीर धनि झीना । परिमल मेद रहा तन भीना ॥

बरसात में :—

हरियर भूमि, कुसुम्भी चोला । औ धनि पिउ संग रचा हिंडोला ॥

शिशिर ऋतु में :—

सौंर सुपेती मंदिर राती । दगल चीर पहिरहिं बहु भांती ॥

जायसी ने योगी का वेश यों दर्शाया है :—

तजा राज, राजा भा जोगी । औ किंगरी कर गहेउ बियोगी ॥

तन बिसंभर, मन बाउर लटा । अरुझा पेम, परी सिर जटा ॥

चन्द्र-वदन औ चंदन देहा । भसम चढ़ाई कीन्ह तन खेहा ॥

मेखल, सिंघी, चक्र, धंधारी । जोगबाट, रुदराछ, अधारी ॥

कंथा पहिरि दंड कर गहा । ....॥

मुद्रा स्रवन, कंठ जपमाला । कर उदपान, कांध बघछाला ॥

पांवरि पांव, दीन्ह सिर छाता । खप्पर लीन्ह भेस करि राता ॥

× × ×

योगिनी का वेश यों दिया गया है :—

मुद्रा स्रवन, नाहिं थिर जीऊ । तन तिरसूल, अधारी पीऊ ॥

योगी एवं योगिनी के वेश में पार्थक्य बहुत कम है ।

उन दिनों में ब्राह्मण का वेश निम्न लिखित सा थाः—

तिलक दुवादस मस्तक कीन्हे । हाथ कनक-बैसाखी लीन्हे ॥
मुद्रा स्रवन, जनेऊ कांधे । कनक-पत्र धोती तर बांधे ॥

× × ×

स्त्रियों की विविध रीति-नीतिः—

देव-मूर्त्ति को साधारणतः पवित्र जल से ही नहाने की प्रथा चली आ रही है। जहां नदी न हो कुण्ड अथवा तालाब का पानी ही पूजा के लिये उपयोग किया करते हैं ; परन्तु जायसी लिखते हैं :—

अपने हाथ देव नहवावा । कलस सहस इक घिरित भरावा ॥

सम्भवतः राजाओं के यहां यह प्रथा होगी ।

स्त्रियां उन दिनों में भी मेहँदी से हाथ पैर रगाया करती थीं—"सहजहि जानहु मेहँदी रची ।"

सास-ननद का डर तो शताब्दियों से बना हुआ है :—

"सासु-ननद बोलिन्ह जिउ लेहीं । दारन ससुर न निसरै देहीं ॥"

इसके अतिरिक्त सौतों की लड़ाई तो आजन्म बनी हुई है—

"सही न जाइ सवति कै झारा" ।

उपर्युक्त वर्णन से हम जायसी के समय की सामाजिक अवस्था का कुछ कुछ अनुमान कर सकते हैं । इसके अतिरिक्त अन्यान्य विविध-विषयों पर जायसी ने लिखा है :—

लोग शुभ-मुहुर्त में ही यात्रा करना चाहते थे ताकि राह में कोई विघ्न-बाधा न आ उपस्थित हो । इस प्रसग पर जायसी ने योगिणी-विचारादि पर कई पृष्ट रग डाला है, उदाहरण स्वरूप नीचे कुछ दिया जा रहा है :—

पत्रा काढ़ि गवन दिन देखहिं, कौन दिवस दहु चाल ।
दिसासूल, चक जोगिनी सौंह न चलिए, काल ॥
आदित सूक पच्छिउं दिसि राहू । बीफै दखिन लंक-दिसि दाहू ॥
सोम सनीचर पुरब न चालू । मंगर बुद्ध उतर दिसि कालू ॥
अवसि चला चाहै जौ कोई । ओषद कहौं, रोग नहिं होई ॥
मंगल चलत मेल मुख धनिया । चलत सोम देखै दरपनिया ॥
सूकहिं चलत मेल मुख राई । बीफै चलै दखिन गुड़ खाई ॥
आदित तंबोल मेलि मुख मडै । बायबिरंग सनीचर खंडै ॥
बुद्धहि दही चलहु करि भोजन । ओषद इहै, और नहिं खोजन ॥

उन दिनों में भी ऋण लेने की प्रथा थी—

—"ऋन काहू सन लीन्हेसी काढ़ि"। और "गुनी, गारुड़ी, ओझा, तथा बैद्य" ही विख्यात चिकित्सक थे। लोग जूता भी पहना करते थे—"पांयन पहिरि लेहु सब पौंरी। कांट धसैं, न गड़ै अंकरौरी॥" पीपावली का उत्सव भी मनाया जाता था—"अबहूं, निठुर! आउ एहि बारा। देवारी होइ संसारा॥" हास्यास्पद तो यह है कि उन दिनों में भी :—

जगन्नाथ कहं देखा आई। भोजन रींधा भात बिकाई॥

इसके अतिरिक्त जायसी ने लिखा है—

पुनि सिंगार हाट भल देसा। किए सिंगार बैठीं तहं बेसा॥
मुख तमोल, तन चीर कुसुंभी। कानन कनक जड़ाऊ खुंभी॥
हाथ बीन सुनि मिरिग भुलाहीं। नर मोहहिं सुनि, पैग न जाहीं॥

लोग जादू-टोने में भी विश्वास करते थे :—

एहि कर गुरू चमारिनि लोना। सिखा कांवरू पाढ़न टोना॥ इत्यादि

इस लेख में सन् १५४० ई० के लगभग जायसी के वर्णनानुसार भारतवर्ष के जनसाधारण की सामाजिक रीति-नीति पर कुछ प्रकाश डालने की प्रचेष्टा की गई है। कई एक विषय छूट गये हैं। त्रुटियां भी अनेक हैं, आशा है विद्वान् पाठक क्षमा करेंगे। राजा तथा बादशाह आदि के प्रसंग पर—राजसभा, सेना, राजाओं के आचार व्यवहार, युद्ध वर्णन आदि पर फिर कभी लिखूंगा। यहां यह कह देना आवश्यक है कि जायसी ने राजकन्या-पद्मावती तथा उनकी सहेलियों आदि पर ही लिखा है अतएव इस लेख में गरीब-दुखियों की चाल-चलन, प्राचीन-गृहस्थी-पूजा आदि जैसा कि बंगला में "मनसा-मंगल" एवं कबीर की वाणी में परिलक्षित होता है पाया जाना असम्भव है।

———

अवतार

श्रीमत्स्वामी जी श्रीशंकर तीर्थ जी महाराज

"अवपूर्वक तृत्यवनतरणयोः" इस धातु का पैरना और पार हो जाना यह अर्थ प्रतीत होता है, जो कि पाणिन्यादि महर्षियों को माननीय है। उसी अर्थ में वर्तमान तृ धातु से "ऋदोरप्" इस सूत्र को बाधा कर "अवे तृस्त्रोर्घञ्" इस सूत्र से घञ् "अचोञ्णिति" से वृद्धि करने से अवतार, इसकी (कृत्तद्धित समासाश्च) से प्रातिपदिक संज्ञा के होते हुए "ङ्याप् आति पदिकात्" से प्रथमा का एक वचन 'सु' आया तो (अवतार+सु) इस अवस्था में "ससजुषोरः" से रुत्व और "खरवसानयोर्विसर्जनीयः" से विसर्ग करने पर अवतारः सिद्ध हुआ है। इसका अर्थ प्रदुर्भवन याने प्रकट होना यह होता है। जैसे कि जलजन्तु जल में पैरा करते हैं और पैरते-पैरते जल के किनारे कभी-कभी टिकने से उनको सर्व प्राणी देखते हुए कहते हैं कि यह अमुक जीव है, और जब वह जलजन्तु अपने कार्य वश जल में प्रवेश कर जाते हैं, तब उनको कोई प्राणी नही देखता है। उसी प्रकार यह संसार समुद्र है, इसी में वह चराचर नायक सर्व व्यापी होकर सबों के भीतर पैरा करता है और जब पैरते पैरते राम, कृष्णादि रूपों से प्रकट हो जाते हैं, तब उनको देखकर सब भक्त लोग अर्चन बन्दनादि करते हुए परमोपासनीय समझते हैं, और इसी को सर्वमहात्माजन 'अवतार' मानते हैं।

अवतार कितने हैं ? इस आशङ्का में सर्वमान्य ऋग्वेद कहता है—

"रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शतादश ॥"

वही परमात्मा अपने में स्थित अव्याहत ज्ञान बलवीर्यादि अनन्त अमोघ शक्तियों से अनेक राम कृष्णादि रूपों से प्रतीयमान होता है। सो वह परमात्मा ऐसा किस लिए प्रकट होता है ? इसको 'वेद' स्वयं ही समाधान करता है कि "तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय" वह परमेश्वर अपने भक्तों को दर्शन कराने के लिए ही इन रूपों को धारते हैं। यदि भक्तों को दर्शन कराने के लिये ही रूप धरते हैं तो एक सर्व मनोरञ्जक परम रमणीय रूप धारण न करके इतने रूपों को वे क्यों ग्रहण करते हैं ? इसका जवाब स्वयं श्रुति कहती है कि "रूपं रूपं प्रतिरूपं बभूव" वह परमेश्वर रूप-रूप के प्रतिरूप होता हुआ याने हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, रावणादि दैत्यों के बध के लिए जो जो अपेक्षित मारणीय रूप था उस उस रूप से प्रकट होकर श्री भगवान् ने सब दुष्ट दैत्यों का संहार किया और उन्होंने अपने भक्तों की रक्षा की—अर्थात् जिस समय दैत्यवीर हिरण्याक्ष पृथ्वी को हर ले गया था, उस समय ब्रह्मा जी की नासिका के

बिवर से अंगुष्ठ प्रमाण बाराह तनु को धारण कर प्रकट हुए और क्षण में गजेन्द्र के समान होकर जल में घुस गये और हिरण्याक्ष का विनाश कर उन्होंने पृथ्वी देवी का उद्धार किया; फिर अपने भक्त प्रह्लाद की रक्षा करता हुआ खंभ से प्रकट होकर नरसिंह रूपधारी श्री भगवान् ने हिरण्यकशिपु का विनाश किया; ऐसे ही मारणीय रावण रूप के प्रति द्विभुज मनुष्याकार राम रूप धारण कर बानरी सेना के सहारा से रावण का विनाश किया। इसी प्रकार वह प्रभु परमात्मा अंश, कला, पूर्ण, तथा विभूतिभेदों से अनेक रूपों को धारते हैं। कितने रूपों को प्रभु ने धारण किया? इस आशंका में वेद स्वयं कहता है "युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश"—इस परमात्मा के सैकड़ों रूप भक्तों के दुःख हरने के लिये नियुक्त हैं, और दश अवतार मुख्य कर के समझे जाते हैं। इस मन्त्रमें 'शत' शब्द अनन्त का वाची है।

बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है—

"अयं वै हरयो दश च सहस्राणि चानन्तानि बहूनि च।"

इसी परमात्मा ने भक्तों के दुःख हरनेवाले दश अवतारों को ग्रहण किया और इसी ने हज़ार अवतारों को लिया और इसी ने अनन्त अवतारों को तथा बहुत से अवतारों को धारण किया।

जो दश अवतार प्रधानता से माने जाते हैं उन के विषय में पुराण में यह लिखा कहा है—

"मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नृसिंहो वामनस्तथा।
रामो रामश्च रामश्च बुद्धः कल्की दश स्मृताः॥

यहां 'पुराण' शब्द पर विचार करना है। बहुत से कुतर्कवादियों ने पुराण शब्द का "पुरा-नव भवतीति पुराणम्" ऐसी व्युत्पत्ति की है, सो सर्वथा असंगत है, क्यों कि "स्यात्प्रबन्धे चिरातीते निकटागामिके पुरा" इस अमर कोषके प्रमाण से अधिकरण शक्ति प्रधान 'पुरा' शब्द है और अस्तिक्रियाप्रधान 'नव' शब्द है, तो छः समासों में से कोई समास नहीं हो सकता है; और "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टं" इस सूत्र से जो पूर्वपद में वर्ण का नाश होता था, सो यहां उत्तर पद में व-कार का नाश किया जाता है और "समानपदे" इस नियम से ण-कार भी नहीं हो सकता है, इसी से राम नाम वा रघुनाथ इन प्रयोगों में णकार नहीं होता है। इसलिए ऐसी व्युत्पत्ति विद्वानों को नहीं मानना चाहिये।

"पुरातीतागत वर्धा वर्णति" इस विग्रह में (पुरा पूर्वक "अण्शब्दे" भ्वा० प० से) पचादिगण मानकर 'अच्' प्रत्यय करने से 'पुराणं' सिद्ध होता है, यह जातिनिर्देश है। इसके प्रमाण में महर्षि पतंजलि ने कहा है कि "चत्वारो वेदाः सांगाः सरहस्या वा को वाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यकमिति"—चार वेद, उपवेद षट्शास्त्र, उपनिषद्, ब्राह्मणभाग, भारतादि इतिहास, ब्रह्मवैवर्तादि अष्टादश पुराण व उपपुराण तथा वैद्यक, इन सबों को भाष्यकार ने अलग अलग करके निरूपण किया है। इस से ज्ञात होता है कि पुराण शब्द से भगवान् व्यास रचित अष्टादश पुराणों का ही ग्रहण किया जाता है। पुराण व वेदों के विषय की प्रमाण नीचे लिखते हैं—

अंगानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः ।
धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥
आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः ।
शिल्प शास्त्रं चतुर्थन्तु विद्याह्यष्टादशैव ताः ॥

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द ये छः वेदों के हृदय, हाथ, मुख, कान, नेत्र और चरण ये छः अंग हैं, और ऋग्, यजुः, साम और अथर्व ये चार वेद तथा मीमांसाशास्त्र, न्यायशास्त्र, धर्मशास्त्र और छत्तीस पुराण ये चौदह विद्या हैं और आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्व वेद तथा शिल्पशास्त्र, इन सबों को मिलाकर अठारह होते हैं।

पुराणों के लक्षणों को कहते हैं—

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थान पोषण मूतयः ।
मन्वन्तरे शानु कथा निरोधो मुक्तिराश्रयः ॥

सर्ग, विसर्ग स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय—इन दस बातों का वर्णन जिन ग्रन्थों में किया जावे, उन को पुराण कहते हैं। ("ऊतयः कर्मवासनाः"—वेदविहित संपूर्ण सत्यधर्म से कर्म करने की अभिलाषा को 'ऊति' कहते हैं)।

इन दस बातों का लक्षण तथा अठारह पुराणों और अठारह उपपुराणोंके नाम और सब के श्लोक संख्या भी शास्त्रों में निर्देश किया गया है। इन सब पुराणों और उपपुराणों में वेदार्थ होने से प्रमाण मानना चाहिये।]

जिसमें सर्व भूतों का आवास (स्थान) है, जो कि अजर अमर अविकार निराधार अपार सर्व समत है और जो सगुण और निर्गुण भेदों से दो प्रकार का सकल शास्त्रकारों ने कहा है, वह सर्वान्तर्यामी व्यापक ने सगुण रूप से त्रिगुणात्मिका माया को साथी कर ("एकोऽहं बहु स्याम्") 'अकेला हूं बहुत रूप से हो जाऊं' इस विचार से सतोगुणी विष्णु, रजोगुणी ब्रह्मा और तमोगुणी रुद्र इन रूपों से तीन रूप वाला हो जाता है, जो कि विष्णु रूप से लक्ष्मीकान्त होकर सारे संसार को पालता है वह रजोगुण से सरस्वती का स्वामी होकर ब्रह्मा जी के रूप से इस चराचर जगत को उत्पन्न करता है और जो तमोगुण से महा काली का नायक होकर रुद्र-रूप से विश्व का संहार करता है। ये तीनों देवता एक ही रूप होकर अपने अपने कार्यों के करने में भिन्न-भिन्न प्रतीयमान होते हैं। इन तीनों में से श्री विष्णु भगवान् जी ही प्रायः अवतार को लेते हैं। श्री मद्भागवत्गीता में उन्हीं का वचन लिखा है—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानम धर्मस्य
तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥"

जब जब धर्म की हानि होती है और अधर्म बढ़ता है, तब तब मैं अपनी अवतार को धारता हूँ तथा साधुओं की रक्षा करने के लिए और दुष्टों को नाश करने के लिये और धर्म के भलीभांति स्थापना के लिए सब युगों में जन्म लेता हूँ, याने अवतार को धारता हूँ।

भक्त शिरोमणि पण्डितवर जयदेव कवि ने 'गीतगोविन्द' में कहा है—

"वेदानुद्धरते जगन्ति वहते भूगोल मुद्बिभ्रते दैत्य दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते।
पौलस्त्यं जयते हल कलयते कारुण्यमातन्वते म्लेच्छान् मूर्च्छयते दशाकृति कृते कृष्णाय तुभ्यं नमः॥"

जिसने मीन रूप से वेदों का उद्धार किया, जिसने कूर्म रूपसे जगत् का धारण किया, जिसने बाराह रूप से वसुंधरा देवी का रक्षण किया, जिसने नृसिंह रूप से अपने भक्त प्रह्लाद की रक्षा कर हिरण्य कशिपु का विनाश किया, जिसने वामन रूप से बलि को छला, जिसने परशुराम रूप से इक्कीस बार क्षत्रियों का क्षय किया, जिसने राम रूप से रावण का निपात किया, जिसने बलराम रूप से हल के द्वारा यमुना के कुल को खींचा, जिसने बौद्ध रूप से दया का विस्तार किया और जिसने कल्की रूप से म्लेच्छों को मोहित किया—ऐसे दश अवतार धारने वाले श्याम रूप भगवान् को नमस्कार है।

यह दश अवतार उस परमेश्वर के मुख्यतम् हैं जो कि अखिल देहधारियों को मानना चाहिए।

जो कि सर्व व्यापी निरंजन निराकार निराधार अपार सर्व समत निर्गुण ब्रह्म है, उसकी प्रतिमा का न होना सबों का मन्तव्य है। वेद में कहा है—"न तस्य प्रतिमास्ति यस्य नाम महद्यशः" जिसका महायश नाम है उसकी प्रतिमा नहीं है वह प्रतिमाशून्य होकर काया रहित है। पुराणों में भी "अप्रतिम निरीहम्" ऐसा कहा है, उसकी मूर्ति कदापि नहीं हो सकती। परन्तु सगुण ब्रह्म को प्रतिमा हो सकती है, जिसका अनेकानेक प्रमाणों वेदादि शास्त्रों में हैं। इस सगुण ब्रह्म से ही अवतार प्रकट होता है, निर्गुण ब्रह्म से नहीं। तब अधिष्ठान सत्ता (सामान्य सत्ता) पर दृष्टि रखकर कहा जा सकता है कि परं ब्रह्म ही अवतार लेता है, परन्तु यह कष्ट कल्पना है। ओं

अचिन्त्या व्यक्तरूपाय निर्गुणाय गुणात्मने।
समस्त जगदाधार मूर्तये ब्रह्मणे नमः॥

विविध-विषय

ऋग्वेद भाष्यकार वेङ्कटमाधव का काल

(सन् ९७० के समीप)

वेङ्कटमाधव ऋग्वेद का एक प्रसिद्ध भाष्यकार था। उस का भाष्य त्रिवन्द्रम से सन् १९२९ में मुद्रित होना प्रारम्भ हुआ था। आज सन् १९४१ तक उसका प्रथमाष्टक भी मुद्रित नहीं हो सका। तत्पश्चात् डा० लक्ष्मण सरूप ने इस भाष्य का सम्पादन आरम्भ किया। डा० लक्ष्मण सरूप के संस्करण का प्रथममण्डल दो भागों में लाहौर से प्रकाशित हो चुका है।[1] वे० मा० के काल के विषय में डा० लक्ष्मण सरूप का मत है कि वह दशम शताब्दी ईसा के समीप ही हुआ होगा। लगभग वही मत डा० कुह्नन् राज का भी है। पण्डित साम्बशिव शास्त्री के अनुसार वे० माधव का काल सन् १०५०—११५० तक का है। इन सब मतों का विस्तृत उल्लेख हम अपने वैदिक वाङ्मय के इतिहास में कर चुके हैं।[2]

ऋग्वेद भाष्य अध्याय ६० के अन्त में वेङ्कटमाधव अपने को चोल देश वासी लिखता है। अध्याय ५९ के भाष्य के अन्त में वह लिखता है—

एकोनषष्टमध्यायं व्याकरोदिति माधवः।
जगतामेकवीरस्य विषये निवसत्सुखम् ॥

इस श्लोक से हम ने अनुमान किया था कि वेङ्कटमाधव किसी **वीर** चोल अथवा **एकवीर** चोल के राज्यकाल में हुआ था।[3] वीर नाम के पांच चोल राजा सन् १०६२—१२५५ तक हो चुके हैं। अतः वेङ्कटमाधव का काल सन् १२५५ के पश्चात् का नहीं हो सकता, ऐसा हम ने लिखा था।

अब हम ऐसी सामग्री उपस्थित करते हैं कि जिससे वे० मा० का काल निश्चित रूप से जाना जा सकता है।

वे० मा० स्वयं लिखता है कि वह "जगतामेकवीरस्य" के राज्यकाल में अपना भाष्य लिख रहा है। जगदेकवीर नाम का एक अत्यन्त प्रसिद्ध, विजयी महाराजाधिराज

१, प्रकाशक—मोती लाल, बनारसी दास, सैदमिट्ठा, लाहौर।

२, भाग प्रथम, खण्ड दूसरा, पृ० ३१, ३२।

३, वै० वा० का इतिहास भा० १, ख० २, पृ० ३१।

दक्षिण में हो चुका है। उस का राज्य चेर, चोल और पाण्ड्य आदि देशों पर था। उस का नाम कोंगुणी वर्मा था। जगदेकवीर के अतिरिक्त उस की अन्य अनेक उपाधियां थीं। उस की मृत्यु सन् ९७५ ईसा में हुई।४। जगदेकवीर का वर्णन करने वाले सन् ९८३ के श्रवण बेलगोल के एक शिलालेख की कुछ पंक्तियां नीचे लिखी जाती हैं। इन पंक्तियों में जगदेकवीर के मन्त्री चामुण्डराज की कीर्ति गाई गई है—

ब्रह्मक्षत्रकुलाकराचल भव श्रीहारवल्लीमणिः
ब्रह्मक्षत्रकुलाग्निचण्डपवनश्चामुण्डराजोऽजनि ॥
कल्पान्तक्षुभिताब्धिभीषणबलं पातालमल्लानुजम्
जेतुं वज्जलदेवमुद्यतभुजस्येन्द्रक्षितीन्द्राज्ञया ।
पत्युः श्रीजगदेकवीरनृपतेर्ज्जैत्रद्विपस्याग्रतो
धावद्दन्तिनि यत्र भग्नमहतानीकं मृगानीकवत् ॥
तं जेतुं जगदेकवीरनृपते त्वत्तेजसीतिक्षणान्
निर्व्यूढ रणसिंहपार्थिवरणे येनोर्ज्जितं गर्ज्जितम् ॥ ४

चामुण्डराय का रचा हुआ एक चामुण्डराय पुराण भी उपलब्ध है। उस के अन्त में ईश्वर नाम शक सवत्सर ९०० (९७८ ईस्वी) तिथि दी हुई है।५ इस तिथि से भी जगदेकवीर की पूर्व दी हुई तिथि ही सुनिश्चित होती है।

चामुण्डराज का विस्तृत वर्णन जैन साहित्य संशोधक खण्ड १, अंक ४ में मिलता है।६ हमारी पूर्वलिखित पंक्तियों का आधार वही लेख है।

जगदेकवीर चरित—सन् १९३८ में त्रिवन्दरम से सूक्ति-रत्नहार नाम का एक सूक्ति ग्रन्थ मुद्रित हुआ है। उस में जगदेकवीर चरित से दो श्लोक उद्धृत किए गए हैं७। एक श्लोक वीर चरित से भी उद्धृत किया गया है८। वह श्लोक भी जगदेकवीर सम्बन्धी ही प्रतीत होता है। सभव है यह ग्रन्थ दक्षिण के किसी पुस्तकालय में अब भी मिल जाए।

इस लेख से यह निश्चित होता है कि वेङ्कटमाधव सन् ९७० के समीप अपना भाष्य लिख रहा था।

पण्डित भगवद् दत्त

---

४. लुइस राइस रचित, श्रवण बेलगोल के शिलालेख, भूमिका और शिलालेख संख्या ३८। तथा एपिग्राफिया इण्डिका भाग ५, शिलालेख संख्या १८।

५. लुइस राइस रचित, श्रवण बेलगोल के शिलालेख, पृष्ठ ८५।

६. लुइस राइस के ग्रन्थ की भूमिका, पृ० २२।

७. पृ० ११०-११२। ८. पृ० २५१, २५४। ९. पृ० ६१।

(२)

अवेस्ता

पारसियों का धर्म-ग्रन्थ अवेस्ता बहुत प्राचीन है। इस ग्रंथ की भाषा पर विद्वानों ने विशेष गवेषणा की है। सन् १८०८ में जान-लिडेन (John Leyden) ने अवेस्ता की भाषा को आदि संस्कृत से निकली हुई पाली अथवा प्राकृत भाषा की सी बोलचाल की एक भाषा ठहराया है। एर्सकिन (Erskine) साहब की भी यही राय है। उनका कहना है कि पारसियों की पुरानी बोलचाल भी सात भाषाओं में जेन्द (अवेस्ता की भाषा) का नामोल्लेख तक नहीं है। सन् १७९८ में फादर बर्थलेमि (Father Paulo de st. Barthelemy) ने भी इसी विषय में कहा है। सर विलियम जोन्स ने यह सिद्ध किया है कि अवेस्ता के १३ शब्दों में से ६-७ शब्द संस्कृत के हैं। कुछ भी हो आधुनिक काल में विद्वानों की यह राय है कि हो न हो अवेस्ता की भाषा तथा संस्कृत किसी एक ही मूल भाषा की दो शाखायें हैं।

आजकल जो अवेस्ता-ग्रंथ साधारणतः देखने में आता है वह अधूरा ही है, मूल-ग्रंथ का एक भारी अंश लुप्त हो गया है। ९ वीं शताब्दी में 'पहल्वी' भाषा में रचित एक संक्षिप्त-सार से उस लुप्त अंश का पता चला है। वेस्ट (West) साहब ने उस संक्षिप्त-सार का अंग्रेजी में अनुवाद किया है। आधुनिक काल में प्राप्य अंश दो भागों में विभक्त हैं—पहला भाग (इसे लोग प्राकृत अवेस्ता कहते हैं) तीन भागों में विभक्त हैं—वेन्दीदाद, बिस्पेराद, और यस्न। इनमें धर्म विषयक-नियम, उपाख्यान तथा यज्ञादि के विषयों में दिया हुआ है। दूसरा भाग "खोर्द-अवेस्ता" (क्षुद्र-अवेस्ता) कहलाता है। इसमें बहुत सी प्रार्थनाएं दी हुई हैं जिनका कि पारसी पुरोहित तथा साधारण व्यक्ति दिन तथा महीनों के विभिन्न अवसरों में पाठ किया करते हैं।

पहल्वी भाषा में जो संक्षिप्त-सार व्याख्यादि सहित लिखा गया था उसमें कई स्थानों में मूल-ग्रंथ का यथार्थ अर्थ नहीं पाया जाता। १५ वीं शताब्दी में नेरिओसेंग नामक एक पारसी ने "यस्न" का संस्कृतानुवाद किया था। आंक्वेतिल डुपेरां (Anquetil Duperron) नामक एक दूसरे पारसी ने भारतवर्ष में आकर यहां के पारसी पुरोहितों से अवेस्ता अध्ययन की थी। उसने भी सन् १७७१ में यस्नका अनुवाद किया। तदनन्तर सन् १७७६ में "रिगा" विश्वविद्यालय के अध्यापक क्लुकर (Klueker) ने यस्न का जर्मन-भाषा में अनुवाद किया था। इन सब अनुवादों की जांच करने से पहल्वी भाषा में रचित-ग्रंथ के अर्थ से अवेस्ता के यथार्थ अर्थ में पार्थक्य परिलक्षित होता है। आंक्वेतिल के लगभग ७० वर्ष के पश्चात् बर्नौफ साहब (Eugene Burnouf) ने अवेस्ता का वास्तविक तथ्य जानने की चेष्टा की थी। उनके अनुसार उपर्युक्त संस्कृतानुवाद में ही अवेस्ता का वास्तविक अर्थ पाया

आता है। यहां तक कि वेद तथा अवेस्ता की पौराणिक कहानियों में भी उन्हें एकता मिली थी और उन्होंने यस्न पर अपनी व्याख्या (commentaire Sur le yasna) लिखी। उससे यह सिद्ध हो गया कि पारसियों की अवेस्ता में वर्णित देवताओं की इतिवृत्ति वेद में ही अन्तर्निहित है।

कालिदास मुकरजी

(३)

अग्रोहे की खुदाई

अग्रवाल जाति का मूल स्थान अग्रोहा प्रसिद्ध है। यह स्थान हिसार जिले में है और वहां पर मीलों तक पुराने खण्डहर मौजूद हैं। गत वर्ष पुरातत्व विभाग ने अग्रोहे में खुदाई कराई थी और वहां से प्राचीन सामग्री प्राप्त की थी। वह टीला जो खोदा गया था लगभग ६० फुट ऊँचा है और फतेहाबाद से जाने वाली सड़क के दक्षिण की ओर स्थित है।

उक्त विभाग का कहना है कि टीले की ऊपरी तहों में कम-से-कम तीन प्राचीन नगरों के अवशेष प्राप्त हुए हैं जिनका समय विक्रम की दूसरी शताब्दी पूर्व से दसवीं शताब्दी पश्चात् तक अनुमान किया जाता है। उसमें भूर्ज-पत्र पर लिखे हुए कुछ भस्मीभूत ग्रन्थ भी मिले हैं जिनके अक्षर बहुत फीके पड़ गये हैं। सम्भव है यहां पर कोई पुस्तकालय रहा हो। खुदाई में प्राचीन सिक्कों के ढेर भी प्राप्त हुए हैं। २६ फुट नीचे एक गड्ढे में भारतवर्ष की सब से अधिक प्राचीन आहत मुद्रा का एक नमूना मिला है। इनपर भांति-भांति के चिह्न बने होने के कारण अंग्रेजी में इन्हें Punch marked कहते हैं और पाणिनि की अष्टाध्यायी में इन सिक्कों को "आहत-रूप" कहा गया है। विद्वानों का विचार है कि ये सिक्के बुद्ध भगवान् से भी प्राचीन हैं। इसी के साथ चार यूनानी राजाओं के सिक्के भी मिले हैं। इनके नाम ये हैं—अन्तिल किद् (Antial pedas), अपलदत्त (Apollodotos), स्त्रत (Starlo) और अमिन्त (Amyntas)। इनके संस्कृत या भारतीय नाम इन्हीं के सिक्कों की एक ओर, खरोष्ठी लिपि में लिखे मिलते हैं। इनका राज्यकाल ईस्वी पूर्व दूसरी सदी से पहली सदी तक है। ये सिक्के चांदी के हैं। इनके अतिरिक्त तांबे के ५१ चौकुटे सिक्के भी प्राप्त हुए। हमारे इतिहास के लिये ये सिक्के बहुत महत्व पूर्ण हैं। इनके सामने की ओर वृषभ और पीछे की ओर सिंह या चैत्य-वृक्ष की मूर्ति है। कठघरे के भीतर रोपे हुए वृक्ष की मूर्ति प्राचीन भारतीय सिक्कों पर बहुत पाई जाती है।

वृषभ का अग्रोहे—प्रदेश और अग्रजाति के कृषि-गोरक्ष-वाणिज्य के साथ अभिन्न संबन्ध प्रगट होता है। सिक्कों के पीछे ब्राह्मी अक्षरों में लिखा हुआ लेख है जो कई सिक्कों से पूरा करके इस प्रकार पढ़

लिया गया है—'अगोद के अगच जनपदस' अर्थात् "अगोदक में अगच जनपद का सिक्का।" ये सिक्के एक दम नये नहीं हैं। भारतीय पुरातत्त्व में ऐसे सिक्के पहले भी मिल चुके हैं। कनिंघम साहब को एक गोल सिक्का इसी प्रकार का मिला था। लंडन की ब्रिटिश म्यूजियम के प्राचीन भारतीय सिक्कों का सूचीपत्र हाल ही में एँलन साहब ने प्रकाशित किया है। उसमें भी ऐसे सिक्कों का वर्णन है। ये सिक्के बरवला नामक एक दूसरी जगह से मिले थे जो अग्रोहे से बीस मील पर है। इनका सम्बन्ध अग्रोहे के साथ पहले मालूम नहीं था इसलिए एँलान साहब इन पर लिखे लेख का युक्ति-संगत अर्थ नहीं बैठा सके।

अब यह निश्चय हो गया है कि ये सिक्के अग्रोहे के ही हैं और इस जनपद का विस्तार अग्रोहे के चारों ओर था। इन सिक्कों से एक बात और पहली बार स्पष्ट मालूम हुई, वह यह कि अग्रोहे का प्राचीन नाम अग्रोदक था। इसी से मिलता जुलता उदाहरण पृथूदक है जिसका वर्त्तमान नाम पीहोआ है। यह करनाल जिले में है। सिरसा अगरोहे से करनाल-थानेश्वर तक का सौ मील तक प्रदेश अपने कुण्ड या हृदों के लिए सदा से प्रसिद्ध रहा है। कुरुक्षेत्र या समन्त पंचक के कुण्ड आज तक प्रसिद्ध हैं। प्राचीन अग्रोदक में भी इस प्रकार का कोई सरोवर था। यह बात तो निस्संदिग्ध है कि अग्रोदक राजधानी का नाम ही सिक्के पर 'अगोदक' है। इसी अगोदक का एक रूप अग्रोतक भी कुछ शिला लेखों में पाया गया है। एपिग्राफिया-इंडिका जिल्द १, पृ० ९३-९४ और जिल्द २ पृ० २४४ तथा इंडियन ऐंटिक्वरी भाग १५ पृ० ३४३ पर अग्रोतक निवासी वैश्यों का वर्णन आया है। इससे सूचित होता है कि वैश्यों में प्राचीन अग्रोदक नाम की परंपरा बहुत काल तक सुरक्षित रही। इंडियन ऐंटिक्वरी का लेख बनारस कालिज में है और मुहम्मद शाह के समय का है। अग्रोदक और अगोदक की पहचान से अग्रवाल जाति का इतिहास एकदम पुरातत्त्व शास्त्र के आधार से दो हजार वर्ष पूर्व चला जाता है। भारतवर्ष में शायद ही अब कोई ऐसी जाति हो जिसका सम्बन्ध एक प्राचीन जनपद से भी हो और जो वर्तमान काल में भी इस प्रकार इतनी समृद्ध दशा में हो। अन्य प्राचीन जनपदों में बसने वाली जातियों की ऐतिहासिक परम्परा अब लुप्त प्राय है। क्षुद्रक और मालव जनपदों के, जिन्होंने किसी समय सिकन्दर के भी छक्के छुड़ा दिये थे, उत्तराधिकारी इस समय नाम शेष हो गये हैं। शिबियों के साथ अपना सम्बन्ध बतानेवाले जनोंका इस समय अस्तित्व लोप हो गया है। पर अग्रोदक नगर के प्राचीन जनपद के निवासी अग्रों का इतिहास दो सहस्र वर्ष की पुरातन परंपरा को लिए हुए आज भी जीवित है। अग्रोदक से प्राप्त सिक्कों पर 'अगच जनपदस' पाठ है। अगच को कुछ विद्वान् अगस्त्य का प्राकृत रूप मानते हैं। परन्तु अगस्त्य का सम्बन्ध इस स्थान से क्या था यह अभी तक स्पष्ट नहीं हुआ है। अगच का सम्बन्ध अग्र से ही उचित जान पड़ता है। अग्र उस गण का नाम होना चाहिए। प० सत्यकेतुजी ने अग्रवाल जाति के इतिहास में अग्र या आग्रेय गण-राज्य की स्थापना की है। महाभारत कर्ण दिग्विजय पर्व में भद्र और रोहितकों के साथ आग्रेओं का भी ज़िक्र है। हिसार से दक्षिण पश्चिम में लगभग बीस मील पर भद्र अभी तक है।

रोहतक हिसार से पूर्व प्रसिद्ध स्थान है। सिरसा के क्षेत्र में ही अग्रोदक या अग्रोहा है। अतएव भौगोलिक दृष्टि से आग्रेय गण का स्थान अग्रोदक में ठीक बैठता है। अतएव 'अगच' का सम्बन्ध अग्र से ही होना चाहिये।

अब निवेदन यह है कि पुरातत्व विभाग ने तो अग्रोहे की खुदाई का श्री गणेश मात्र करके उसकी अखण्डनीय प्राचीनता सिद्ध कर दी है। उस खुदाई के कार्य को आगे बढ़ाना धनसापेक्ष है। इसके लिये समृद्ध अग्र जाति को अपनी सहायता प्रदान करनी चाहिये। लगभग पांच सहस्र रुपये से भारतीय पुरातत्व विभाग के द्वारा यह कार्य बड़ी सफलता पूर्वक कराया जा सकता है। तभी अग्रवाल जाति के अतीत इतिहास के लुप्त अध्यायों का पुनः परिचय प्राप्त होगा।

वासुदेव शरण

श्री श्री सरस्वती

सतीशचन्द्र शील, एम. ए, बी. एल

सरस्वती शब्द का आदि अर्थ नदी है (सरस् शब्द का अर्थ नीर या जल है)। मनु-संहिता के अनुसार सरस्वती और दृषद्वती ये दोनों देव-नदी हैं और इन दोनों नदियों के बीच का भूभाग ब्रह्मावर्त है। भारतवर्ष की सात नदियां सबसे पुण्य समझी जाती हैं, वे ये हैं :—गङ्गा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिंधु और कावेरी। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के प्रकृत खंड (६ठवां अध्याय) तथा महाभारत के शल्य पर्व से यह विदित होता है कि सब नदियों में पुण्यतमा सरस्वती है। कोई कैसा भी पापी क्यों न हो इसमें नहाने से उसके सब पाप बह जाते हैं। यह नदी इतनी पवित्र क्यों समझी जाती है इसका पता वैदिक साहित्य के अध्ययन से चलता है। वैदिक काल में आर्य जब पश्चिमोत्तर से आकर भारतवर्ष में फैलने लगे तब उन लोगों ने इस सरस्वती नदी के किनारे ही अपनी बसती स्थापित की। इस नदी के किनारे ही उपजाऊ भूमि ने उन्हें शस्य दिया था, कृषिकार्य के लिये उनके पास सरस्वती के अतिरिक्त कोई दूसरा चारा न रहा। इसलिये ऋग्वेद में (२,४१, १६-१८ मन्त्र) सरस्वती को अन्नवती, उदकवती तथा घृतिमती कहा है।

वैदिक-साहित्य की आलोचना से यह स्पष्ट है कि आर्यों ने प्रकृति के भीतर ही उस विश्व-नियन्ता का अनुभव किया था, और प्रकृति-विकाश में ही उन्होंने एक एक अधिष्ठात्री देवी की परिकल्पना की थी। इस तरह सूर्य, चन्द्र, अग्नि के अतिरिक्त कुछ समयोपरांत सरस्वती नदी से लोगों ने सरस्वती देवी की कल्पना कर ली।

सरस्वती देवी कई नामों से प्रसिद्ध हैं, यथा—श्री, भारती, वाग्देवी, ब्राह्मी, वाच्, वाणी, इला सारदा, गिरा, गीर्देवी, वर्णमातृका आदि।

ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के अनुसार सरस्वती की उत्पत्ति इस प्रकार से हुई। सृष्टि-काल में परमपुरुष ने अपनी शक्ति को पांच भागों में विभक्त की—राधा, पद्मा, सावित्री, दुर्गा तथा सरस्वती। इनमें सरस्वती शास्त्र-ज्ञान-अधिष्ठात्री देवी हैं। शुक्ल वर्णा, वीणा-पाणि, तथा कोटि चन्द्रमा की सी लावण्यमयी हैं। देवी भागवत के अनुसार सरस्वती ब्रह्मा की स्त्री हैं, किन्तु ब्रह्मवैवर्त्तपुराणानुयायी लक्ष्मी एवं सरस्वती दोनों ही नारायण की स्त्री हैं। किसी २ पुराण में यह भी मिलता है कि सरस्वती ब्रह्मा की मानस कन्या हैं। कुछ भी हो परमपुरुष तीन मूर्त्तियों में इस सारे विश्व को चला रहे हैं—ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश होकर आप सृष्टि को बनानेवाले, पालन करने वाले और संहार करने वाले हैं। इन तीन कार्यों की तीन विभिन्न शक्तियां महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली हैं।

पूजा-पालन :- सबसे पहले श्री कृष्णचन्द्रजी ने सरस्वती की पूजा की थी। सरस्वती मुग्ध हो कृष्ण-भजन करने लगीं। कृष्णजी ने उन्हें नारायण भजने के लिये कहा, और उन्होंने यह भी कहा कि माघ माह की शुक्ला पंचमी में और विद्यारम्भ काल में सब तुम्हारी पूजा करेंगे। तुम्हारे अप्रसन्न होने से कोई भी विद्यालाभ नहीं कर सकेगा। उसी समय से माघ माह की शुक्ल पंचमी के दिवस जिसे लोग साधारणतः "बसंत पञ्चमी" कहा करते है, सरस्वती देवी की पूजा का प्रचलन हुआ। अति प्राचीन-काल में सरस्वती की पूजा लोग किया करते थे परन्तु उपर्युक्त तिथि में नहीं। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि प्राचीन काल में पूर्णिमा तिथि में सरस्वती को अंजलि दी जाती थी। कृष्ण-यजुर्वेद के अनुसार नवमी तिथि में सरस्वती-उत्सर्ग करना ही विधि-संगत है। कुछ भी हो आधुनिक काल में माघ माह में शुक्ल पञ्चमी को ही सरस्वती पूजा हुआ करती है। इसी को श्री पञ्चमी या वसन्त-पञ्चमी कहते हैं। इसी पूजा के साथ लक्ष्मी पूजन भी हुआ करती है। कहीं-कहीं कुंवार (आश्विन) माह में भी शुक्ला अष्टमी को सरस्वती पूजा हुआ करती है।

(शेष अगले अंक में)

सम्पादकीय मन्तव्य

हिन्दी भाषा को ही राष्ट्र-भाषा बनाने के लिये जातीय महासभा (Indian Congress) तथा विभिन्न प्रतिष्ठान एवं चिन्ताशील व्यक्ति सिरपच्ची कर रहे हैं। हिंदी-साहित्य कितनी समृद्ध-शाली है वह सब जानते हैं। पृथ्वीराज-रासो के अतिरिक्त ज्ञानाश्रयी-शाखा के बड़े-बड़े कवियों (कबीरादि) ने तथा महात्मा तुलसीदास जी और सूरदास जी ने हिन्दी-साहित्य की कितनी उन्नति की है यह दिखलाना सूर्य के सामने दीपक रखने का सा है। किन्तु खेद यह है कि हिन्दी-साहित्य के साथ ही साथ प्राचीन भारतीय शिल्प एवं कला, शास्त्र तथा कृष्टि आदि को हम भूलते ही जा रहे हैं। भारतवर्ष की प्राचीन गरिमा क्या थी? यहां के लोगों ने विश्व को कौन कौन सी सीख दी थी, कौन-सा पाठ पढ़ाया था—इन सब बातों पर हम सोचते ही नहीं हैं। बात यह है कि हिन्दी में साहित्यिक पत्रिकायें कई हैं, परन्तु भारतीय-शास्त्र-ज्ञान-सम्बन्धीय कोई ऐसी पत्रिका नहीं दिखलाई पड़ती। जो हैं वे चाहे तो अंग्रेजी में अथवा अन्य भाषाओं में। बिड़ला जी के आदेश से इण्डियन-रिसर्च-इन्स्टिट्यूट ने ऐसी एक पत्रिका निकालने का संकल्प किया है और उसी के फल-स्वरूप यह "प्राचीन-भारत" पत्रिका आपके हाथों में है। इस संस्था से अंग्रेजी तथा बंगला की भी उसी विषय की पत्रिकायें निकलती हैं। बिड़लाजी को प्रारम्भ-सूचक कार्य करने के लिये अशेष धन्यवाद है। बसन्त-पंचमी के दिवस से ही इस पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ हुआ।

प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थियों की खोज एवं उन्हें टीका-टिप्पणी सहित प्रकाशित करने के लिये हिन्दी की चाह रखनेवालों की एक सभा भी बनाई गई है। भारतवर्ष के विभिन्न विद्वानों ने सम्पादक-मण्डल को सुसज्जित किया है। हिन्दी प्रचारणार्थ एवं भारत की प्राचीन संस्कृति आदि पर आलोक रश्मि डालने के लिये हम हिन्दी प्रेमियों की सहानुभूति प्रार्थना करते है।

—o—

प्राचीन-भारतीय-गुरुकुल पद्धति अनुयायी एक आदर्श विद्यालय खोलने के लिये २६ जनवरी सन् १९४१ में इण्डियन-रिसर्च-इन्स्टिट्यूट में एक सभा हुई। भारतवर्ष का प्राचीन धर्म, उसकी संस्कृति एवं शिक्षा तथा सभ्यता की ओर ध्यान रखकर जातीय-जीवन की उन्नति के लिये तक्षीला अथवा नलन्दा विश्वविद्यालय की सी एक विश्वविद्यालय बनाने पर भी विचार किया गया। इस विषय में भविष्य में हम आप को विस्तृत सूचना देंगे।

—:o:—

११ वीं १२ वीं और १३ वीं जनवरी में साधारणों के हित के लिये कलकत्ते में जो बैठक हुई थी उस में गृहीत प्रस्तावों को, जो इसी संस्था से प्रकाशित India and the World (जनवरी संख्या) पत्रिका में दी हुई हैं, पाठ करने के लिये हम प्रार्थना करते हैं।

पुस्तक-समालोचना

मारवाड़ का इतिहास (१ला भाग) लेखक पं० विश्वेश्वर नाथ राव—इस पुस्तक में जोधपुर के सुविख्यात विद्वान् तथा ऐतिहासिक पं० विश्वेश्वर नाथ राव ने मारवाड़ का इतिहास वर्णन किया है। मारवाड़ के राव गंगा, मालदेव, महाराजा अजित सिंह, विजय सिंह आदि द्वारा मेवाड़ाधिपतियों को दी हुई सहायता पर उन्होंने विशेष आलोक रश्मि डाली है। इस विषय में डा० गौरीशंकर ओझा ने अपने राजपूताने के इतिहास में कुछ नहीं कहा है। मालदेव, चन्द्रसेन, महाराजा जसवन्त सिंह तथा अजित सिंह पर भी उन्होंने बहुत कुछ कहा है। डा. ओझा वर्णित राव रणमल के विरुद्ध षड्मन्त्र की विश्वेश्वरजी ने अच्छी समालोचना की है एवं रावजोधा कृत मंदोर-विजय पर भी उन्होंने अपना मन्तव्य प्रकट किया है।

पंडितजी ने पुस्तक के प्रारम्भ में राठौर राजाओं के पूर्व मारवाड़ का संक्षिप्त इतिहास दिया है। आपकी टिप्पणी निराली ही है।

जोधपुर दरबार तथा जोधपुर प्रत्नतत्व विभाग को ऐसी उपयोगी पुस्तकें निकालने के लिये विशेष बधाइयां हैं।

—डी० आर० भंडारकर

मानव धर्मसार:—इस पुस्तक को बनाने वाले डाक्टर श्री भगवान् दास जी हैं, आपकी विद्वता से शिक्षित समाज सुपरिचित है, आपने बहुत अन्वेषण पूर्वक इसका सम्पादन कर अपने संस्कृत साहित्य के प्रगाढ़ पाण्डित्य का परिचय दिया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मानव मात्र की कल्याण कामना से लिखा गया है यह आप के शब्दों से प्रकट होता है, किन्तु आदि से अन्त तक अच्छी तरह अध्ययन करने पर मालूम होता है कि आवेश या प्रतिहिंसा के भावों से भावित होकर ही लिखा गया है। मैं जहां तक समझता हूं कि पुस्तक का अधिकांश कर्मेण वर्णाए जोति सिद्ध करने में काम आया है। इस प्रवाह में और किसी तरफ ध्यान देने की जरूरत महसूस न की गयी है, वेद धर्मशास्त्र एवं पुराणों के जो वाक्य स्थान-स्थान पर उद्धृत किये हैं उन में जहां कहीं भी जन्म जाति का बू दीख पड़ा कि तुरत बड़े कौशल से दूसरा शब्द रख दिया गया है जैसे "विप्राणां ज्ञान तो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः। वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः" मनु अ० ९ श्लोक १५५ यहां शूद्राणां वयसैवतु" कर दिया गया है, यह तो एक साधारण बात है—जन्मना जाति सिद्ध करने के लिए बहुत से मनु के श्लोक हैं—यथा "अब्राह्मणादध्ययनं आपत्काले विधीयते—अनुव्रज्या च सुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः"

वा ब्राह्मणे गुरौ शिष्यः वासमात्यन्तिकं वसेत्" इत्यादि पर इन श्लोकों पर आपका ध्यान कैसे जाय, अथवा जान बूझकर छोड़ देने में ही अपने अपनी सफलता देखी हो। आप जैसे दायित्वपूर्ण व्यक्ति के लेख में यह देखकर आश्चर्य होता है कि—"शक हूणादयः पूर्वं येत्रःकम्य समागताः। ते "शाकद्वीपिनो" विप्राः क्षत्रिया वा बुधैः कृताः"। इतिहास एवं पुराणों से सम्बन्ध रखने वाला ऐसा कौन व्यक्ति होगा कि उन प्रसिद्ध शाकद्वीपीय ब्राह्मणों के विषय में न जानता हो कि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी ने सर्व शक्तिमान होकर भी अपने पुत्र शाम्ब के कुष्ठ दूर करने के लिए श्री सूर्योपासनार्थ उन दिव्य ब्राह्मणोंको बुलाकर सर्वश्रेष्ठ गौरव प्रदान किया। श्रीमद्भागवत के पचम स्कन्द में शाकद्वीप के वर्णन प्रसग में व्यासजी बतलाये हैं कि वहां भी चातुर्वर्ण्य व्यवस्था भारतवर्ष की तरह है, फिर भी आप के लेख का क्या तात्पर्य है।१

आगे चलकर आप लिखते हैं कि हिन्दू धर्म का आमूल परिवर्तन कर दिया जाय। यह परिवर्तन यदि ऐसे न हो तो व्यवस्थापिका परिषदों से काम लिया जाय। शायद इसी उद्देश्य से आपने केन्द्रीय असेम्बली में "असवर्ण विवाह बिल" पेश की थी, किन्तु भारतीयों का भाग्य या दुर्भाग्य कहा जाय कि समझदारों के प्रबल विरोध से वह कानून न बन सका। मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि यह पुस्तक दोषों से ही परिपूर्ण है, बल्कि यह कहा जा सकता है कि इस के गुण अपने प्रबल विरोधी दोषोंको छिपाने की चेष्टा में सफल हुए हैं, यहां शुद्धि के अनावश्यक एवं दोषप्रद बतलाकर "सघे शक्तिः कलौयुगे" इस मूलमन्त्र का अच्छा विश्लेषण किया गया है। मैं यह मानता हू कि हमारा हिन्दू धर्म अनावश्यक अशास्त्रीय रूढ़ियों से जर्जरित हो रहा है, पर इसका विचार शान्त मस्तिष्क से करना उपयोगी होगा न कि आप जैसा उपसहार में लिखे हैं कि "हीना दीना भृशक्षीणा भारतस्य च पादशा तस्यानिवर्तनेन्छाच तीव्रा वेशेन्दु कारणम्" क्यों कि पहले धर्म निर्णय महर्षियों ने शाकाहार कर राग द्वेष शून्य चित्त से शान्त वातावरण जगलों में बैठकर बड़े ही प्रयत्न से किया था। संसार का इतिहास आज बतला रहा है कि वर्तमान अशान्तिका कारण धार्मिक या साम्प्रदायिक भेद नहीं है, यदि यह सच होता तो आज समस्त यूरोप ईशा का उपासक होता हुआ भी अपने ही धर्मबन्धु के रक्त का प्यासा न होता। अतः इसके मूल कारण का जिस तरह निराकरण हो सके जिससे प्रत्येक भारतीय भूख के लिए अन्न लज्जा निवारण के लिए वस्त्रका अधिकारी हो। यह पुस्तक प्रसाद-गुण पूर्ण होने से साधारण संस्कृत जानने वाले भी अच्छी तरह समझ सकते हैं। अतः संस्कृतानुरागी सज्जन चाहे वह जिस किसी जाति सम्प्रदाय के हों सब के लिये उपयोगी है। प्रकाशक—काशीविद्यापीठ बनारस मू० ॥)

"वरदाम्बिका परिणय चम्पूः"

इस गद्य पद्य मिश्रित काव्य को बनाने वाली श्रीमती महारानी तिरुमलाम्बा देवी हैं। ऐसे तो भारत में बहुत-सी विदुषी स्त्रियां क्या उपनिषद् क्या दर्शन क्या साहित्य सभी जगह अपना विशेष स्थान रखती आयी हैं, किन्तु आप एक महारानी होती हुई भी इस तरह संस्कृत में प्रौढ़ रचना की हैं कि कहीं-

कहीं समास बाहुल्य शब्दाडम्बर पूर्ण गम्भीरता में दशकुमार चरित एवं कादम्बरी को भी दबा दी हैं, यदि बीच-बीच में प्रसादगुण पूर्ण सरस पद्य न होते तो पढ़ने वाले जरूर ऊब जाते, परन्तु इस के सुन्दर पद्य नदी के बाढ़ में चलते हुए पथिक को ऊंचे टीले जैसे अध्ययन करने वालों को विश्राम देते हैं। सरल संस्कृत टीका कर इसकी उपादेयता योग्य विद्वानों ने और भी बढ़ा दी है।

प्रस्तुत काव्य १६ सोरहवीं शताब्दी के विजय नगर के महाराजा श्री अच्युत राय एवं उनकी धर्मपत्नी श्रीमती वरदाम्बिका देवी के विवाह के विषय में लिखा गया है। यद्यपि पुस्तक के नाम से यही मालूम होता है, परन्तु इस में अच्युत राय के पिता श्री नरसिंह राय महाराज के दिग्विजय के सिलसिले में कावेरी नदी, भूमि, पर्वत एवं युद्ध वर्णन अपनी प्रधानता रखते हैं। साहित्यिक वर्णन के साथ-साथ इतिहास का भी अच्छा समन्वय है।

इस की एक और विशेषता यह है कि लेखिका भी नायक की बड़ी रानी हैं, और अपनी सपत्नीका ही विवाह वर्णन कर उदाराशयता का परिचय दी हैं।

यह पुस्तक हस्तलिखित रूप से बहुत दिनों तक तजोर पुर के राजकीय लाइब्रेरी में पड़ी रही। १९१९ में सम्पादक महोदय को उपलब्ध हुई और बहुत ही परिश्रम से म म. प० श्रीगिरिधर शर्मा चतुर्वेदी एवं प० श्री हरिदत शर्मा जी की संस्कृत टीका से सुशोभित कर आपने सम्पादित की है।

यह ग्रन्थरत्न संस्कृत साहित्य के लिए विशेष उपयोगी होता हुआ एक बहुत बड़े अभाव को पूरा करता है, क्योंकि अब तक इस तरह का चम्पू काव्य स्त्री रचित कोई सामने नहीं आया है।

आशा है संस्कृतानुरागी सज्जन इसे विशेष आदर की दृष्टि से अपनावेंगे।

सम्पादक—पंजाब विश्वविद्यालय के अध्यक्ष श्री लक्ष्मण दासजी एम० ए० प्रकाशक÷ श्री सुन्दरलाल जैन पंजाब संस्कृत पुस्तकालय लाहौर मूल्य २)।

पं० श्रीरामसुरति मिश्र—साहित्याचार्य काव्य-व्याकरण-पुराण तीर्थ हिन्दी 'विशारद'

पुरानी-पत्रिकायें

कालिदास मुकरजी एम. ए., एम. आर. ए. एस द्वारा संकलित

The Indian Antiquary Vol 1. 1872

The Apastamba Sutra of the Black Yajurveda, and the Commentaries belonging to it—A. C. Burnell M, Sc. S., M. R. A. S. (P. 5)—(कृष्ण यजुर्वेद का अपस्तम्ब-सूत्र) लेखक को तजौर में एक ब्राह्मण के पास उपर्युक्त ग्रंथ की हस्तलिखित प्रति का पता चला। आपने इस ग्रन्थ की विषय-सूची का संक्षिप्त परिचय दिया है। इस ग्रन्थ में ३० प्रश्न हैं और उन्होंने प्रत्येक प्रश्न का आभास दिया है। अन्त में अपस्तम्ब-सूत्र की सब टीकाओं पर आलोचना की गई है।

On his Identification of various places in the kingdom of Magadha, visited by the Pilgrim Chi-Fah-Hian (A.D 40?-418) (P 18, 69, 106.)—A. M. Broadley, C. S Asstt, Magistrate in charge of Subdivisions Bihar in Patna.—इस लेख में मगध देश के जिन स्थानों में चीन-परिव्राजक फाह्यान घूमा था, लेखक ने उन स्थानों के बारे में कहा है। रिवरेंड एस० बील० (Rev. S Beal)ने सन् १७६९में चीनी भाषा से फाह्यान को भ्रमण कहानी का अंग्रेजी में अनुवाद किया था। लेखक ने उस अनुवाद से सहायता ली है।

Panini and the Geography of Afghanistan and the Panjab—Prof. Ramkrishna Gopal Bhandarkar, M A. (p 21) (पाणिनि और अफगानिस्तान तथा पंजाब का भूगोल-विवरण) इस लेख में लेखक ने पाणिनि-सूत्र से अफगानिस्तान और पंजाब के प्राचीन भूगोल पर बहुत कुछ कहा है।

On two copper plates from Valabhi (4.) By Prof Ram krishna Gopal Bhandarkar, M. A. —

इसमें वल्लभी के दो ताम्र-पात्रों का अनुवाद है। लेखक ने "A Valabhi Grant" नामक लेख में (पृष्ठ १७) वल्लभी वंश की तालिका दी है। आपका कहना है कि इन ताम्र-पात्रों के सब वर्ष शकाब्द के हैं।

The Old Sanskrit Numerals—(p. 60) प्राचीन-भारतीय-संख्या पर प्रो० रामकृष्ण गोपाल भंडारकर ने ११ जनवरी सन् १८७२ में एशियाटिक-सोसाइटी (बंबई शाखा) के मासिकाधिवेशन में एक प्रबन्ध पाठ किया था। इस लेख में वही प्रबन्ध प्रकाशित किया गया है।

सामयिक-सम्वाद

कलकत्ता विश्वविद्यालय में "कमला-लेक्चर"—इस वर्ष, श्रीयुत हीरेन्द्रनाथ दत्त एम. ए., बी. एल., वेदान्त-रत्न महाशय ने कलकत्ता-विश्वविद्यालय में "कमला-लेक्चर" दी। वक्तृता प्रसंग में उन्होंने कहा कि विश्व-विध्वंसी युद्ध के पश्चात् नूतन-विश्व-विधान में भारतीय-संस्कृति का एक विशिष्ट स्थान है। अपनी आध्यात्मिक शक्ति के कारण ही यह संस्कृति आज तक टिक सकी है।

संयुक्त-प्रान्तमें निरक्षरता-निवारण आन्दोलन—गत वर्ष संयुक्त प्रान्त में निरक्षरता-निवारण-आन्दोलन के फलस्वरूप इस साल यह पता चला है कि कई जिलों में शिक्षा-विस्तार के लिये बहुत कोशिश की गई है।

अलहाबाद में शिक्षा-विस्तार की तृतीय-वार्षिक परिकल्पना: प्रयाग-महिला-विद्यापीठ (अलाहाबाद नारी विश्वविद्यालय) के वाइस चांसेलर श्रीयुत संगमलाल अगरवाल जी ने अलाबाद के सब लोगों को शिक्षित बनाने के लिए एक तृतीय वार्षिक परिकल्पना की है। अगरवाल जी आदर्शवादी हैं। आशा है आपकी चेष्टा सफल होगी।

केशरी और महाराष्ट्र का हीरक महोत्सव—६० वर्ष पहले लोकमान्य बालगंगाधर तिलक जी ने "मराठी-केशरी" की स्थापना की थी। हाल ही में पूना में उसका हीरक महोत्सव (Diamond Jubilee) मनाया गया। ऐसा पता चला है कि इस कार्य में १६४०००) खर्च हुए हैं और इस कार्य के लिये अभी तीन लाख रुपयों का फंड इकट्ठा है।

नया ग्रन्थ संवाद

धर्म और दर्शन

१। अष्टक संहिता—अद्वैतवेदान्त सम्बन्धीय ग्रन्थ। अंग्रेजी में अनुवादित स्वामी नित्यस्वरूपानन्द कृत मलयपुर—मूल्य २)

२। Tantrik Text (Edited by Arthur Avalon) — Vol. XXI. Tārā-Bhakti-Sudhārnava. A treatise on Tantrik Rituals by Narasinha. Sanskrit text, edited with an introduction in English by Pancanana Tarka-Sāmkhya-Vedanta-Tirtha.

३। The Divine Life — Sanskrit text, with Sanskrit and general indices—Swami Yatiswarananda. Mylapore—Rs 1/14.

इतिहास

४। Indian Historical Records Commission. Proceedings of Meetings vol. xvi, Sixteenth meeting held at Calcutta, Dec. 1939. - 10s.

५। The East India Company. 1784-1834. by C. H. Philips. - £ 1.

प्रत्नतत्त्व

६। The Famous Wall-Paintings of the Mulagandhakuti Vihara, Sarnath, Benares. With a short life of Buddha and description by Basil Crump *22 four col. plates of the paintings and one tri-col. plate of the Vihara*, Benares Rs. 3/8.

सामयिक-साहित्य जनवरी १९४१

सरस्वती—हिन्दी उपन्यास और उसका विकास—श्रीयुत पृथ्वीनाथ शर्मा, एम० ए०।

„ —कीट-भृङ्ग-न्याय—पं० बनमाली प्रसाद शुक्ल।

„ —हिन्दी के नाटक और सेठ गोविन्ददास—बाबू कालिदास कपूर, एम० ए० एल० टी।

„ —रा० ब० बाबू श्यामसुन्दर दासजी की आत्म कहानी।

हंस—आधुनिक हिन्दी कविता की वर्त्तमान गति—श्री नरेन्द्र शर्मा

जीवनसखा—प्राकृतिक चिकित्सा प्रणाली का विकास।

„ —इन्द्रिय निग्रह की समस्या—बरनर मैकफैडन।

„ —भोजन और धूप—श्री० ए० विजय घोष।

„ —जीर्णरोग उनका कारण और निवारण—श्रीयुत बिट्ठलदास मोदी

बालक—शारीरिक विकास और उसकी आवश्यकता—श्रीयुत उमाशंकर बहादुर, बी० ए०

विशाल भारत—हिन्दी-छन्दों की व्यापकता—श्री हरिशंकर शर्मा।

(पूस) छायावादी तथा प्रगति पथी कवियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण—

श्री इलाचन्द्र जोशी।

विश्वमित्र—दुनिया के कुछ अनोखे सिक्के—कमलाकांत शर्मा, एम० ए०।

नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका—भारतीय मुद्राएं और उन पर हिन्दी का स्थान

(वैशाख १९९७)

—श्री दुर्गा प्रसाद, बी० ए०, विज्ञानकला-विशारद, एम० एन० एस०।

„ —देवनागरी लिपि और मुसल्मानी शिला लेख

—डा० हीरानन्द शास्त्री, एम० ए० डी० लिट्

„ —राष्ट्र लिपि के विधान में रोमन लिपि का स्थान—

डा० ईश्वर दत्त, विद्यालंकार, पी० एच० डी०

„ —मलिक मुहम्मद जायसी का जीवन चरित्र—

श्री सैयद आले मुहम्मद मेहर जायसी बी० ए०

श्रीभारती ग्रन्थमाला—६

श्रीगोभिलाचार्य्यपुत्रप्रणीत

गृह्यासंग्रहः

साहित्याचार्य्य पं० श्रीरामसुरति मिश्र काव्य व्याकरण-पुराण-तीर्थ
हिन्दी "विशारद"

द्वारा

सम्पादित एवं हिन्दी भाषानुवादित

Published by
SATIS CHANDRA SEAL, M.A., B.L.
Hony. General Secretary,
THE INDIAN RESEARCH INSTITUTE
170, MANIKTALA STREET, CALCUTTA.

Printed by
GOUR CHANDRA SEN, B COM.
THE SREE BHARATEE PRESS
170, Maniktala Street,
Calcutta.

॥ अथ गृह्यासंग्रहः ॥

॥ अथ प्रथमप्रपाठकः ॥

॥ ॐ नमः सामवेदाय ॥

ॐ अथातः संप्रवक्ष्यामि यदुक्तं पद्मयोनिना ।
ब्राह्मणानां हितार्थाय संस्कारार्थे तु भाषितम् । १ ।

अन्वय शब्दार्थ—(अथ) इसके बाद अर्थात् और धर्मोपदेशकर (अतः) यहां से (ब्राह्मणानाम्) ब्राह्मणों के (हितार्थाय) कल्याण केलिये (संस्कारार्थे) गर्भाधानादि संस्कारों के विषय में (तु) ही (यत्) जो कुछ (पद्मयोनिना) प्रजापति ब्रह्मा ने (उक्तम्) कहा है (सम्प्रवक्ष्यामि) उसे मैं अच्छी तरह बतलाता हूं ।१

भावार्थ—ब्राह्मणों की भलाई के लिये गर्भाधानादि संस्कारों के बारे में जो कुछ बातें ब्रह्मा ने बतलाई है, उन सभी बातों को इसके बाद यहां से मैं बतला रहा हूं ।१

लौकिकः पावको ह्यग्निः प्रथमः परिकीर्तितः ।
अग्निस्तु मारुतो नाम गर्भाधाने विधीयते । २ ।

अन्वय शब्दार्थ—(प्रथमः) पहले (लौकिकः) लोक व्यवहार पाक आदि के कामों में आने वाली (अग्निः) आग (पावकः) पावक नाम की (परिकीर्तितः) कही गयी है। (तु) और (गर्भाधाने) गर्भाधान नामक संस्कार में (यह संस्कार जब कि स्त्री पहली बार ऋतु मती होती है उस समय किया जाता है) (मारुतः) मारुत (नाम) नाम की (अग्निः) आग (विधीयते) कही जाती है । २ ॥

भावार्थ—सभी संस्कारों में हवन की आवश्यकता पड़ती है और यह कार्य प्रत्यक्ष अग्नि देवता से सम्पादित होता है इसलिये प्रत्येक संस्कारों में एवं पाक आदि व्यवहारिक लौकिक कामों में जो उनका अलग अलग नाम है उसको पहले बतलाते हैं ।२॥

लौकि व्यवहार भोजनादि बनाने के काम में आनेवाली आग को " पावक " एवं गर्भाधान में " मारुत " कहते हैं । २ ॥

पुंसवने चान्द्रमसः शुङ्गाकर्मणि शोभनः।
सीमन्ते मङ्गलो नाम प्रगल्भो जातकर्मणि। ३।

अन्वय शब्दार्थ—(पुंसवने) पुंसवन नामक सस्कार में (यह संस्कार गर्भ स्थिर हो जाने पर दूसरे या तीसरे महीना में होता है जिससे पुत्रोत्पति जरूर होती है) (चन्द्रमसः) चान्द्रमस नाम (शुङ्गाकर्मणि) शुङ्गा कर्म नामक संस्कार में (इसमें वट का टूशा कुछ औषधियों के साथ पीस कर पुंसवन के बाद स्त्री के दक्षिण नासिका छिद्र में छोड़ा जाता है जिससे गर्भ पुष्ट होता है) (शोभनः) शोभन नाम (सीमन्ते) सीमन्तोन्नयन संस्कार में (यह संस्कार गर्भ के चौथे पांचवे छठे या सातवें मास में किया जाता है, इसमें पति गर्भवती के बालो को अपने हाथों से सवांरता है) (मङ्गलोनाम) मङ्गल नाम (जातकर्मणि) बच्चा पैदा होने पर नालच्छेद से पहले जात कर्म संस्कार होता है) इसमें अग्नि का नाम (प्रगल्भा) प्रगल्भा है ।३

भावार्थ—पुंस वन में चान्द्रमस शुङ्गा कर्म में शोभन सीमन्तोन्यन में मङ्गल एवं जात कर्म संस्कार में प्रगल्भ आगका नाम है ।३

नाम्नि च पार्थिवो ह्यग्निः प्राशने च शुचिस्तथा।
सभ्यनामाथ चूड़े तु व्रतादेशे समुद्भवः। ४।

सान्वय शब्दार्थ—(च) और (नाम्नि) नामकरण सस्कारमें (इस संस्कारमें बचा पैदा होने के दशवें दिन पिता जातक का नाम रखता है) (पार्थिवः) पार्थिव नाम (अग्निः) अग्निका है, (प्राशने) अन्नप्राशन संस्कार (इसमें जन्म के छठवें आठवें नवे दशवें या बारहवें मास में बच्चेको पहले पहल अन्न खिलाया जाता है) (तथा) और(शुचिः) शुचि नाम अग्निका है। (चूड़े) चूड़ाकर्म सस्कार में (इस में बच्चेके जन्म के प्रथम तृतीय पञ्चम वर्ष या अपने कुलकी रीति के अनुसार छूरे से बाल बनवाकर शिखा रखी जाती है) अग्निका नाम (सभ्य) सभ्य है (तु) और (व्रतादेशे) यज्ञोपवीत सस्कार में (समुद्भवः) समुद्भव अग्निका नाम है।

भावार्थ—नामकरण में पार्थिव अन्नप्राशन में शुचि चूड़ाकर्म में सभ्य और यज्ञोपवीत संस्कार में अग्निका नाम समुद्भव है ।४।

गोदाने सूर्यनामा तु केशान्ते ह्यग्निरुच्यते।
वैश्वानरो विसर्गे तु विवाहे योजकः स्मृतः। ५।

सान्वयशब्दार्थ—(गोदाने) गोदान नामक (केशान्ते) केशान्त संस्कार में (इसमें जन्म के सोलहवें वर्ष में दाढ़ी आदिके बाल पहले पहल बनवाये जाते हैं) (सूर्य नामा) सूर्य नामक (अग्निः)

अग्नि (उच्यते) कहे जाते हैं। (विसर्गे) समावर्तन संस्कार में (ब्रह्मचर्य पूर्वक विद्याध्ययन करने के बाद यह संस्कार होता है जिस से स्नातक विवाह योग्य जाना जाता है) (वैश्वानरः) वैश्वानर नाम है, (विवाहे) विवाह संस्कार में अग्निका नाम (योजकः) योजक (स्मृतः) कहा गया है।५

भावार्थ—गो बाल को भी कहते हैं उसका दान काटना अर्थात् केशान्त संस्कार में अग्निका नाम सूर्य समावर्तन में वैश्वानर एवं विवाह में योजक है।५

चतुर्थ्यान्तु शिखी नाम धृतिरग्निस्तथापरे।
आवसथ्ये भवो ज्ञेयो वैश्वदेवे तु पावकः।६।

सान्वयशब्दार्थ—(चतुर्थ्यां) चतुर्थी कर्म संस्कार में (विवाह के चौथे दिन करनेका विधान है किन्तु अधिकांश लोग विवाह के दिन भी करते हैं) अग्निका नाम (शिखी) शिखी (तथापरे) और (धृति) धृति नाम है (आवसथ्ये) आवसथ्य नामक कुण्ड में (भवः) भव नाम (ज्ञेयः) समझना (वैश्वदेवे) वलिवैश्वदेव नामक नित्य हवन में (तु) तो (पावकः) पावक नाम है।६

भावार्थ—विवाह के चौथे दिन होनेवाले चतुर्थी कर्म संस्कार में अग्निका नाम शिखी एवं धृति है। श्रौताग्नि होत्र के पञ्चाग्नि कुंडोंके उपासक एक आवसथ्य नामक कुण्ड रखते हैं उसमें भवनामक अग्नि स्थापित की जाती है, और गृहस्थ के लिए नित्य कर्तव्य वलिवैश्वदेव सभ्याग्नि कुण्ड में पावक नाम अग्निका है।६

ब्रह्मा वै गार्हपत्ये स्यादीश्वरो दक्षिणे तथा।
विष्णुराहवनीये स्यादग्निहोत्रे त्रयोऽग्नयः।७।

सान्वयशब्दार्थ—(गार्हपत्ये) गार्हपत्य नामक कुण्डमें (ब्रह्मा) अग्निका नाम ब्रह्मा (दक्षिणे) दक्षिणाग्नि कुण्डमें (ईश्वरः) ईश्वर नाम (आहवनीये) आहवनीय कुण्डमें (विष्णु) विष्णु नामक अग्नि इस तरह (अग्निहोत्रे) अग्निहोत्रमें (त्रयः) तीन (अग्नयः) अग्नि हैं।७

भावार्थ—श्रौताग्निहोत्रानुष्ठानमें पांच कुण्ड होते हैं १ गार्हपत्य २ दक्षिणाग्नि ३ आहवनीयाग्नि ४ आवसथ्य ५ सभ्याग्नि इनमें गार्हपत्य सभ्याग्नि एवं आवसथ्याग्नि कुण्डोंमें भस्समें अग्नि छीपाकर हमेशा रखते हैं, सायं प्रातः हवनके समय अग्नि प्रज्वलित की जाती है हवनोपरान्त फिर भस्म से आच्छादित कर देते हैं, यदि आकस्मिक आग बुझ जाय तो अरणि (पीपल या शमीके काठ) मन्थन से अग्नि निकालकर फिर कुण्डमें रखते हैं। इस तरह तीन अग्नि है।७

लक्षहोमे वह्निर्नाम कोटिहोमे हुताशनः।
प्रायश्चित्ते विधिश्चैव पाकयज्ञे तु साहसः। ८।

सान्वयशब्दार्थ —(लक्षहोमे) एक लाख आहुति में (वह्नि) वह्नि नाम (कोटि होमे) करोड़ आहुति में (हुताशनः) हुताशन नाम (प्रायश्चित्ते) पापनिवृत्यर्थ प्रायश्चित्त कर्म में (विधि) विधि नाम (पाकयज्ञे) पाक यज्ञमें (तु) तो (साहसः) साहस नाम अग्निका है।८

भावार्थ —एक लाख की आहुति में अग्निका नाम वह्नि एक करोड़ की आहुमि में हुताशन प्रायश्चित्तमें विधि नाम पाकयज्ञ में अग्निका नाम साहस है।८

देवानां हव्यवाहस्तु पितॄणां कव्यवाहनः।
पूर्णाहुत्यां मृडो नाम शान्तिके वरदस्तथा। ९।

सान्वयशब्दार्थ –(देवानां) देवकार्यमें (हव्य वाहः) हव्यवाह नाम (पितृणां) पितृकार्यमें अग्निका नाम (कव्यवाहनः) क यव हन (पूर्णाहुत्यां) पूर्णाहुति हवनमें (मृड) अग्निका नाम मृड तथा (शान्तिके) शान्ति कर्ममें (वरदः) वरद अग्निका नाम है।९

भावार्थ —देवताओंके निमित्त हवनमें अग्निका नाम हव्यवाह पितरोंके निमित्त कव्यवाह पूर्णाहुति हवनमें मृड एवं शान्ति कर्ममें वरद नाम है।९

पौष्टिके बलदश्चैव क्रोधाग्निश्चाभिचारके।
वश्यार्थे कामदो नाम वनदाहे तु दूतकः। १०।

सान्वय शब्दार्थ—(पौष्टिके) पौष्टिक कर्म में (बलदः) बलद (अभिचारके) मारण मोहन उच्चाटनादि कर्ममें अग्नि का नाम (क्रोधाग्निः) क्रोधाग्निः (वश्यार्थे) वशी करण में (कामदः) कामद (नाम) नाम (वनदाहे) जंगलों के जलाने में (तु) तो (दूतकः) दूतक+अग्निका नाम है। १०।

भावार्थ—शरीरादि पुष्टि के लिए अनुष्ठीय मान कर्म में अग्नि का नाम बलद किसी को मन्त्र द्वारा मारने के लिए अनुष्ठान में क्रोधाग्नि वशीकरण में कामद एवं जंगलों को जलाने में दूतक अग्नि का नाम है।१०

कोष्ठे तु जठरो नाम क्रव्यादो मृतभक्षणे।
समुद्रे वाडवो ज्ञेयः क्षये संवर्तको भवेत्। ११।

सान्वय शब्दार्थ—(कोष्ठे) भोजन किए हुए अन्न को पचाने वाली अग्नि का नाम (जठरः) जठर (मृत भक्षणे) श्मशान में मृत शरीर को जलाने वाली अग्नि का नाम (क्रव्यादः) क्रव्याद (समुद्रे) समुद्र के अहर्निश बढ़ते हुए जल को नियन्त्रित करने के लिए अग्नि का नाम (वाडवः) वाडवानल नाम (ज्ञेयः) जानना (क्षये) महा प्रलय में (संवर्तकः) संवर्त्तक नाम (भवेत्) होता है।११

भावार्थ—भुक्त अन्न को पचाने वाली अग्नि का नाम जठराग्नि मुर्दों को जलाने वाली क्रव्याद समुद्र में वाडवाग्नि महा प्रलय में संवर्त्तक अग्नि का नाम है। ११।

एतेऽग्नयः समाख्याताः श्रावयेद्व्राह्मणः सदा।
सप्तत्रिंशतिविख्याता ज्ञातव्याश्च द्विजेन तु। १२।

सान्वय शब्दार्थ—(एते) ए (अग्नयः) अग्नि के नाम (समाख्याताः) पहले बतलाये गए हैं, (ब्राह्मणः) ब्राह्मण जन (सदा) हमेशा (श्रावयेद्) स्वयं मनन करते हुए दूसरों को बतलावें। [सप्तत्रिंशतिः ३७ सैंतीस [विख्याताः] तरह की प्रसिद्ध हैं [च] और [द्विजेन] ब्राह्मणों को चाहिए कि इन्हें [ज्ञातव्यः] जानें १२।

भावार्थ—पहले ३७ सैंतीस तरह के अग्नि के नाम बतलाये गये हैं ब्राह्मणों को चाहिए कि इन्हें अच्छी तरह समझें एवं औरों को भी बतलावें। १२।

सप्त जिह्वाः स्फुरन्त्येता हुताशनमुखे स्थिताः।
याभिर्हव्यं समश्नन्ति हुतं सम्यग् द्विजोत्तमैः। १३।

सान्वय शब्दार्थ—[हुताशनमुखे] आग के मुख में [एताः] ए [सप्तजिह्वाः] जीभें [स्फुरन्ति] फड़कती है। [याभिः] जिन जीभोंसे [द्विजोत्तमैः] ब्राह्मणों के द्वारा [सम्यग्] अच्छी तरह [हुतं] हवन किए हुए [हव्यं] हवन योग्य पदार्थ चरू आदि को [सत्] ठीक से [अश्नन्ति] खाती हैं। १३।

भावार्थ—यह जो अग्नि का नाम निर्देश किया गया है उनमें सात जीभें सदा फड़कती रहती है उन्हीं जीभोंसे पूर्वोक्त कर्मों में ब्राह्मणों के द्वारा किये गए हविष्यान्न को अग्नि देव खाते हैं। १३।

काली कराली च मनोजवा च
सुलोहिता चैव सुधूम्रवर्णा।
स्फुलिङ्गिनी चैव शुचिस्मिता च
लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः। १४।

सान्वय शब्दार्थ—१ काली-२ कराली-३ मनोजवा-४ सुलोहिता-५ सुधूम्रवर्णा-६ स्फुलिङ्गिनी ७ शुचिस्मिता [इति] ए [लेलायमानाः] चमकती हुई [सप्त] सात [जिह्वाः] जीभें हैं। १४

भावार्थ—उपरोक्त अग्नि के जीभों का सात नाम है जो हमेशा चमकती रहती हैं। १४।

द्वे शान्तिके द्विगुणा पौष्टिके च।
तिस्रोऽभिचारिण्यस्ते विश्वघ्नाः। १५।

सान्वय शब्दार्थ—इनमें [द्वे] दो जीभें [शान्तिके] शान्ति कर्म में [द्विगुणा] दो [पौष्टिक] पौष्टिक कर्मों में काम आती है और [तिस्रः] तीन जीभें (ते) वे (विश्वघ्नाः) संसार की हानि के लिए (अभि चारिण्यः) मारण मोहनादि कर्मों में काम आती हैं। १५।

भावार्थ—अभी जो अग्नि के सात जीभें बतलाई गयी है उनमें दो शान्ति कर्मों में दो पौष्टिक कर्मों में और शेष तीन दुनियां की बुराई करने के लिए मारण मोहन आदि कामों में आती हैं। १५।

एताश्चोक्ता विशेषेण ज्ञातव्यास्तु द्विजेन वै।
आहुयैव तु होतव्यं यो यत्र विहितो विधिः। १६।

सान्वय शब्दार्थ—(एता) ए अग्नि के जीभें (उक्ताः) बतलायी गयी हैं (द्विजेन) ब्राह्मणों को (विशेषण) अच्छी तरह (ज्ञातव्या) जाननी चाहिए (यः) जो (यत्र) जहां. (विधिः) विधियां (विहितः) बतलायी गयी हैं (आ हुय) मन्त्र पूर्वक आवहन करके (एव) ही (होतव्यम्) हवन करना उचित है। १६।

अविदित्वा तु यो ह्यग्निं होमयेदविचक्षणः।
न हुतं न च संस्कारो न च कर्म्मफलं भवेत्। १७।

सान्वय शब्दार्थ—(यः) जो (अविचक्षणः) बेवकूफ (तु) कि (अग्निं) अग्नि को (अवि- दित्वा) बिना समझे (होमयेत्) हवन करे (न) न (च) तो (हुतं) वह हवन है न वह (संस्कारः) संस्कार है न वह (कर्म फलं) (भवेत्) अच्छे कर्मों का फल प्राप्त कर सकता है। १७।

भावार्थ—जो अविद्वान् अग्नि के नामादि को बिना जाने हवनादि कर्मानुष्ठान करता है उसका सब कर्मानुष्ठान व्यर्थ हो जाता है। १७।

हिन्दी-सभा

सभापति—श्रीयुत घनश्यामदासजी बिड़ला।

सह० सभापति—(२) श्रीयुत बंशीधर जालान।

(३) „ भागीरथ कानोड़िया।

अन्यान्य सदस्य

(४) काका कालेलकर।

(५) डा० डी० आर० भंडारकर।

(६) महामहोपाध्याय सकलनारायण शर्मा।

(७) डा० सुनीति कुमार चटर्जी।

(८) श्रीयुत बाहादुर सिं सिंघी

(९) श्रीयुत मूलचन्द अगरवाल।

(१०) डा० बेनीमाधव बड़ुया।

(११) श्रीयुत शिवप्रसाद गुप्त।

(१२) पं० अम्बिका प्रसाद बाजपेयी।

(१३) श्रीयुत देवीप्रसाद खेतान।

(१४) „ लक्ष्मीनिवास बिड़ला।

(१५) „ परेश नाथ सिंह

(१६) „ पद्मराज जैन।

(१७) „ बाबूलाल राजगढ़िया।

(१८) डा: वटकृष्ण घोष

(१९) पं० श्री रामसुरति मिश्र।

(२०) श्रीयुत मनोशचन्द शील। (परिचालक)

(२१) „ कालिदास मुकरजी (सह-सम्पादक)

(२२) कुमारी पद्मा मिश्र (सह-सम्पादिका)

प्राचीन भारत का उद्देश्य

हिन्दी में मासिक एवं त्रैमासिक कई पत्रिकायें हैं लेकिन भारतीय संस्कृति एवं शास्त्र सम्बन्धीय कोई पत्रिका नहीं दिखलाई पड़ती। प्राचीन भारत की ज्ञान-गरिमा को हम क्रमशः भूलते ही जा रहे हैं कि इसी भारतवर्ष ने चीन, जापान के अतिरिक्त सुदूर अमेरिका में भी हिन्दुत्व का प्रभाव कैसे डाला था? कैसे यूनानियों ने यहां से चिकित्सा पद्धति सीखी? सम्राट सिकन्दर तो यहां की शिक्षा, एवं संस्कृति को देखकर दंग हो गया था। इस पत्रिका का उद्देश्य उस प्राचीन संस्कृति आदि पर प्रकाश डालना ही है। इस पत्रिका में नीचे लिखे विषयों पर लेख रहेंगे :—

(१) वैदिक शास्त्र (२) दर्शन-शास्त्र (३) धर्म-शास्त्र (४) बौद्ध तथा जैन शास्त्र (५) आयुर्वेद-शास्त्र (६) शिल्प एवं कला (७) प्राचीन विज्ञान-शास्त्र (गणित, ज्योतिष, रसायन, पदार्थ-विद्या आदि) (८) हिन्दी-साहित्य (९) समाज तथा नीति-शास्त्र (१०) प्राचीन तथा आधुनिक भारतवर्ष और दूसरे देशोंकी शिक्षापद्धति तथा उनका प्रचार कार्य (११) पुस्तक समालोचना तथा अन्यान्य विषयों में प्रकाशित लेखों पर मन्तव्य (१२) सम्पादकीय मन्तव्य। इसके अतिरिक्त अप्रकाशित हस्तलिखित प्रतियों का प्रकाशन एवं प्रकाशित दुष्प्राप्य पुस्तकों की समालोचना। संस्कृत, पाली एवं प्राकृत अप्रकाशित हस्तलिखित प्रतियोंका हिन्दी अनुवाद।

इन्डियन रिसर्च इन्स्टिट्यूट कृत प्रकाशित पुस्तकें

१। ऋग्वेदसंहिता—मूल, सायणभाष्य तथा अन्यान्य भाष्य एवं अंग्रेजी, बंगला तथा हिन्दी अनुवाद तथा गवेषणा मूलक व्याख्या सहित खण्डाकार में प्रकाशित हो रहा है।

२। बंगीय महाकोष—२१ संख्या तक प्रकाशित हो रहा है। प्रति संख्या ॥)
विस्तृत विवरण के लिये लिखिये :

३। बौद्धकोष—१म खण्ड, मूल्य १)

४। BARHUT, I–III—डा० वेणीमाधव बड़ुआ रचित—मूल्य २७)

५। GAYA & BODHGAYA—डा० वेणीमाधव बड़ुआ-रचित
Vol I—मूल्य ५) Vol II—मूल्य ७)

६। EARLY HISTORY OF BENGAL, I—II
श्रीप्रमोदलाल पाल-रचित —मूल्य ८)

७। LINGUISTIC INTRODUCTION TO SANSKRIT—
डा० बटकृष्ण घोष-रचित—मूल्य ५)

८। UPAVANA-VINODA—
अध्यापक श्रीगिरिजाप्रसन्न मजुमदार सम्पादित—मूल्य २॥)

९। INDIAN EPHEMERIS, **1939**, **1940–41**,
श्री निर्मलचन्द्र लाहिड़ी-सङ्कलित —मूल्य प्रति खण्ड ॥०)

१०। पञ्चाङ्ग-दर्पण—श्रीनिर्मल चन्द्र लाहिड़ी एम ए रचित— मूल्य १)

११। ACARYA PUSPĀÑJALI VOLUME—
Edited by Dr. B. C. Law, M.A., B.L., PH.D., F.R.A.S.B.—Rs. 10/

१२। PRINCIPLES OF POLITICS—
अध्यापक आर० सि० अधिकारी रचित—मूल्य ८)

विस्तृत विवरण के लिये लिखिये

साधारण सम्पादक
इन्डियन रिसर्च इन्स्टिट्यूट
१७०, मानिकतल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता

प्रथम वर्ष   दूसरी संख्या

प्राचीन भारत



[भारतीय शास्त्र एवं संस्कृति सम्बन्धीय मुख्य मासिक पत्रिका]

INDIAN RESEARCH INSTITUTE CALCUTTA.

फाल्गुन   संवत् १९९७

सम्पादक—महामहोपाध्याय सकलनारायण शर्मा

सह० सम्पादक—श्री कालिदास मुकरजी एम. ए., एम. आर. ए. एस.

सह० सम्पादिका—कुमारी पद्मा मिश्र एम. ए.

परिचालक—श्री सतीशचन्द्र शील,, एम. ए., बी. एल.

दि इन्डियन रिसर्च इन्स्टिट्यूट

१७०, मानिकतला स्ट्रीट कलकत्ता

सम्पादक-मंडल

नियमावली

(१) माघ माह से प्राचीन भारत का वर्ष आरम्भ होता है। हर माह के पहले हफ्ते में यह पत्रिका प्रकाशित होती है। हर संख्या में लगभग ७२ पृष्ठ रहते हैं।

(२) इस पत्रिका का वार्षिक मूल्य ४) तथा छमाही मूल्य २।) रुपये (डाक सहित) है। प्रति संख्या की कीमत।≠), डाक अलग।

(३) वार्षिक या छमाही मूल्य पहले देना पड़ता है।

(४) किसी विशेष-संख्या के प्रकाशित होने पर वार्षिक-ग्राहकों को उसकी कीमत नहीं देनी पड़ती है।

(५) वर्ष-समाप्ति के एक माह पूर्व वसूली के लिये पत्र दिया जाता है नहीं तो वर्ष-समाप्ति के बाद पहली संख्या वी० पी० द्वारा भेजी जाती है। जो महोदय पत्रिका बन्द करना चाहते हैं उन्हें पहले ही सूचित करना आवश्यक है।

(६) ग्राहक का पता यदि बदल जाय तो जितनी जल्दी हो सके सूचित करना चाहिये।

(७) ठीक समय में यदि पत्रिका न मिले तो ग्राहक १५ दिन के भीतर सह० सम्पादक को सूचित करें।

(८) लेखक कृपया पृष्ठ की एक ओर अपना लेख भेजें। प्रूफ केवल एक ही बार लेखक के पास भेजा जा सकता है।

(९) जो महाशय १००) देने की कृपा करेंगे वे इस संस्था के आजीवन—सदस्य बनेंगे। उन्हें पत्रिका एवं इस संस्था से प्रकाशित हिन्दी पुस्तकें मुफ्त में दी जावेंगी।

Printed and Published by Mr. Gour Chandra Sen, B.Com. from the Indian Research Institute, 170, Maniktala Street, Calcutta, at the Sree Bharatee Press of the same address.

सूचीपत्र

प्राचीन भारत

(भारतीय शास्त्र-ज्ञान सम्बंधी एक हिंदी मासिक पत्रिका)

१म वर्ष | फाल्गुन, (संवत् १९९७) | २री संख्या

प्राचीन भारत में इस्लाम की मन्द प्रगति

डा. डी. आर. भंडारकर एम. ए., पी. एच. डी.

भारतवर्ष का इतिहास तीन भागों में बांटा जा सकता है—प्राचीन काल, अथवा हिन्दुओं का समय, मध्य काल अथवा मुसल्मानी राज्य काल, आधुनिक काल अथवा बृटिश शासन काल। प्राचीन काल या हिन्दू काल में जितनी विदेशी जातियां भारतवर्ष में आई सब हिन्दू जाति में ही मिल गई यही इस काल की विशेषता थी। मध्य काल के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठता है कि किस किस समय में मुसल्मान आक्रमणकारी भारतवर्ष में आये और कब और किस प्रकार उनके पांव यहां स्थायी रूप से जम गये: Oxford History of India (पृष्ठ २५७-५८) के लेखक स्वर्गीय डा. स्मिथ ने इसके कई कारण बतलाये हैं। उनके विचार से मुसल्मान आक्रमणकारी हिन्दुओं से युद्ध कौशल में निस्सन्देह बड़े चढ़े थे क्योंकि वे पहाड़ी प्रदेश के रहने वाले थे और हिन्दुओं से कहीं अधिक बलवान थे। वे मांसाहारी थे और हिन्दू शाकाहारी। दूसरे उनके इस विश्वास ने कि काफिरों को मारकर वे ईश्वर और अपने धर्म की सेवा कर रहे हैं, उनकी सफलता में बड़ी सहायता पहुंचाई। उस धार्मिक विश्वास के कारण वे इतने भयानक प्रमाणित हुये कि हिन्दू उनसे डरने लगे और अन्त में वे बिलकुल ही दब गये। तीसरे हिन्दुओं के लड़ने के तरीके पुराने थे, वे हाथियों पर विश्वास करते थे जो कि मुसल्मानों के बांके घोड़े और घुड़सवारों के सामने बेकार साबित हुये। स्मिथ साहब का कहना है कि यद्यपि मुसल्मान संख्या में बहुत थोड़े थे किन्तु इन्हीं कारणों से सदियों तक वे असख्य हिन्दुओं पर शासन करते रहे।

किन्तु स्मिथ साहब के मत से भिन्न भी कई इतिहास और इतिहासज्ञों के मत हैं

जिनमें Elphinstone's History of India भी एक है। इससे यह संदेहजनक लगता है कि अरब के रहने वाले जिन्होंने भारत में मुल्तान तक जीता था और यहां इस्लाम धर्म का प्रचार करने की इच्छा से आक्रमण किया था भारत में उस सरलता से न फैल सके होंगे जितनी सरलता से वे फारस में फैले थे। एलफिनस्टोन साहब ने बतलाया है कि किन किन कारणों से अरब भारतवर्ष में आगे बढ़ने नहीं पाये। किन्तु इस प्रसंग का वर्णन हमारे विषय के बाहर है और इससे कोई सम्बन्ध नहीं रखता। यह निर्विरोध है कि यद्यपि अरबों का आक्रमण ७१४ ई० में हुआ था तथापि भारतवर्ष में मुसल्मानों का पांव ११९२ ई० के पहले नही जम पाया।

यह वही वर्ष था जब कि मुहम्मद गोरी ने चौहान राजा पृथ्वीराज को पराजित कर राजपूत सत्ता की जड़ उखाड़ दी थी। स्मिथ साहब स्वयं अपनी किताब के आरम्भ में स्वीकार करते हैं कि इस्लाम धर्म के प्रवर्त्तक मुहम्मद साहब की मृत्यु के बाद अस्सी वर्ष के थोड़े समय में ही उनके अनुयायी केवल अरब के ही नहीं बल्कि फारस, सीरिया, पश्चिमी-तुर्किस्तान, सिन्ध, मिस्र तथा दक्षिण-स्पेन के स्वामी हो गये; किन्तु भारतवर्ष के भीतरी भागों पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इस प्रकार अरबों के प्रथम आक्रमण और मुहम्मद गोरी की प्रथम चढ़ाई में ४५० वर्ष का अन्तर है और निस्सन्देह यह अत्यन्त आश्चर्य जनक है कि स्मिथ साहब ने क्यों अपनी किताब में ४५० वर्ष के इस लम्बे समय का कुछ भी जिक्र नही किया है। कदाचित् यह बात उनके ध्यान में नही आई थी कि अरबों का आक्रमण क्यों सिन्ध और मुल्तान तक ही सीमित रहा जब कि वे एशिया के अधिकांश भागों में, आफ्रिका तथा योरोप में अपूर्व सफलता प्राप्त कर रहे थे और उनकी धर्म प्रचार की लालसा भी लेश मात्र कम नहीं हुई थी। इस ओर एलफिनस्टोन साहब का ध्यान आकर्षित हुआ किन्तु स्मिथ को यह बात नही सूझी।

७१४-११९२ ई० तक का यह लम्बा समय दो भागों में विभक्त है। प्रथम काल का अन्त प्रतिहारों की शक्ति के पतन के साथ होता है और दूसरे काल का अन्त तराई की दूसरी लड़ाई के साथ। पहले हम प्रथम काल का विचार करेंगे कि कब और किस प्रकार मुसल्मान हिन्दुओं से शत्रुता रखने लगे। बलिद प्रथम की खिलाफत के समय में कासिम के पुत्र मुहम्मद ने पहले पहल सिन्ध पर आक्रमण किया, उसके पश्चात् "जुनैद" ने फिर से सिन्ध को जीतना चाहा। "कीरज" जीतने के बाद जुनैद भारतवर्ष के भीतरी भागों पर लगातार आक्रमण करने लगा तथा भारत में उसके पहले आने वाले अन्य आक्रमण कारियों से वह अधिक शक्तिशाली प्रमाणित हुआ था। उसने एक सेना "मरमद" (मरमाड), मण्डल, दहनज, और बरस (भड़ोंच) के विरुद्ध तथा दूसरी उज्जैन और मालवा के विरुद्ध भेजी। उसने स्वयं गुरेजन और अलबैलमन को विजय किया जो वास्तव में भिल्माल और गुर्जर देश थे।

किन्तु सागर-ताल के शिला-लेख से पता चलता है कि उज्जैन के विरुद्ध भेजी

गई जुनैद की सेना को प्रतिहार वंश के प्रथम शासक नागभट्ट प्रथम ने जो उस समय उज्जैन में राज्य करता था, पराजित किया। नौसारी के ताम्र लेख में अरबों के उसी आक्रमण का विस्तृत वर्णन है। उनकी एक सेना ने पहले सैन्धव, कच्छेल्ला, सुराष्ट्र (काठियावाड़) चावोटक (चापवंश) मौर्य, (मेवाड़) और गुर्जर राजाओं का नाश किया किन्तु दक्षिण में जहां वातापी के चालुक्य वंशज शासन कर रहे थे, अवनि जनाश्रय पुलकेशी नामक एक अत्यन्त साधारण सर्दार ने उन्हें (अरबों को) पराजित किया था। उसकी यह सफलता इतनी महत्त्वपूर्ण मानी गई कि उसके स्वामी बदामी के चालुक्य नरेश ने उस समय उसे जो चार उपाधियां दीं इनमें से एक थी—'दक्षिणापथ-स्वाधारण' (दक्षिण का आधार स्तम्भ), और दूसरी थी 'अनिवर्तक-निवर्तयितृ' (अजेय को हरा देनेवाला)। इससे पता चलता है कि अरब सेना उस समय 'अनिवर्तक' अर्थात् अजेय समझी जाती थी, किन्तु जब पुलकेशी ने उसे जीत लिया तो स्वभावतः वह "दाक्षिणस्तम्भ" समझा जाने लगा। किन्तु यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि अरबों का वह आक्रमण राजपूताना, काठियावाड़ और गुजरात में चाहे जितना भी भयोत्पादक रहा हो किन्तु दक्षिण में एक साधारण सर्दार ने उसे असफल कर दिया था। उपर्युक्त अरब-आक्रमण का भारत वासियों पर निस्सदेह गहरा प्रभाव पड़ा किन्तु वह अस्थायी रहा। यद्यपि अरब-आक्रमण के कारण भीलमाल प्रथम के चाप राज्यवंश का पतन हो गया लेकिन शीघ्र ही उज्जैन और मन्डोर के प्रतिहारों ने उनके स्थान को ले लिया।

धर्मपाल के खालिमपुर के अधिकार-पत्र से यह पता चलता है कि ९वीं शताब्दी के आरम्भ में यवन और गन्धार कन्नौज के राजाओं के अधीन थे। वे यवन सम्भवतः मुसल्मान थे जो मुल्तान में बस गये थे और गन्धार तुर्की-शाहिय थे जिनके अधिकार में उस समय काबुल की घाटी थी। किन्तु मुसल्मान यात्री सुलेमान (८५१ ई०) के वृत्तान्त से पता चलता है कि राष्ट्रकूट और गुर्जर राजाओं का राज्य बिलकुल आस पास स्थित था तथा गुर्जर नरेश की अश्वारोही सैन्यशक्ति भारत के अन्य राजाओं से बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। सुलेमान के विचार से उस समय भारतवर्ष के राजाओं में इस्लाम धर्म का सबसे बड़ा शत्रु गुर्जर नरेश ही था। अल मसूदी नामक दूसरा मुसल्मान यात्री (९४३ई०) लिखता है कि कन्नौज का गुर्जर राजा मुल्तान की मुसल्मानी रियासत से तथा मान्यखेत के राष्ट्रकूट वंशीय राजा से युद्ध कर रहा था और मान्यखेत का राजा इस्लाम धर्म का सम्मान तथा उसकी रक्षा करता था। इसका कारण यह था कि प्रतिहारों का साम्राज्य उत्तर पश्चिम में मुल्तान की सीमा पर और दक्षिण में मान्यखेत की राज्य सीमा पर स्थित था, इसलिये यह स्वाभाविक था कि जब प्रतिहार राजा अपने पड़ोसी राज्यों से युद्ध करता था तो उन दोनों राज्यों में आपस में मित्रता रहती थी।

वास्तव में प्रतिहार शासक मुल्तान के अरब शासकों से कहीं अधिक शक्तिशाली थे किन्तु अरब एक ऐसे शस्त्र का प्रयोग करते थे जिसका सामना हिन्दू नहीं कर सकते थे। मुल्तान के विषय में ध्यान देने योग्य बात यह है कि वहां सूर्य की एक मूर्ति थी और वह सारे भारतवासियों का तीर्थ स्थान था।

उस मूर्त्ति की रक्षा केवल मुसलमानों के प्रथम आक्रमण के समय में ही नहीं हुई वरन वह अलमसूदी के समय (९४३ ई०) तक सुरक्षित थी। अलमसूदी लिखता है कि मूर्त्ति को सुरक्षित रखने का कारण यह था कि मुल्तान के मुसलमान शासक को राजकर का अधिकांश भाग उन बहुमूल्य भेंटों द्वारा ही मिल जाता था जो तीर्थ यात्रियों द्वारा मूर्त्ति पर चढ़ाई जाती थी। अलमसूदी लिखता है कि जब कभी हिन्दुओं ने मुल्तान जीतने की इच्छा से उस पर चढ़ाई की और यदि मुसलमान हिन्दुओं से कमजोर साबित हुये तो उन्होंने हिन्दुओं को उनके सूर्य की मूर्त्ति भग्न कर देने की धमकी दी जिससे हिन्दू सेना को बिना लड़े ही लौटना पड़ता था। यही वह शस्त्र था जिसे मुसलमान हिन्दुओं के विरुद्ध अर्थात् कन्नौज के प्रतिहार राजाओं के विरुद्ध काम में लाते थे।

इससे यह मालूम होता है कि यद्यपि मुसलमानों का ध्येय मूर्त्तियों को तोड़ना था किन्तु इसमें भी वे कूटनीति से काम लेते थे। यद्यपि अरबों का आक्रमण ७१४ ई० के आरम्भ में हुआ और वे तथा उनके अन्य सहधर्मी मुहम्मद साहब की मृत्यु के थोड़े ही दिनों बाद बड़े शक्तिशाली हो गये तथा उन्होंने ससार के अन्य भागों को खूब लूटा किन्तु भारतवर्ष में वे सिन्ध के आगे अग्रसर नहीं हो सके। लग-भग दो शताब्दियों तक कन्नौज के दो राज परिवारों ने उन्हें सिन्ध के आगे बढ़ने नहीं दिया। किन्तु प्रतिहार वंश की घटती के साथ साम्राज्य छिन्न भिन्न होकर अनेक छोटे छोटे जागिरदारों के हाथ में चला गया तथा गजन रियासत की सीमा पर बसनेवाले मुसल्मानों के लिये स्वर्ण अवसर उपस्थित हो गया। भारतवासियों और मुसल्मानों के बैमनस्य का दसवीं सदी के अन्त तक का यह संक्षिप्त इतिहास है।

अब यह सवाल उठता है कि किन कारणों से इस काल में मुसल्मानों का आक्रमण रुका रहा। इसका सबसे सबल कारण कन्नौज के दो शक्तिशाली राजवंशों का उत्तरी भारत में राजत्व काल ही था।

प्रतिहार साम्राज्य की सीमा का विस्तार पश्चिम में सिन्ध और मुल्तान तक तथा उत्तर पश्चिम में पेशावर तथा पूर्वी अफगानिस्तान तक था जहां कन्नौज के राजाओं के सामन्त हिन्दू शाहिया (Shahiyas) बसे थे। एक तो साम्राज्य का उत्तर-पश्चिमी घेरा भारतवर्ष की प्राकृतिक सीमा थी, दूसरे समस्त उत्तरी भारतवर्ष तथा पूर्वी अफगानिस्तान एक सम्राट के शासन में था जिससे सिन्ध, मुल्तान और अफगानिस्तान होकर होनेवाले विदेशी आक्रमणों को रोका जा सकता था—जिस प्रकार प्रतिहार वंश के शासकों ने रोका था। किन्तु इसके अन्य कारण भी हैं चाहे वे अधिक या कम महत्व के हों। व्ही ए. स्मिथ साहब का कहना है कि भारत के घुड़सवार बहुत ही पिछड़े हुए थे और उन्हें अपने हाथियों का ही भरोसा था, किन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है कि सुलेमान के विचार से कन्नौज नरेश के पास अतुलित धन था, असंख्य ऊंट और घोड़े थे तथा उसकी अश्वारोही सेना भारत के अन्य राजाओं की अपेक्षा बहुत अच्छी थी।

किन्तु यह समझ में नहीं आता कि प्राचीन काल के युद्ध में हाथियों को क्यों इतना तुच्छ

समझा गया है जबकि महमूद गजनवी तक ने अपने पड़ोसी मुसलमानों पर विजय प्राप्त करने के लिये भारतीय हाथियों का ही उपयोग किया था।

दसवीं सदी के मध्य में गुर्जर साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया था। राजपूताना और पूर्वी पंजाब "चौहानों" की अधीनता में स्वतंत्र हो गये। बम्बई, गुजरात और काठियावाड़ में "सोलन्की" राजाओं की आधीनता स्वीकार कर ली गई। मथुरा तथा यमुना के पूर्व के देशों को कन्नौज और काशी के गढ़वालों ने ले लिया। इसी समय गजनी में अमीर सुबुक्तगीन ने मुसल्मानी शक्ति का संगठन किया और उसने धर्म-युद्ध की लालसा से भारतवर्ष पर अनेक चढ़ाइयां कीं। उसके बाद उसका पुत्र महमूद अमीर हुआ जो भारतवर्ष पर प्रायः प्रत्येक वर्ष चढ़ाई करने लगा जिसकी ठीक ठीक गणना करना कठिन है। उसने भारत को जीतने की इच्छा से आक्रमण नहीं किया वरन इसे लूट खसोट कर यहां से धन लेने की इच्छा से। इसलिये हिन्दू "शाहिया" शक्ति का अन्त कर और पश्चिमी पंजाब को मुसल्मानी रियासत में मिला लेने के बाद उसका आक्रमण बन्द हो गया। प्रतिहारों के राज्य काल में सफेदकोह और सुलेमान की पर्वत श्रेणियां भारतवर्ष की प्राकृतिक सीमा नियत कर अफगानिस्तान को इससे पृथक करती थीं। महमूद गजनवी के आक्रमण से पश्चिमी पंजाब के मुसल्मानी राज्य में मिल जाने के कारण विपत्ती-दायक परिवर्तन हो गया क्योंकि 'चौहानों' द्वारा अधिकृत पंजाब और राजपूताना तथा गढ़वालों के अधिकार का देश अब पड़ोसी मुसल्मान राज्यों के लूटमार के लिये खुल गया। निस्सन्देह मुसल्मान इतिहासज्ञ इस विषय में कुछ नहीं लिखते किन्तु उस समय के हिन्दू राज्य वंशों के लेख से इस विषय का स्पष्ट पता चलता है। गढ़वाल वंश के इतिहास पढ़ने से मालूम होता है कि गोविन्दचन्द्र ने हमीर को दो बार हराया था—एक बार जब वह युवराज था और दूसरी बार जब वह राजा हुआ।

गढ़वाल राजाओं के ताम्र अधिकार पत्रों में यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्रजा पर लगाये गये करों में एक कर का नाम "तुरुष्कदण्ड" था; यह कर सम्भवतः उनके राज्य में बसने वाले मुसल्मानों से लिया जाता था। गढ़वाल वंश के अन्तिम राजा जयचन्द्र के राज्य में यह कर उठा दिया गया यही बात हम लोगों का ध्यान विशेषरूप से आकर्षित करती है क्योंकि उसके समय के ताम्र अधिकार पत्र में इसका कहीं भी उल्लेख नहीं किया गया है।

इस कर को उठा देने का कारण बिलकुल स्पष्ट है। जयचन्द्र 'चौहानों' के विरुद्ध मुसल्मानों की सहायता लेना चाहता था।

अब ज़रा चौहान वंश का विवरण पढ़िये, इसमें "पृथ्वीराज विजय" अत्यंत मूल्यवान् है। इसमें पृथ्वीराज अंतिम के पराक्रम का वर्णन है। इस वंश में दुर्लभराज द्वितीय सब से पहले मुसल्मानों से लड़ा और वीर गति को प्राप्त हुआ। उसके बाद उसके उत्तराधिकारियों में अर्णराज ने मुसल्मानों की

एक सेना को नष्ट किया और युद्धस्थल में एक तालाब बनवाया जो अब उसके नाम पर अजमेर में "आना-सागर" कहलाता है। उसके पुत्र विग्रहराज चतुर्थ अथवा वीसलदेव ने उसका अनुसरण किया जैसा कि दिल्ली के ११६४ के लेख में वर्णन किया गया है कि उसने म्लेच्छों का सत्यानाश किया और समस्त उत्तरी भारत में अपना अधिकार स्थापित कर इसे फिर से आर्यावर्त बनाया।

इसके आगे का हाल राज कवि सोमेश्वर लिखित "ललित विग्रहराज" नामक नाटक से मिलता है जो स्लेट पत्थर पर क्रम से लिखा गया है और अजमेर की "ढाई-दिन का-झोपड़ा" नामक मस्जिद में पाया गया है। इस नाटक का केवल कुछ अंश सुरक्षित है किन्तु उतना ही यह बताने के लिये पर्याप्त है कि किस विपरीत अवस्था में विग्रहराज को अपनी छावनी बब्बेरक अथवा रूपनगर से हमीर के साथ युद्ध करना पड़ा था।

इस नाटक के पढ़ने से मालूम होता है कि उसका मामा राजा सिम्हबल उसे युद्ध की सलाह देता है किन्तु उसका ब्राह्मण मन्त्री श्रीधर इस कार्य का विरोध करता है कि इसमें चौहान सेना की भीषण क्षति होने की सम्भावना है।

विग्रहराज के बाद उसका भतीजा पृथ्वीराज द्वितीय—उसका उत्तराधिकारी हुआ जिसका विवरण पंजाब के हिसार जिला स्थित हांसी नामक स्थान में पाया गया है। इससे पता चलता है कि पृथ्वीराज का मामा किल्हण था वह गुहिलोत वंश का था और हम्मीर या मुसल्मान सम्राट् के आक्रमण को रोकने के लिये "असी" अथवा "हांसी" का किला उसके अधिकार में दिया गया था। किल्हण ने सतलज के किनारे पचपुरा या वर्तमान पचपट्टन को जलाया और उस पर कब्जा कर लिया। "टाड" (Tod) का कहना है कि यह पचपट्टन काबुल से हांसी जाने के रास्ते में पड़ता था। चौहान राज्य काल में हांसी और पचपुरा बहुत ही महत्व के थे। चौहान राज्य में दुर्लभराज के समय से बढ़ते हुये मुसल्मानी आक्रमण को रोकने के लिये उत्तर-पश्चिमी सीमा पर सदैव किलाबन्दी होती रहती थी। लेकिन ये सब उपाय कुछ दिनों तक लाभकर सिद्ध हुये, क्योंकि इस राजा के तथा इसके उत्तराधिकारी सोमेश्वर के समय में कोई मुसल्मानी आक्रमण नहीं हुआ था।

सोमेश्वर के बाद चौहान राज्य सिंहासन के उत्तराधिकारी पृथ्वीराज तृतीय के काल में कठिन समय उपस्थित हो गया। जिस समय सोमेश्वर की मृत्यु हुई उस समय पृथ्वीराज की बाल्यावस्था थी इस लिये राज्य कार्य चलाने के लिये उसकी माता उसकी संरक्षिका नियुक्त हुई। इस समय मुसल्मानों को फिर चढ़ाई करने का सुयोग मिल गया था। "पृथ्वीराज विजय" नामक नाटक का, जिसमें पृथ्वीराज का चरित्र चित्रण किया गया है पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। किन्तु इस पुस्तक के केवल एक या दो पृष्ठ अब शेष हैं जिससे मालूम होता है कि गोरी नामक गोमक्षक म्लेच्छ ने, जिसने गजनी को जीता था, चौहान राज्य दरबार में अपना दूत भेजा था। इसमें आगे चलकर यह पता लगता है कि यह वही गोरी था

जिसके सिपाहियों ने "नद्दूल" (नाडोल) पर कब्जा कर लिया था, किन्तु चौहानों से लड़ने के पहले ही गुजरात के राजा ने उन्हें मार भगाया। यह स्पष्ट रूप से लिखा है कि 'उछ' और मुल्तान होते हुये मारवार की मरुभूमि को पार कर, चौहान राज्य पर बिना धावा किये हो ११७८ में शिहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी ने गुजरात पर चढ़ाई की थी। उस समय गुजरात का राजा सोलन्की वंशीय भीम देव द्वितीय था जिसने अपने भाई कीर्त्तिपाल, नाडोल सर्दार केल्हण और चन्द्रावती के परमार सर्दार धारावर्ष की सहायता से आबू पहाड़ की तराई में कासहूद (कायाद्र) नामक स्थान में भीषण हत्याकाण्ड के बाद मुसल्मानों को हराया। मुसल्मानों की हार ऐसी भयकर हुई और स्वय शिहाबुद्दीन ऐसी बुरी तरह घायल हुआ कि शीघ्र ही उसे अपनी सेना युद्धक्षेत्र से हटानी पड़ी। राजपूतों द्वारा मुसल्मानों की घोर पराजय का यह दूसरा उदाहरण है।

इस लज्जास्पद हार का शिहाबुद्दीन पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि ११९१ ई० के पहले वह फिर भारतवर्ष पर चढ़ाई करने का साहस नहीं कर सका। अभाग्यवश इस समय चौहान और गढ़वाल राज्य परिवारों में आपस में मत भेद उत्पन्न हो गया था। मुसल्मानों को आक्रमण करने के लिये यह स्वर्ण अवसर मिला। भारतवर्ष पर आनेवाली इस विपत्ति से पृथ्वीराज अनभिज्ञ नहीं था, उसने उत्तरी भारत के सब राजाओं के पास युद्ध का आमन्त्रण भेजा तथा जयचन्द्र के अतिरिक्त सबने इसे स्वीकार किया। थानेश्वर और करनाल के बीच 'तेरेन' अथवा "तलवरी" नामक स्थान में शिहाबुद्दीन की पृथ्वीराज तथा उसके साथियों से मुठभेड़ हुई। इस युद्ध में भी पृथ्वीराज को अपूर्व विजय प्राप्त हुई, शत्रु बुरी तरह घायल हुये और जान लेकर भागे।

किन्तु इसके बाद राजपूत आलसी और आरामतलब हो गये जिससे उनकी उन्नति रुक गई तथा मुसल्मानों को समूल नष्ट करने के आदर्श को भूल कर वे भोग विलास में लिप्त हो गये। घोर में तेरह मास विश्राम करने के पश्चात् शिहाबुद्दीन असंख्य सिपाहियों के साथ फिर पिछले युद्धस्थल में आ डटा और राजपूतों को किसी झूठे बहाने से निश्चिन्त कर उसके सिपाही मध्य रात्रि में उनके ऊपर टूट पड़े। राजपूत असावधान थे तथापि वे बड़ी वीरता से लड़े और दूसरे दिन सूर्यास्त तक विजयी ही रहे। किन्तु शिहाबुद्दीन ने अपने चुने हुये कुछ अश्वारोही सिपाहियों के साथ हमला किया तो राजपूत हार गये। पृथ्वीराज जिन्दा पकड़ लिया गया तथा निर्दयतापूर्वक मार डाला गया। यहीं से मुसल्मानी साम्राज्य की नींव पड़ी।

जयचन्द्र ने स्वदेश के साथ विश्वासघात किया और शीघ्र ही उसे इसका फल भी चखना पड़ा। ११९४ ई० में शिहाबुद्दीन ने उसे हराया और मार डाला तथा उसके राज्य को हड़प गया। भारतवर्ष उस समय अनेक छोटे छोटे राज्यों में विभक्त था इसलिये तेरेन की दूसरी लड़ाई के बाद छः वर्ष के भीतर ही शिहाबुद्दीन ने समस्त उत्तरी भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है जिस समय उत्तरी भारत में गुर्जर साम्राज्य स्थापित हुआ था

उस समय सुलेमान और सफेदकोह पर्वत की श्रेणियां साम्राज्य की प्राकृतिक सीमा थीं। गुर्जर राज्य काल के जागीरदारों में एक परिवार शाहिया वशीय हिन्दू का था जिसका राज्य सीमाप्रांत से लेकर काबुल की घाटी तक विस्तृत था। इसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। साम्राज्य की उत्तर-पश्चिमी सीमा की रक्षा भी एक राजकीय समस्या थी जिसे कि शाहिया वंश वालों ने शत्रु को आगे बढ़ने से रोक कर दूर कर दिया था। इसलिये जब गुर्जर राज्य का पतन हो गया तब सुबुक्तगीन और महमूद गजनवी ने भारत पर कई आक्रमण किये जिससे शाहिया शक्ति का अन्त हो गया और पंजाब का अधिकांश भाग मुसल्मानों के अधिकार में चला गया। गुर्जर राज्य के पतन के कारण देश में जो उलट-फेर हो गया था वह कुछ समय के बाद ठीक हो गया और दो राजपूत राज्य वंश शक्तिशाली हो गये जिनका राज्य पंजाब के बहुत निकट था। इसलिये यह स्वाभाविक था कि ये राजपूत रियासतें समय समय पर होने वाली मुसल्मानों की लूट-खसोट को रोकतीं। मुसल्मानों के आक्रमण को रोकने की समस्या बड़ी विषम हो गई थी क्योंकि पंजाब की समतल भूमि में कोई पहाड़ नहीं था जिससे राजपूतों के राज्य की रक्षा होती। इसके अतिरिक्त दो भिन्न भिन्न राजपूतों का राज्य था जिससे उनकी राजनीति भी अलग अलग थी। इन राजपूत राजाओं और गुर्जर नरेशों में राजनैतिक असमानता थी; गुर्जर राजाओं का मुख्य उद्देश्य विदेशियों से देश की रक्षा करना था। लेकिन इन सब असुविधाओं के होते हुए भी ये दोनों राजपूत वंश लगभग डेढ़ शताब्दी तक मुसल्मानों के आक्रमण को रोकने में सफल हुये थे। अगर पूछा जाय कि राजपूतों की सफलता का कारण क्या था तो जवाब यही होगा कि उनमें वीरता और पराक्रम कूट-कूट कर भरा था, उन्हें न अपने जीवन की परवाह थी और न वे युद्ध करने से डरते थे। "ललित विग्रह राज" नामक नाटक से मालूम हो चुका है कि विग्रह राज अथवा वीसल देव अपने ब्राह्मण मंत्री के विरोध की कुछ परवाह न कर और मुसल्मानों की अगणित संख्या की कुछ भी परवाह न कर उनसे लोहा लेने को कितना उत्कण्ठित था। समझाने की सभी चेष्टायें विफल हुईं और वह मुसलमानी सेना से भिड़ ही गया, सौभाग्यवश राजपूत पराक्रम के कारण उसे अपने कार्य में सफलता मिली। उसका वह साहस पूर्ण संग्राम ही इस बात का साक्षी है कि क्यों प्रत्येक युद्ध में राजपूत विजयी हुए, यदि कभी विदेशियों की विजय हुई तो वह किसी विशेष घटना वश थी। सुबुक्तगीन को जयपाल पर विजय अचानक वर्फ गिरने के कारण हुई जिससे हिन्दू बिलकुल विवश हो गये क्योंकि वे ऐसी असह्य सर्दी के आदी नहीं थे। इसी प्रकार सुबुक्तगीन के पुत्र मुहम्मद गजनवी द्वारा जयपाल के पुत्र आनन्दपाल की हार उसके हाथी के बिगड़ कर भाग जाने के कारण हुई जिसे उसकी सेना ने रणभूमि से भागने का इशारा समझा। किन्तु सोमनाथ पर चढ़ाई करने और उसे लूटने के बाद जब मुहम्मद गजनवी को मालूम हुआ कि जिस रास्ते से वह आया है उसे युद्ध-इच्छुक राजपूतों ने घेर लिया है तो वह उस रास्ते को छोड़ सिन्ध होता हुआ गजनी वापस गया, जिससे उसकी सेना को बहुत कष्ट उठाना पड़ा। इसी भांति जब शिहाबुद्दीन गोरी ने ११७८ ई० में

गुजरात पर चढ़ाई की तो सोलन्की वंशीय राजा विमल देव ने परमार और सोनिगरा सर्दारों की सहायता से आबू पहाड़ की घाटी में उसे ऐसी बुरी तरह पराजित किया कि शिहाबुद्दीन गोरी को अपनी जान लेकर भाग जाना पड़ा।

तेरह वर्ष बाद अर्थात् ११९१ ई० में मुसल्मान बादशाह ने पहले से अधिक सेना लेकर भारत पर फिर चढ़ाई की और तेरेन के मैदान में पृथ्वीराज के नेतृत्व में राजपूतों से उसकी मुठभेड़ हुई। इस युद्ध का परिणाम भी हम लोगों को ज्ञात है। इस बार भी जब मुसल्मानों का राजपूतों से सामना हुआ तो उन्हें लज्जास्पद पराजय अपने गले लगाना पड़ा और उनके नेता शिहाबुद्दीन को अपनी प्राण रक्षा के लिये भागना पड़ा। राजपूतों की विजय का कारण उनकी वीरता थी, वे कभी युद्ध में अपने जीवन की चिन्ता नहीं करते थे इसीलिये उन्होंने सदा खुली रणभूमि में अपने मुसल्मान विरोधियों को नीचा दिखाया था। किन्तु तराई की लड़ाई से हमें राजपूतों के चरित्र की एक और विशेषता देखने को मिलती है। उन्होंने उन्नति की ओर से मुख मोड़ लिया था और वे सुअवसर का लाभ उठाना नहीं चाहते थे। जब शिहाबुद्दीन पराजित होकर भागा तो पृथ्वीराज और उसके सार्थियों ने शत्रु को देश से बाहर निकाल कर ही दम क्यों नहीं लिया, जिसे वे सरलता पूर्वक कर सकते थे। क्या महमूद गजनवी ऐसे सुअवसर का लाभ नहीं उठाता था ?

किन्तु राजपूतों की धारणा भिन्न थी। वे अपने जीवन से ही लापरवाह नहीं रहते थे बल्कि विजय का पूरा लाभ उठाने में भी उदासीन रहते थे यही दुर्बलता उनमें उत्पन्न हो गई थी। इसका कारण था उनका अपने विजय में अटल विश्वास। इतिहास में उनकी इस उदासीनता के उदाहरण की कमी नहीं है, उसी से पता चलता है कि तेरेन की पहली लड़ाई में विजय का पूरा लाभ इन्होंने क्यों नहीं उठाया था।

हम जानते हैं कि इस उदासीनता का परिणाम कितना भयंकर हुआ है। इसी ने भारत में मुसल्मानी शक्ति की नींव डाली और इसीने आज इस देश के पूरे इतिहास को बदल दिया है।

अनुवादिका—श्रीमती कनकलता पुरी

लखनऊ

कुशाण काल में भारत के आर्थिक संघ

वैजनाथ पुरी एम. ए.

कुषाण काल की आर्थिक अवस्था का पता उस समय के लेखों से लगता है। वे लेख, जो ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपि में उत्तरी और मध्यभारत में मिले, इस बात को सिद्ध करते हैं कि उस समय भारतवर्ष की अवस्था बहुत अच्छी थी। लोग सुखी और सम्पन्न थे। व्यापारी गण अथवा संघ, अपने व्यवसाय के अतिरिक्त धार्मिक कार्यों में भी अधिक ध्यान देते थे। ये व्यापारी गण इस समय के आधुनिक बैंक की भांति लोगों का रुपया रखते थे। इस रुपये का व्याज धार्मिक कार्यों में भी लगाया जाता था। इन व्यापारी गणों के नियम और कार्यों की छानबीन करने के पहिले यह जानना आवश्यक है कि उस समय इस प्रकार के कितने गण, श्रेणी अथवा संघ थे।

नवकर्मिक—तक्षिला के डिब्बे पर लिखा हुआ महाराज कनिष्क के प्रथम वर्ष का एक लेख१ यह प्रमाणित करता है कि 'दास' अगिशल नवकर्मिक ने इस डिब्बे की भेंट में भाग लिया था। ये डिब्बे बुद्धजी अथवा और किसी दूसरे बौद्ध भिक्षु की राख रखने के काम में लाये जाते थे। इस लेख की भांति हिदा२ के एक खरोष्ठी लेख से पता चलता है कि संघमित्र नामक एक नवकर्मिक ने एक स्थान पर किसी भिक्षु की राख और हड्डियां रख दी थी। एक और पुराने खरोष्ठी लेख३ से पता चलता है कि एक संघाराम बनवाने, जिसमें बौद्ध भिक्षु रह सकें, और बुद्धजी की राख और हड्डियां एक स्थान पर रखने का प्रबन्ध, रोहिनिमित्र नामक एक नवकर्मिक द्वारा हुआ था। इन लेखों से यह पता चलता है कि उस समय कुछ ऐसे व्यक्ति थे जो अपने को नवकर्मिक कहा करते थे। इनके गण अथवा श्रेणी अवश्य थे यद्यपि लेखों से यह बात स्पष्ट रूप से नहीं मालूम पड़ती है। आगे चल कर यह प्रतीत होगा कि कुछ लेखों में इन व्यवसायी पुरुषों के नाम के आगे उनकी श्रेणी अथवा गण का नाम भी लिखा है। इसी के आधार पर यह निस्संकोच कहना पड़ता है कि सब व्यापारी अपने अपने गण अथवा श्रेणी बना लिया करते थे।

संस्कृत शब्दकोष के अनुसार४ 'नवकर्मिक' शब्द का अर्थ 'निरीक्षक' है (जो प्रासाद अथवा भवन

---

१ स्टेनकनाओ : कारपस जिल्द २ पन्ना १२५।

२ यही पुस्तक पन्ना १५७।

३ यही पुस्तक पन्ना २१।

४ मोनियर विलियम्स—संस्कृत कोष पन्ना ५३०।

बनाने के समय निरीक्षण करता है)। क्या वह राज्यकर्मचारी था अथवा नवकर्मिक श्रेणी का सदस्य था ? इस बात का पता इससे लगता है कि इन तीन लेखों में तीन भिन्न नवकर्मिकों के नाम दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त प्रथम लेख में अगिशल अपने को 'दास' कहता है। यदि वह राष्ट्रकर्मचारी होता तो इस प्रकार अपने को 'दास' न कहता। इससे यह सिद्ध होता है कि नवकर्मिक शिल्पकारों का एक गण अथवा संघ था। उसके सदस्य विहार, मन्दिर इत्यादि के बनवाने में निरीक्षण किया करते थे। इसलिये यहां यह कह देना भूल न होगा कि उन नवकर्मिकों का प्रधान काम महल, मन्दिर और विहारों इत्यादि को बनाना और उनका निरीक्षण करना था।

नवकर्मिकों की श्रेणी बहुत प्राचीन है। मनु ने भी इस श्रेणी के विषय में लिखा है५। यह नवकर्मिक चतुर्थ वर्ण के थे और इनके साथ खान-पान निषेध था। मनु के अतिरिक्त गौतम६, वाशिष्ठ७, नारद८ और विष्णु९ स्मृतियों में भी इस श्रेणी का उल्लेख है। एक कुषाण लेख में बुरित नाम के एक पुरुष के विषय में लिखा है कि वह विहारों की मरम्मत करता था१०। क्या ये 'विहार-कारापकेण' नवकर्मिक श्रेणी से भिन्न थे ? इस विषय पर आलोचना करना कठिन है। यह हो सकता है कि वे उतने कुशल न हों जितने कि नवकर्मिक हुआ करते थे।

लोहवर्ण—लोहार—लोहवर्ण या लोहार की श्रेणी का पता मथुरा के दो ब्राह्मी कुषाण लेखों से चलता है। प्रथम लेख में लोहवर्ण हग्गुदेव की प्रथम स्त्री और मणिकार खोट्टमित की कन्या, मित्रा के दान का वर्णन है११। दूसरे लेख में लिखा है कि गोव नामक लोहार ने सरस्वती की एक मूर्त्ति स्थापित की थी१२। इसके अतिरिक्त एक और तीसरा लेख मिला है जिसमें गोट्टिक नामक लोहार श्रेणी के सदस्य के दान का उल्लेख है१३। लोहार श्रेणी भी प्राचीन है। एक जातक में इस श्रेणी का उल्लेख है१४। ये शिल्प और कला में चतुर समझे जाते थे। इनका सामाजिक स्थान चित्रकार, बढ़ई और कारीगरों के बराबर का था।

मनिकार—मणिकार१५—संस्कृत शब्दकोष में मणिकार का अर्थ जौहरी है१६। ऊपर

---

५ III. ५०-६०. ६ XVII. १७, ७ III. ३, ८ I. १७८, ९ XXXVII. २२।

१० स्टेनकनाओ : कारपस जिल्द २ पन्ना १५०।

११ एपीग्राफिया इंडिका जिल्द १ नम्बर ४ पन्ना ३८३।

१२ वही, जिल्द १ पन्ना ३९१।

१३ वही, जिल्द २ नम्बर १८ पन्ना २०३।

१४ Vi ४२७

१५ एपीग्राफिया इंडिका जिल्द १ नम्बर ४ पन्ना ३८३।

१६ मोनियर विलियम्स, संस्कृत कोष पन्ना ११४।

यह कहा जा चुका है कि हगुदेव नामक लोहार की स्त्री खोट्टमित मणिकार जयभट्ट की दुहिता थी। यह एक प्रकार से पहेली सी लगती है कि किस प्रकार से एक मणिकार जो समाज में ऊंचा स्थान रखने योग्य है अपनी कन्या का विवाह एक लोहार के साथ कर सकता है। इस विषय पर अधिक चर्चा आगे की जावेगी। यहां केवल इतना कह देना आवश्यक है कि व्यवसाय करने में जात-पांत का भेद नहीं समझा जाता था। पाली पुस्तकों में राजसी शिल्पकारों का भी वर्णन है[१७]। एक राजा बहुत कुशल शिल्पकार और चित्रकार था और उसने एक बोधिसत्त्व की सुन्दर मूर्त्ति बनाई थी।

उसी काल के यूनानी इतिहासकारों द्वारा यह ज्ञात होता है[१८] कि भारतवर्ष के मणि और हीरे पश्चिमी संसार में बहुत प्रसिद्ध थे। इसलिए मणिकार श्रेणी के सदस्यों का अवश्य ही अच्छा व्यवसाय रहा होगा, यद्यपि जयभट्ट की कन्या के लेख के अतिरिक्त और किसी मणिकार का लेख अभी तक नहीं मिला है।

सत्तवाहिनियेः— (संस्कृत सार्थवाहन)—'सार्थवाहन' शब्द का अर्थ "व्यापारिक झुण्ड का वाहन" अथवा 'काफिले का सरदार' है[१९]। एक ब्राह्मी लेख[२०] में एक सार्थवाहन की स्त्री धर्म मित्रा के दान का उल्लेख है। इस सार्थवाहन का नाम उस लेख में नहीं लिखा है। सम्भव है कि वह कोई बहुत प्रसिद्ध पुरुष हो और इसलिए उसके नाम लिखने की कोई आवश्यकता न समझी गई हो। यहां पर यह कहना कठिन है कि सार्थवाहन का पद पैत्रिक अथवा 'मौरूसी' होता था या भिन्न-भिन्न काल में व्यापारी किसी एक पुरुष को अपना वाहन चुन लिया करते थे। सब बाहर जाने वाले व्यापारी एक साथ चलते थे क्योंकि चोर डाकुओं के कारण अकेले जाना सुरक्षित न था। इन व्यापारियों का वाहन केवल मार्ग से ही भली भांति परिचित नहीं था बल्कि उसे इसका भी ज्ञान था कि किस स्थान पर चोरों का गिरोह है। जातकों में भी इन बाहर जाने वाले व्यापारियों के वाहन 'जेठक' का उल्लेख है।[२१] एक स्थान पर इसका भी संकेत है कि पूर्व जन्म में बुद्धजी इन व्यापारियों के सरदार होकर बनारस गये थे। कुषाण काल में राष्ट्रीय और अन्तर-राष्ट्रीय व्यापार के कारण सार्थवाहन की खूब आवश्यकता थी, विशेष रूप से जब कि चीन और रोम में भारत होकर मलमल का व्यवसाय हुआ करता था। ये वाहन जगह जगह पर ठहरने, पानी पीने और चोरों से बचने का आदेश दिया करते थे।

---

१७ महावंश XXX और XXXIV

१८ प्लिनी भूगोल XXXVII

१९ मोनियर विलियम्स कोष पन्ना १२०६।

२० एपीग्राफिया इंडिका जिल्द १ नम्बर २९ पन्ना ३९५।

२१ I. १९८, II. २९५।

गंधिकः—मथुरा में कोई तीन ब्राह्मी लेख गंधिक श्रेणी के सदस्यों के पाये गये हैं। इन लेखों से पता चलता है कि उस समय गंधिक भी अपना व्यवसाय किया करते थे। एक गंधिक की माता कुमार भट्टी ने वर्द्धमान महावीर की एक मूर्त्ति स्थापित की थी२२। अरहत की एक चतुर्मुखी मूर्त्ति ऋतुनन्दी की पुत्री, बुद्धि की स्त्री और एक गंधिक, जिसका नाम मिट गया है, की माता जितामित्रा ने स्थापित की थी।२३ तीसरा लेख एक ध्यानी मुद्रा मे जैन अरहत की मूर्त्ति के नीचे भाग में मिलता है।२४ इस लेख में सेन की पुत्री और एक गंधिक की स्त्री जिनादासी के दान का वर्णन है। महाराज वासुदेव के समय के ८३ संवत् का यह लेख है।

गंधिक श्रेणी बहुत प्राचीन है और जातकों के अनुसार२५ वह एक निर्दिष्ट स्थान पर रहती थी। गंधिक शृंगार की सब वस्तुएं विक्रय करते थे जैसे चन्दन का तेल, कपूर का तेल, गुलाब जल इत्यादि। यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता है कि गंधिक दवाइयां और जड़ी बूटियां इत्यादि भी बेचते थे अथवा नहीं।

हैरण्यक (संस्कृत हिरण्यकार)—हिरण्यक श्रेणी के सदस्यों का केवल एक लेख मथुरा में मिला है२६। इसमें हैरण्यक देव की कन्या के वर्द्धमान की मूर्त्ति स्थापित करने का वर्णन है। इसके अतिरिक्त किसी और हिरण्यक का कोई लेख नहीं मिला है। उस समय पुरुष और स्त्री दोनों खूब आभूषण पहनते थे इसलिये हिरण्यकारों की अधिक आवश्यकता थी। मूर्त्तियों के आभूषणों से पता चलता है कि उस समय भांति भांति के सुन्दर आभूषण बनते थे। यह, यहां पर नहीं कहा जा सकता कि हिरण्यकार केवल सोने के आभूषण बनाते थे अथवा चांदी के भी, किन्तु ये स्वर्णकार मणिकारों से अवश्य भिन्न थे और सम्भवतः मणि के आभूषण नहीं बनाते थे।

राजनापितः—जरा नामक राजनापित का एक लेख मथुरा में मिला है। संस्कृत शब्द 'नापित' का अर्थ 'नाई' हैं इसलिए राजनापित का अर्थ 'राजा का नाई' अथवा 'नाइयों का राजा' हो सकता है। यहां पर दूसरा अर्थ ही लेना चाहिए। जरा नामक राजनापित का यह लेख२७ बड़े-बड़े अक्षरों में

---

२२ एपीग्राफिया इंडिका जिल्द १ नम्बर १ पन्ना ३८५।

२३ वही पुस्तक जिल्द २ नम्बर १६ पन्ना १९९।

२४ वोगेल : कैटालाग आफ मथुरा म्यूजियम नम्बर B २ पन्ना ६९।

२५ I. ३२०, II. १९७।

२६ एपीग्राफिया इंडिका जिल्द २ नम्बर २२ पन्ना २०५।

२७ जरनल यू० पी० हिस्टारिकल सोसाइटी जुलाई १९२१ मथुरा के कुछ नये लेख नम्बर ३।

संभवतः साइनबोर्ड का काम देता होगा। लेख से यह पता नहीं चलता कि यह कहां मिला। नापित का कार्य केशों को संभालना, हजामत बनाना और पैर दबाना था। समाज में उनका चतुर्थ श्रेणी में स्थान था। जातकों में इनकी श्रेणी पैर दबाने वालों के साथ है। २८

समितकर—मथुरा के एक लेख से २९ केवल समितकर श्रेणी या संघ का ही पता नहीं चलता है किन्तु यह भी ज्ञात होता है कि उस काल के संघ वर्त्तमान बैंकों की भांति लोगों का रुपया जमा करते थे और उसका ब्याज देते थे। दातृ के आदेशानुसार यह ब्याज धार्मिक और पुण्य कार्यों में लगाया जाता था। इस विषय पर आगे चर्चा की जावेगी, यहां पर इतना कह देना आवश्यक है कि उस समय में एक समितकर नामक आर्थिक संघ भी था। संस्कृत शब्दावली में इसका अर्थ 'गेहूं आटे का संघ' है ३०। इससे यह प्रगट होता है कि गेहूं घर में नहीं पीसा जाता था किन्तु इस संघ के सदस्य गेहूं पीस कर आटा दिया करते थे। यह कोई नीच काम नहीं समझा जाता था क्योंकि लेख से पता चलता है कि इसके सदस्यों का जनता में सम्मान और आदर था और इस श्रेणी का कार्य श्रेष्ठ समझा जाता था। एक विदेशी कनसक्रमान ने ५०० पुराण इस संघ के पास जमा किये थे।

रयगिनिये—मथुरा में एक रयगिनि के दान का भी लेख मिला है ३१। ल्यूडरस ने जिन्होंने इस लेख का पहले अनुवाद किया था, इस शब्द को दातृ का नाम समझा। किन्तु व्यूलर के कथनानुसार 'रयगिनि', 'रयग' अथवा 'रजक' शब्द का स्त्री लिङ्ग है जिसका अर्थ 'धोबी की स्त्री' है। यदि यह ठीक है तो एक और संघ का पता चलता है।

धोबी (रजक) और रंगनेवाले (रंगरेज) के संघ बहुत प्राचीन हैं। नारद स्मृति में ३२ इनका उल्लेख हैं। इसके अतिरिक्त जातकों में भी रंगरेजों के संघ का वर्णन है। एक जातक में लिखा है ३३ कि रंगरेजों का संघ सार्वथा अथवा श्रावस्ती में था। यद्यपि धोबी और रंगरेज के संघ अलग २ थे, धोबी कपड़े धोता था और रंगरेज़ रंगता था, किन्तु यह हो सकता है कि कुषाण काल में धोबियों ने कपड़े रंगने का काम भी अपने हाथ में ले लिया हो।

वणिक—कुषाण काल में शिल्पकार संघ और सार्थवाहन से भिन्न वणिकों का एक संघ

---

२८ बुद्धिस्ट इंडिया पन्ना ९४।

२९ एपीग्राफिया इंडिका जिल्द २१ नम्बर १० पन्ना ५९।

३० मोनियर विलियम्स कोष पन्ना ११६४।

३१ इंडियन ऐंटीक्वेरी जिल्द ३३ पन्ना ३७ और एपीग्राफिया इंडिका जिल्द १ नम्बर ५ पन्ना ३८४।

३२ I. १७८, १८१।

३३ III

था। इस बात का पता बोधिसत्व मूर्त्ति पर लिखे हुए एक लेख से लगता है३४। इसमें धर्मकाश नामक व्यापारी की स्त्री पुशिका-नागप्रिया के दान का उल्लेख है। उस समय के ये बणिक दूसरे व्यापारी अथवा शिल्पकार जिनका वर्णन ऊपर हो चुका है, उनसे बहुत भिन्न थे। किसी स्थान में उनकी दूकान थी और वे आधुनिक दूकानदारों की भांति प्रातःकाल दूकान जाते होंगे और सायंकाल को लौटते रहे होंगे।

संघों का विधान और उनके कार्य—संघों के विधान के विषय में कोई अधिक प्रमाण नहीं मिलता है। एक लेख से पता चलता है३५ कि व्यापारिक संघ 'श्रेणी' कहलाते थे। इन श्रेणियों का प्रमुख या प्रधान 'श्रेष्ठिन' कहलाता था३६। उसके अधिकार के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता पर हां इतना अवश्य है कि वह सघ के सदस्यों के आपस के झगड़े इत्यादि तय करता था। विनय पीटका में लिखा है३७ कि वह सदस्यों और उनकी स्त्रियों के झगड़े तय किया करता था। यहां यह नहीं कहा जा सकता कि भिन्न २ संघ अथवा श्रेणियों के झगड़े कौन तय करता था। यह सम्भव है कि इन श्रेणियों ने अपनी कलह को तय करने के लिये किसी व्यक्ति को सबसे प्रमुख श्रेष्ठिन चुन लिया हो। इस प्रकार की अवस्था पहले थी जैसा कि जातकों में लिखा है३८ और यह सम्भव है कि यही दशा कुषाण काल में भी रही हो।

ये आर्थिक संघ उस काल में बैंक का भी काम देते थे। धर्म का प्रचार करने के हेतु ये दूसरों का रुपया भी जमा रखते थे और उसका ब्याज धर्म के काम में लगाया जाता था। एक लेख३९ से पता चलता है कि एक विदेशी कनसरकमन ने समितकर और शाक श्रेणियों के पास पांच २ सौ पुराण रख दिये थे। उसके ब्याज से प्रति मास सैकड़ों ब्राह्मणों तथा भूखे नंगों को भोजन देना अनिवार्य था। इन दोनों श्रेणियों को उस पुण्यशाला का भी प्रबन्ध करना पड़ता था जिसमें ब्राह्मण बैठ कर भोजन करते थे। यहां पर यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रबन्ध के लिये इन श्रेणियों को कुछ मिलता था या नहीं। हो सकता है कि इस धार्मिक कार्य के लिये वे कुछ न लेते थे। ब्याज की दर के विषय में भी लेख में कुछ नहीं लिखा है।

---

३४ एपीग्राफिया इंडिका जिल्द १ नम्बर १४ पन्ना ३८५।

३५ यही जिल्द २१ नम्बर १० पन्ना ५५।

३६ यही जिल्द १ नम्बर पन्ना ३८१।

३७ IV. २२६।

३८ II. १२, ५२।

३९ एपीग्राफिया इंडिका जिल्द २१ नम्बर १० पन्ना ५५।

एक बात और यहां ध्यान देने योग्य है। किसी संघ का सदस्य होने के लिये किसी विशेष जाति का होना आवश्यक नहीं समझा जाता था। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, व्यापार चुनने में जाति का कोई ध्यान नहीं रहता था। एक लेख से पता चलता है कि एक मणिकार ने अपनी कन्या एक लोहार को दी थी। इससे यह प्रकट होता है कि वे दोनों एक ही जाति के होंगे, किन्तु एक ने मणि का व्यापार किया था और दूसरा लोहार था। जाति दोनों की एक ही रही होगी।

इसलिये इन प्राचीन लेखो से पता चलता है उस समय की आर्थिक दशा बहुत अच्छी थी। लोग सुखी और सम्पन्न थे। व्यापारिक और कला संघ अपने अपने सदस्यों का ध्यान रखते थे। इनकी आर्थिक दशा बहुत अच्छी थी, यह उस समय के दान लेखो से पूर्णतया प्रगट है। एक मामूली संघ की दशा भी इतनी अच्छी थी, कि बाहर से आकर उस संघ के पास धार्मिक कार्य के लिये एक विदेशी ने रुपया जमा किया था। यहां पर यह नही बताया जा सकता कि उस समय में कितने आर्थिक संघ थे, फिर भी इन संघो के विषय में बहुत कुछ कहा जा चुका है। राष्ट्रीय और अन्तर राष्ट्रीय व्यापार इस बात का प्रमाण देते हैं कि उस समय में लोग कितने सुखी और सम्पन्न थे। मूल रूप से इतना ही कह देना पार्याप्त होगा कि वह सुख, सन्तोष और समृद्धि का काल था।

—o—

प्रतिमा

श्रीमत्स्वामी श्रीशंकर तीर्थ जी महाराज

"प्रतिमानं प्रतिबिम्ब प्रतिमा प्रतियातना" (अमरसिंहः)। यहां प्रतिपूर्वक 'माङ् माने' धातु से (प्रतिमीयते पूज्यतेऽनयेति) इस विग्रह में "आतश्चोपसर्गे" ३-३-१०६ सूत्र से करण अर्थ में अङ् प्रत्यय और "कुगति प्रादयः" २-२-१८ सूत्र से नित्य-समास करने पर "प्रतिमा" शब्द होता है। यह सादृश्य का वाची है और प्रायः देव मूर्त्तियों का ही वाचक है। ऐसे ही पारस्करादि गृह्य परिशिष्ट मन्त्रों में कहा है—

"अथ मृदादि निर्मित शिवलिंगाद्यर्च्चन विधौ प्रमाणानि निरूप्यन्ते तत्रादौ पारस्कर गृह्यसूत्र माह 'अथा तो वापी कूप तड़ागा रामदेवतायन पुष्करिण्यां प्रतिष्ठा स्थापनं व्याख्यास्यामः' (अथ बौधायनः)··· ···। ब्रह्महत्यादि पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचेति"—

अब मृत्तिकादि निर्मित शिवादि मूर्त्तियों के पूजन की विधि में प्रमाण कहते हैं। वहां प्रथम पारस्कर गृह्य सूत्र में लिखा है कि वापी, कूप, तड़ाग, बगीचा, देव मन्दिर और सरोवर की प्रतिष्ठा की विधि की व्याख्या नहीं करते हैं। बौधायन सूत्र में लिखा है कि इसके उपरान्त महादेव की पूजा प्रति दिन इस प्रकार करना चाहिए—"स्नान करके पवित्रात्मा होकर पवित्र देश गोबर से लीपकर मृत्तिकादि से बनी हुई महादेव जी की मूर्त्ति का पूजन करे"। ऋग्वेद के आश्वलायन गृह्य परिशिष्ट में लिखा है कि पूर्व मुख की प्रतिमाओं का उत्तर मुख होकर पूजा करे, यदि पूर्व मुख न हों तो पूजक स्वयं पूर्व मुख होकर पूजन करें और मैत्रायणी शाखा में लिखा है कि पाषाण, लोह, सुवर्ण, रजत आदि तथा मणियों से बनी हुई मूर्त्तियों की पूजा करनी चाहिये। अथर्वण-रहस्य श्री रामोत्तर-तापनीय में श्रीराम ने कहा है कि, अहो देवनायक! आपके इस काशी क्षेत्र में जो कृमि, कीट, पतगादि मर गये हैं, उनकी शीघ्र ही मुक्ति हो जाती है इसमें सन्देह नहीं है। आप के अविमुक्त क्षेत्र याने आनन्द बाग में सबों की मुक्ति-सिद्धि के लिए पाषाणादि निर्मित देव प्रतिमाओं में मैं स्थित हो रहा हू्। अहो मङ्गल दायक! इस क्षेत्र में जो प्राणी भक्ति सहित राम मन्त्र से मेरी पूजा करेंगे उनको ब्रह्म इत्यादि पापों से छुड़ा दूंगा, आप सोच मत करिये॥

ऐसे ही वाल्मिकीय-रामायण के उत्तर काण्ड ३१ सर्ग में कहा है—

"यत्र यत्र स यातिस्म रावणो राक्षसेश्वरः। जाम्बुनदमयं लिंग तत्र तत्र स्मनीयते॥·········, प्रणर्त्त चाम्रतः॥"—

राक्षसों का स्वामी रावण जहां जहां जाता था वहां सुवर्ण का बना हुआ शिव-लिंग पास में रखता था। पूजा के समय उस लिंग को बालू की वेदी में स्थापित कर चन्दन और सुगन्धित पुष्पों से उसकी पूजा करता था और उसके बाद बीसों भुजाओं को फैलाकर गान करता हुआ भक्त-दुःख नाशकारी सर्व-व्यापक परब्रह्म वरदायक चंद्रशेखर महादेवजी के आगे नाचता था।

ऐसे ही सूत्रकार पाणिनि और भाष्यकार पतजलि ने भी कहा है—"एव च पारस्कर गृह्य बौधायन गृह्य परिशिष्टमन्त्रैः पूर्वोक्त श्रुनिस्मृतिभिश्च शिवलिंगादि स्थापन तत्पूजन चानादि सिद्धमिति स्पष्टमेव प्रतीयते—अतएव अर्चासु पूजनार्थासु चित्रकर्मध्वजेषु च।............स्फुटमेव प्रतिमा पूजनमिति स्पष्टं भाष्यविदां शाब्दिकानामिति।"

इस प्रकार पारस्कर-गृह्य, बौधायन-गृह्य और आश्वलायन-गृह्य परिशिष्ट मंत्रों से तथा पूर्वोक्त श्रुति स्मृतियों से शिवलिंगादि की स्थापना और उनकी पूजा अनादि सिद्ध होकर स्पष्ट प्रतीत होता है। इसी से पूजा करने के योग्य पाषाणादि निर्मित प्रतिमा व चित्रों में लिखी हुई प्रतिमा अथवा ध्वजों में प्रतिमा होती है। जिनका देवपथादिगण में पाठ है उनमें कन् प्रत्यय का लोप हो जाता है, यह व्याकरण शास्त्र के आचार्यों का कथन सगत भी हुआ। यदि मूर्खों को ठगने के लिये ही पाषाणादि मूर्तियों की पूजा चलाई गई है, तो 'जीविकार्थे चापण्ये' सूत्रार्थ के उत्थान का असम्भव होने पर भगवान् पाणिनि व भाष्यकार पतजलि के लिये भ्रान्तत्व दोष का प्रसग हो जायगा। उक्त सूत्र का अर्थ यह है कि जहां पूजा-भेंट लेने के लिये पुजारियों ने प्रतिमा का स्थापन किया है वहां (इवे प्रतिकृतौ) सूत्र से जो कन् प्रत्यय हुआ उसका लोप हो जाता है; जैसे 'शिवस्य प्रतिमा शिवः स्कन्दस्य प्रतिमा स्कन्दः' शिव की प्रतिमा को शिव और स्कन्द की प्रतिमा को स्कन्दः कहते हैं और जहां द्रव्यार्थी लोग प्रतिमाओं को दूकानों में रखकर बेचते हैं वहां कन् का लोप नहीं होता है, परन्तु शिवकः, स्कन्दकः ऐसे ही प्रयोग हुआ करते हैं। इन सिद्धान्तों से भी प्रतिमा की पूजा करना सिद्ध हुआ।

ऐसे ही मनुस्मृति में कहा है—

न फाल कृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते। न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन॥ (अ.४)
तडागान्युदपानानि वाप्यः प्रस्रवणानि च। सीमासन्धिषु कार्याणि देवतायतनानि च॥ (अ.८)
कोष्ठागारायुधागार देवतागार भेद कान्। हस्त्यश्व रथहं तृश्च हन्यादेवा विचारयन॥ (अ.९)
मनुस्मृति के चौथे अध्याय में मनुजी ने कहा है कि हल से जुते हुए, खेतों में व जलों में, अथवा चिता के स्थानों में, व पर्वतों के ऊपर अथवा टूटे फूटे पुराने देव मन्दिरों तथा वापी के समीप मनुष्यों को मल-मूत्र त्याग न करना चाहिये। ऐसे ही अष्टमाध्याय में कहा है कि ग्राम के घूरे पर या अपनी हद पर तालाब, कुआं, बावली, झरना और देवताओं के मन्दिरों को बनवाना चाहिये। नवमाध्याय

में लिखा है कि जहां अन्न वस्त्रादि सामग्रियां रखी जाती हों या हथियार रखे जाते हों उन स्थानों को तथा देवमन्दिरों के नाश करने वालों को और हाथी, घोड़े वा रथों के चुराने वालों को राजा बिना विचार किये ही मार डाले।

भगवान् श्री शंकराचार्य जी की सम्मति से भी मूर्तियों की पूजा करनी चाहिये। ऐसे ही उपनिषदों के भाष्य में कहा है—

तथाहि तैत्तिरीयोपनिषदि षष्ठानुवाकभाष्ये—"ब्राह्मणः साक्षादुपलब्ध्यर्थमुपासनार्थं च हृदयाकाशस्थान मुच्यते शालग्राम इव विष्णोरित्युक्तम्।" तैत्तिरीय उपनिषद के छटे अनुवाक के भाष्य में श्री शंकराचार्य जी ने कहा है कि ब्रह्म की उपलब्धि (ज्ञान) के लिये, और उपासना के लिये जैसे शालग्राम बिष्णु के पूजने का स्थान है, वैसे ही हृदयाकाश स्थान कहा जाता है।

तथा प्रश्नोपनिषदि पचम प्रश्न भाष्ये—"ओंकारेतु विष्णवादि प्रतिमा स्थानीये भक्त्यावेशित ब्रह्मभावे ध्यायिनां तत्प्रसीदतीति।"

प्रश्नोपनिषद् में पचम प्रश्न के भाष्य में कहा है कि जैसे बिष्णु आदि देवताओं की पूजा का स्थान प्रतिमा ही है याने बिना प्रतिमा के अवलम्बन किये देवताओं की पूजा असम्भव है वैसे ही भक्ति से आवेशित ब्रह्मभाव वाले ओंकार के ध्यान करने वाले भक्तों के ऊपर वह ब्रह्म प्रसन्न होता है।

तथा ब्रह्मार्पणमित्यादि श्लोकोक्त भाष्ये—"यथा प्रतिमादौ विष्णवादि बुद्धिर्यथा वा नामादौ ब्रह्म बुद्धि स्तथार्पणादिषु ब्रह्म बुद्धि राधीयत इति।"

ऐसे ही "ब्रह्मार्पण ब्रह्महविः" भगवद्-गीता के इस ४।२४ मंत्र के भाष्य में कहा है—जैसे प्रतिमादि में विष्णु आदि देवताओं की बुद्धि व नामादि में ब्रह्मबुद्धि की जाती है वैसे ही अर्पणादि में भी ब्रह्मबुद्धि रखनी चाहिये।

अथ बृहदारण्यक षष्ठाध्याय भाष्ये "खं ब्रह्मेत्याद्युपक्रम्योपासना निरूपणा यास्ते तद् द्विप्रकारेण प्रतीकत्वे नाभिध्यान त्वेन च प्रतीकत्वेन यथा विष्णवादि प्रतिमा भेदेनै ओंकारे ब्रह्मेति प्रतिपत्तव्यस्तथा ओंकारालम्बनस्य ब्रह्म प्रसीदतीति।"—

ऐसे ही बृहदारण्यक उपनिषद् छटे अध्याय के भाष्य का प्रमाण लिखा है कि ब्रह्म की उपासना दो प्रकार की है, पहली प्रतीकोपासना, दूसरी अभिधानोपासना है, उनमें से प्रतीकोपासना में जैसे प्रतिमा का आलम्बन कर विष्णु आदि देवताओं की पूजा होती है, वैसे ही ओंकार ब्रह्म है ऐसा मानना चाहिये क्योंकि ओंकार के आलम्बन करने पर ब्रह्म प्रसन्न होता है जो निराकार औपचारिकों का वाचक होकर मंत्र शिरोमणि रूप से प्रकाश होता है।

यजुर्वेद के आरण्यक द्वितीय प्रपाठक उन्नीसवें अनुवाक में कहा है—

"यस्मै नमस्तच्छिरोधर्मो मूर्द्धानां ब्रह्मोत्तरा हनुर्यज्ञोधराविष्णुर्हृदयं सम्वत्सरः प्रजननमश्विनौ पूर्वपादा वत्रिर्मध्य···ना पत्यः प्रमीयते लब्धात्मोभवति ।"

जिस परमात्मा को सब लोग नमस्कार करते हैं वह शिशुमार रूप होकर नक्षत्र लोक में स्थित है। उसका सिर धर्म, ऊपर का ओंठ ब्रह्मा, नीचे का ओंठ यज्ञ, व हृदय विष्णु तथा संवत्सरात्मक काल शिश्न और अगले पैर अश्विनी कुमार व कमर अत्रि ऋषि व पिछले पैर मित्रा वरुण व पूंछ का पहला भाग अग्नि व दूसरा भाग इन्द्र और तीसरा भाग प्रजापति व चौथा भाग ब्रह्म है। उस दिव्य अनन्तशक्ति-युक्त शिशुमाररूप परमात्मा को जो प्राणी जानता है वह मृत्यु को प्राप्त न होकर स्वर्ग में वास करता है और कहीं मार्ग में नहीं मरता, न जल में डूबता है और न पुत्ररहित निर्वंश होकर मरता है, बरन सदैव धन्यवाद से पूर्ण होकर आनन्दित रहता है।

ऐसे ही छान्दोग्य उपनिषद् के पांचवें प्रपाठक में कहा है—

"यस्त्वेवमेवं प्रादेशमात्र निरभिमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु······ बस्तिरवरयिः पृथिव्येव पादौ ।"

जो स्वर्गादि पृथ्वी पर्यन्त व्यापक होकर इन्द्रियादिकों में प्रकाश होता हुआ अन्तर्यामी रूप से सर्व प्राणियों के भीतर बैठा है, उस प्रादेशमात्र, निरभिमान, आत्मस्वरूप, वैश्वानर नामक परमात्मा की उपासना जो प्राणी करता है, वह सब लोकों में या सर्व प्राणियों में सर्व भोगों के आनन्द समूहों को प्राप्त होता है। और वैश्वानर संज्ञक परमात्मा का स्वर्लोक मस्तक व सूर्य नेत्र, व पवन (वायु) प्राण, व आकाश शरीर, और जल वीर्य और पृथ्वी चरणयुगल हैं।—इस कथन से लोकपाल सहित सर्व जगत् उस परमात्मा की प्रतिमा ही है, ऐसा स्पष्ट प्रतीयमान होता है।

सामवेद के केन उपनिषद् में भी कहा है—देवताओं के लिये ब्रह्म ने असुरों को जीत लिया था। उस विजय में देवताओं की महा महिमा हुई। उसीसे उनके मन में घमण्ड आ गया कि यह हमारा ही विजय है और हमारी ही महिमा है। इसे जानकर गर्वापहारी सर्व-हृदय-वासी परमात्मा ने देवताओं के सामने यक्षरूप में अपने को प्रकट किया, परन्तु देवताओं ने मारे घमण्ड के उस रूप को नहीं पहचाना कि वह साक्षात् परमात्मा ही के रूप का अविर्भाव था। उस समय देवताओं ने अग्निदेव को भेजा कि तुम जाकर परीक्षा लो कि यह कौन आया है। उनकी आज्ञानुसार जाकर अग्निदेव ने पूछा कि यक्ष-रूप धारी आप कौन हैं और कहां से आपका आगमन हुआ? यदि आप हमको पूछते हैं तो हम अग्नि देव हैं। यह सुनकर ब्रह्म ने कहा कि तुममें कौन सा पराक्रम है? अग्निदेव ने कहा कि हम में भस्म करने की शक्तियां विद्यमान हैं। परमात्मा ने कहा कि यदि भस्म कर सकते हो तो इस तृण को जलाओ। उस तृण को जलाने के लिये अग्नि देव ने बहुत कोशिश की परन्तु वे समर्थ न हुए। इससे लज्जित हो उन्होंने

आकर देवताओं से कहा कि हम नहीं जान सके यह यक्ष रूपधारी कौन है। फिर वायु गये परन्तु वे भी उन्हें न जान सके। अन्त में इन्द्र जी के जाते ही वह यक्ष अन्तर्ध्यान होकर उमा नामक स्त्री रूप में प्रगट हुआ और इन्द्र के लिये ब्रह्म का उपदेश दिया। इस सामवेदीय उपनिषद तवल्कार शाखा के प्रमाण से जाना जाता है कि परमात्मा अपने भक्तों के गर्व को दूर करने के लिये व दया करने के लिये अचिन्त्य शक्तियों से साकारता को प्राप्त होकर अनेक दिव्य रूप धारण करते हैं, उसी से उन रूपों की प्रतिमा भी हो सकती हैं। ऐसे ही राम, कृष्ण, वामन, वराह, नरसिंह, परशुराम आदि परमेश्वर के अवतार भी वेदसिद्ध हैं। इस प्रकार राम कृष्णादि की प्रतिमाओं में तथा शालग्रामादि मूर्त्तियों में जो श्रद्धा भक्ति संयुक्त होकर भगवद् दृष्टि से अर्चन, वन्दन व ध्यानादि करता है, वह अन्तःकरण से शुद्ध होकर यथार्थ आत्मज्ञान से सम्पूर्ण स्थावर जगम को भगवत्प्रतिमा देखता हुआ स्पर्द्धादि दोषों से रहित होकर परमानन्द में मग्न होते हुए जीवनमुक्त हो जाता है।

शिवपुराण के २६ अध्याय में सूतजी ने शौनकादि से कहा है—

निर्गुणप्राप्तये नृणां प्रतिमालम्बनं स्मृतम्।
सगुणान्निर्गुण प्राप्तिर्भवतीत्ति सुनिश्चितम्॥
एव च सर्वदेवानां प्रतिमा प्रत्ययावहा।
देवश्चाय मदीयो वै तस्यार्थे पूजन त्विदम्॥
गन्ध चन्दन पुष्पादि किमर्थं प्रतिमां विना।
तावच्च प्रतिमा पूज्या यावद्विज्ञान सभवः॥

—मनुष्यों को निर्गुण प्राप्ति के लिये प्रतिमा का आलम्बन कहा है। यदि कहा जावे कि निर्गुण की प्रतिमा संभव ही नहीं है तो उसका आलम्बन कैसे हो सकता है। सगुण रूप के ध्यान धारण व पूजनादि से निर्गुण की प्राप्ति होती है, ऐसा शास्त्रकारों ने यदि निश्चय किया है तो सगुण रूप में भी प्रतिमा संभव हो सकती है, उसी से "प्रतिमालम्बनम्" यह कहना ठीक ही है। इसी से सर्व देवताओं की प्रतिमा निश्चय होती है। जो कदापि प्रतिमा हो तो यह मेरा स्वामी है, उसी के लिये यह गन्ध चन्दन व पुष्पादि मैं निवेदन करता हूं—यह पूजन, बिना आधार के कैसे हो सकता है? इसलिये जब तक आत्मज्ञान न हो तब तक प्रतिमा की पूजा करना चाहिये।

स्कन्द पुराण में कहा है—

"ब्रह्मचारी गृहस्थो वा वानप्रस्थश्च सुव्रते।
एवं दिने दिने देवि पूजयेद् दम्बिका पतिम्॥

संन्यासी देव देवेशं प्रणवेनैव पूजयेत् ।
नमोऽन्तेन शिवेनैव स्त्रीणां पूजा विधीयते ॥"

अहो देवी ! ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थ ये लोग इसी प्रकार प्रतिदिन महादेव जी की पूजा करें, और सन्यासी लोग ओंकार से ही शिवजी को पूजा करें और "नमः शिवाय" इस मंत्र से ही स्त्रियों को पूजा का विधान कहा है।

परन्तु यहां स्त्रियों की विधि प्राचीन मूर्त्तियों के लिये जानना चाहिये न कि स्थापन पर क्योंकि

"स्त्रीणामनुपवीतानां शूद्राणांच नरेश्वर ।
स्थापनेनाधिकारोऽस्ति विष्णोर्वा शंकरस्य वा ॥"

इस वचन से स्त्रियों और शूद्रों के लिये विष्णु और महादेव के स्थापन में अधिकार नहीं है। मूर्त्ति गणना के विषय में भविष्यपुराण का वचन यह है—

"सौवर्णी राजती ताम्री मृन्मयी च तथा भवेत् ।
पाषाण धातु युक्ता वा रीति कांस्यमयी तथा ॥
शुद्ध दारुमयो वापि देवतार्चा प्रशस्यते ।
अंगुष्ठ पर्व आरभ्य वितस्तिर्यावदेव तु ॥
गृहेषु प्रतिमा कार्या नाधिका शस्यते बुधैः ॥"

—सोना, चांदी, तांवा, मृत्तिका, पत्थर, पीतल, कांसा और शुद्ध-काष्ट इन्हीं की प्रतिमा पूजने के योग्य होती हैं। उनमें भी अगूठे की पोर से प्रमाण लेकर बिलस्त पर्यन्त प्रतिमा घरों में पूजना चाहिये और जो उक्त प्रमाण से अधिक हो तो मन्दिरो में रखवाकर पुजवाना वा पूजना चाहिये।

पद्मपुराण में कहा है—

"गृहे लिंगद्वयं नार्च्यं शालग्रामद्वयं तथा ।
द्वे च के द्वारकायास्तु नार्च्यं सूर्यद्वयं तथा ॥
शक्तित्रयं तथा नार्च्यं गणेशत्रयमेव च ।
द्वौ शंखौ नार्चयेच्चैव भग्नां च प्रतिमां तथा ॥"

—घरों में दो शिवलिंग, दो शालग्राम, द्वारका के दो चक्र, दो सूर्य, तीन शक्तियां, तीन गणेश, दो शख और टूटी फूटी प्रतिमा इनकी पूजन नहीं करना चाहिये।

महाभारत वन-पर्व में किरात रूप महादेव व अर्जुन के युद्ध कांड मे कहा है—

"रुधिरेणाप्लुतांगस्तु पाण्डवो दुःखितो भृशम् ।
शरण्यं शरणं गत्वा भगवन्तं पिनाकिनम् ॥
मृण्मयं स्थण्डिलं कृत्वा माल्येना पूजयेद् भवम् ॥

—जिस समय किरातरूपी महादेव जी से अर्जुन का युद्ध हुआ था, उस समय रुधिर से डूबे हुए दुःखी होकर अर्जुन ने शरणागतवत्सल पिनाकी की शरण में आकर मृत्तिका का चबूतरा बनाकर उसकी सुगन्धित फूलों से पूजा की थी।

द्रोण पर्व के १०२ अध्याय में व्यास जी ने अश्वत्थामा से कहा था—

"जन्म कर्म तपोयोगास्तयोस्तव च पुष्कलाः ।
ताभ्यां लिंगेर्चितो देवः प्रतिमायां युगे युगे ॥"

—श्रीकृष्ण, अर्जुन और तुम्हारे जन्म, कर्म, तप और योग ये बहुत से हैं, तो भी प्रत्येक युग में उन दोनों ने महादेव जी की लिंगरूप प्रतिमा की पूजा की है, इसलिये तुमसे वे अधिक हैं।

बहुत कहने की क्या है ? योग कर्म विषयक वेदों में बिना प्रतिमा पूजन के निर्वाह ही नहीं दीख पड़ता है। इसी से यजुर्वेद-संहिता के "इषेत्त्वोर्जे" इस प्रथम मन्त्र में प्रतिमारूप पलाश शाखा की प्रार्थना से उसके देवता की प्रार्थना सिद्ध होती है। यदि ऐसा न माना जाय तो कात्यायन ऋषि ने जो "यजमानस्य पशून् पाहि" मन्त्र से पलाश शाखा से पशुरक्षा की प्रार्थना ज्ञात की है, उसके असम्भव होने से यज्ञ कर्म ही खण्डित हो जायगा। वैसे ही प्रतिमा पूजन के विषय में उन पाषाणादि की प्रतिमा के द्वारा उपासकों ने देवताओं की ही प्रार्थना और पूजन किये हैं। कोई पूजक पत्थर की ज्ञान से नहीं पूजता है किन्तु शास्त्रों के बल से विष्णु शिवादि देवों की ज्ञान से ही पूजन करता है, उसी से सर्वकामों को पाता है। "तदभिमानि व्यपदेशात्" इस ब्रह्मसूत्र के प्रमाण से वेदों में जहां जहां पदार्थों की प्रार्थना व जड़ पदार्थों से जो जो क्रियायें बन सकती हैं वहां वहां जड पदार्थों के अभिमानी देवताओं का ही ग्रहण किया गया है। इसीसे यजुर्वेदोक्त "मृदब्रवीत्", "आपो ब्रुवन्", "तत्तेज ऐक्षत" इत्यादि वैदिक प्रयोग संगत होते हैं। बिना देवताओं की प्रतिमा के ग्रहण किये मृत्तिकादि जड़ पदार्थों में बोलना, देखना आदि क्रिया का संभव नहीं हो सकता। ऐसे ही प्रतिमा पूजन में भी देवताओ की ही पूजा होती है। शुक्ल यजुर्वेद-संहिता के तेरहवें अध्याय में चयनप्रकरण में "हिरण्यगर्भः" मंत्र की व्याख्या करने के समय महर्षि कात्यायन जी ने "उत्तानं प्राञ्चं पुरुषं तस्मिन् हिरण्यगर्भ इति" ऐसा सूत्र कहा है कि सुवर्ण के पेट पर उस पुरुष का आकार विद्यमान है, ऐसे उस सुवर्ण को दो मंत्रों से स्थापन करें। वहां यह रीति है कि सोने के पाठा के ऊपर सुवर्णमयी ब्रह्मा की मूर्ति स्थापन कर याज्ञिक लोग "हिरण्यगर्भः" इस मंत्र से प्रार्थना करते हैं।

वहाँ पर साक्षात् प्रजापति की स्थापना संभव न होने से उक्त देवता की प्रतिमा ही का स्थापन किया जाता है। इसलिये विचार करना चाहिये कि जो कदापि प्रतिमा का पूजन वैदिक न होता तो यह यज्ञ का कर्म कैसे सिद्ध हो सकता था?

सामवेदीय प्रतिमोपनिषद् में कहा है—

एक समय वशिष्ट जी ने अपने पिता ब्रह्मा से पूछा कि हे भगवन्! देव प्रतिमा के बारे में कहिये। वशिष्ट जी के बचन को सुनकर ब्रह्मा ने कहा—अहो प्रिय पुत्र! मैं देव प्रतिमा का व्याख्यान देता हूं। एक महापुरुष परमात्मा के रूप में मैं प्रकट हुआ, उसी से मुझको हिरण्यगर्भ कहते हैं। उस महापुरुष ने जिस समय अपनी अगुली का मथन किया तो उससे जल हुआ। जल से फेन, फेन से बुलबुला, बुलबुला से अण्डा, अण्डे से ब्रह्मा जो कि विराट का अभिमानी वैराज है, उस से प्रतिमा उत्पन्न हुई जो कि अग्नि का सूक्ष्म रूप है, उससे अग्नि, अग्नि से ओंकार, ओंकार से व्याहृतियां, उन से गायत्री, गायत्री से सरस्वती, सरस्वती से सर्व वेद उनसे देवता और सर्व देवताओं से सर्वलोक, उनसे सर्व प्राणी उत्पन्न हुए। ऐसा सुनकर वशिष्ट जी ने फिर ब्रह्मा से पूछा कि अहो भगवन्! प्रतिमा क्या वस्तु है? और किन किन देवताओं की प्रतिमा होती हैं? उनके कितने भेद हैं? उनको किन किन द्रव्यों से बनाते हैं? और आराधना करनेवाले प्राणियों के लिये वे प्रतिमायें कौन कौन फलों को देकर किन किन लोकों की प्राप्ति कराती हैं? इसके अनन्तर ब्रह्मा अपने प्राण प्रिय पुत्र से बोले कि अहो पुत्र! तुमको यह जानना चाहिये कि (१) ("प्रतिमा ब्रह्ममूर्त्तिः") प्रतिमा ब्रह्ममूर्त्ति का नाम है, याने जिससे ब्रह्म प्रतीयमान होता है उसकी उपलब्धि का स्थान प्रकृति है, उसे प्रतिमा कहते हैं। इससे प्रतिमा शब्द का मुख्य अर्थ प्रकृति है, उससे ये असंख्य मूर्त्तियां प्रकट हुई, वे भी सब प्रतिमा ही कहलाती हैं। (२) गणपति प्रतिमा, शिव प्रतिमा, सूर्य प्रतिमा और जो देवता हैं उन सबों की प्रतिमायें होती हैं और जिन जिन देवताओं की मुख्य मूर्त्तियों में रूपादि कहे हैं उनको वैसे ही उन कल्पित मूर्त्तियों में भी करना चाहिये, इसलिये श्रुति में कहा है "तद्रूपाः"। इस बचन से देवताओं की प्रतिमाओं के जो रूप, आयुध, वाहन, वस्त्र, आभूषण व शृङ्गारादि हों उन सबों को कृत्रिम मूर्त्तियों में भी धारण करना चाहिये। और पृथ्वी के विकारों की सात व आठवीं मनोमयी, इस प्रकार से आठ मूर्त्तियां होती हैं (याने पाषाण की, काठ की, सुवर्णादि की, घसे हुए चन्दनादि की, चित्रों की, मृत्तिका की, मणियों की इन पृथ्वी के विकारों की सात और ध्यान से मानसी आठवीं, इन भेदों से आठ प्रकार की प्रतिमायें होती हैं)। अब इन प्रतिमाओं के पूजने का साधन कहते हैं कि पहले स्नानादि नियमों से शरीर को शुद्ध कर अहिंसा अस्तेयादि नियमों का सेवन करे, याने किसी की हिंसा न करे, चोरी न करे, सत्य बोले तथा गुरु की सेवा, देवताओं का ध्यान व ब्रह्मचर्यादि नियमों को धारण कर इन्द्रियों को वश में रखे,—इन साधनों से प्रतिमा की पूजा करने वाला प्राणी इस लोक व परलोक के सभी कामों को पाता है। और निष्काम होकर जो पूजा करता है वह परमानन्द को प्राप्त होता है। ये पाषाणादि से रची हुई आठ प्रकार की प्रतिमायें

हैं। इस प्रकार की पूजी हुई प्रतिमायें उन पूजने वालों के लिये अत्यन्त पुण्य फलों को देती हैं। जो प्रतिमायें दर्शनीय अच्छे नेत्रोंवाली, चिकनी, रूक्षता रहित, वेदादि मन्त्रों से संस्कारित व वस्त्रों, आयुधों, वाहनों व आभूषणों से अलंकृत होकर निज गणों से संयुक्त हों, उन प्रतिमाओं को पूजना चाहिये। इस पूजन के प्रभाव से पूजा करने वाला ब्रह्महत्या, मदिरापान व अगम्यागमन के पापों से छूट कर पवित्रात्मा हो जाता है।

जो प्रतिमा पूजन का साधन ऊपर कहा गया है वैसा करने से उसी क्षण हृदय में परमात्मा का आविर्भाव होता है। इसी से कहते हैं कि जो ब्रह्मचारी न हो वह भी ब्रह्मचारी हो जाता है, और जिन पापी दुराचारियों के साथ भोजन करने से वह पतित होता उनसे भी मुक्त हो जाता है, जो इस प्रतिमोपनिषद् को पढ़ाता है वह सर्व पापो से रहित होकर दिव्य लोको में जाकर ब्रह्मभावमय होकर मोक्ष पाता है। इसका तात्पर्य यह है कि जब वह प्रतिमोपनिषद् को पढ़ेगा तो वह यह जान सकेगा कि यह प्रतिमा ब्रह्ममूर्त्ति याने ब्रह्म के जानने का स्थान (प्रकृति रूप) है और चराचर प्रतिमाओं में भी ब्रह्म ही परिपूर्ण हो रहा है। इनको जानकर यथोक्त साधन पूर्वक प्रतिमाओं में परमेश्वर के ध्यान, अर्चन, वन्दनादि के प्रभाव से जिन जिन पदार्थों की वांछा करेगा उन पदार्थों को पाकर दिव्यलोको में जावेगा और जो निष्काम होकर परमेश्वर की पूजा करेगा वह परमात्मा के प्रसाद से अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष का भागी होगा। अस्तु

"न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृन्मये।
भावे हि विद्यते देव स्तस्माद्भावो हि कारणम्॥
अग्निहोत्र बिना वेदा न च दान बिना क्रिया।
न भावेन बिना सिद्धिस्तस्माद्भावो हि कारणम्॥

श्री श्री सरस्वती

सतीशचन्द्र शील, एम. ए., बी. एल.

(गत अङ्क के बाद)

पूजाविधि :—सरस्वती की पूजा दो तरह से हुआ करती है—एक मृण्मयी मूर्त्ति की पूजा और दूसरी विद्यालाभ के लिये जो जो उपकरण आवश्यक हैं उनकी पूजा,—याने पुस्तक, दावात, कागज इत्यादि की पूजा। सरस्वती स्वतः श्वेतवर्णा, शुभ्रवसना एवं शुभ्रवीणा युक्ता हैं। अतएव उनकी पूजा के सब उपकरण साधारणतः श्वेत ही हुआ करते हैं, यहां तक कि फूल भी सफेद रंग के वांछनीय हैं। इसके अतिरिक्त सफेद धान, श्वेत चदन, मक्खन, दूध, लाई आदि भी आवश्यक है। इन सब के साथ आम्र-मौर, अबरक (अभ्र) की भी आवश्यकता होती है। सरस्वती पूजा के पहले लक्ष्मी पूजा हुआ करती है ; तदुपरान्त सकल्प-वाक्य पढ़कर दूसरी पूजाओं की तरह सरस्वती-पूजन भी हुआ करता है। अत में सरस्वती के आठ अगों—लक्ष्मी, मेधा, धरा, पुष्टी गौरी, तुष्टि, प्रभा तथा धृति—की पूजा की जाती है।

मूर्त्ति-परिचय :—भारतवर्ष तथा भारतवर्ष के बाहर चार प्रकार की विभिन्न सरस्वती मूर्त्तियां दीख पड़ती हैं, वे (अ) एकक आसीना, (ब) खड़ी हुई, (स) ब्रह्मा की स्त्री के रूप में देवी स्वरूप और (ड) विष्णु की स्त्री के रूप में हैं। साधारणतः सरस्वती पद्मासीना (कमल-फूल पर बैठी हुई) हैं। 'विष्णु-धर्मोत्तर' के अनुसार सरस्वती श्वेत-कमल पर खड़ी रहेंगी। साधारणतः हस ही सरस्वती का वाहन-स्वरूप दिखलाई पड़ता है, पर स्थान-स्थान पर मोर भी नजर आते हैं। बबई-प्रदेश में प्राप्त सरस्वती-मूर्त्तियों का वाहन मोर है। राजपूताने में भी दो-एक मूर्त्तियां इसी प्रकार की मिली हैं। कनिंघम साहब के अनुसार गंगा में मगर, यमुना में कछुआ और सरस्वती तीर में मोरों के आधिक्य के कारण इन देवियों के वाहन यथाक्रम मगर, कछुआ और मोर हैं। इनके अतिरिक्त कलकत्ते के प्रत्नतत्त्व शाला में (मूर्त्ति न० ३९४७) एक सिंह-वाहना सरस्वती मूर्त्ति है। मेष-वाहना सरस्वती मूर्त्ति भी प्राप्य हैं, उनमें से एक 'राजसाही वारेन्द्र-अनुसन्धान-समिति में है। सरस्वती मूर्त्ति के साधारणतः दो हाथ हुआ करते हैं—एक हाथ में पुस्तक रहती है और दूसरे में माला अथवा वीणा। कहीं कहीं चार हाथ वाली मूर्त्ति भी मिली है, उन हाथों में पाश, अंकुर, वीणा और कमण्डलु हैं।

बौद्ध-शास्त्र के अनुसार सरस्वती विद्याधिष्ठात्री देवी हैं। बौद्धधर्म भारत से लेकर नेपाल, तिब्बत, चीन, जापान, जावा आदि में फैल जाने के कारण सरस्वती की महिमा भी उन देशों तक पहुँच

गई थी। बौद्ध तंत्र में विद्याधिपति मंजुश्री हैं। उनका स्थान बोधिसत्व के नीचे है। एक मंजुश्री-चरित में यह लिखा हुआ है कि लक्ष्मी और सरस्वती दोनों ही मंजुश्री की शक्तियां हैं (मंजुश्री विक्रीड़ित—सन् ३१३ में चीनी भाषा में इसका अनुवाद हुआ था)। बौद्ध तांत्रिक देवी सरस्वती के भक्त बन गये थे। वागीश्वरी के दो भेद हैं—धेनु-वागीश्वरी और सौभाग्य-वागीश्वरी। हिंदू-तांत्रिक मतानुयायी धेनु-वागीश्वरी शब्द-ब्रह्म हैं (जिसे दार्शनिक भाषा में Logos कहते हैं)। कुछ भी हो, बौद्ध शास्त्र के अनुसार सरस्वती चार प्रकार की हैं—(अ) महासरस्वती, (ब) वज्रवीणा सरस्वती, (स) वज्रसारदा और (ड) आर्य सरस्वती। महासरस्वती के चारों ओर चार नायिकायें स्थित हैं—सामने प्रज्ञा, पीछे की ओर मति, दाहिनी ओर मेधा और बांई ओर स्मृति। आप चन्द्र-मंडल में बैठी हुई हैं (उनकी स्तुति के लिये साधनमाला १६२, पृष्ठ ३२९ देखिये)। वज्रवीणा सरस्वती के दोनों हाथों में दो वीणा हैं। वज्रसारदा को दाहिनी हाथ में कमल और बांई में पुस्तक रहती है। आर्य सरस्वती की दाहिनी हाथ में लाल-कमल और बांई में प्रज्ञापारमिता पुस्तक है।

बौद्धतन्त्रानुयायी हिंदू-तन्त्र में सरस्वती की विभिन्न स्तुतियां तथा रूप-कल्पनायें परिलक्षित हैं, जैसे नील सरस्वती आदि।

जैन-धर्मावलम्बियों द्वारा भी सरस्वती की विभिन्न रूप में पूजा हुआ करती है। जैन-शास्त्र में सरस्वती देवी को "श्रुत देवी" कहा गया है। भगवान के मुँह से निकली हुई वाणी को 'श्रुत' कहते हैं एवं सरस्वती उनकी अधिष्ठात्री देवी हैं। कई जैन-ग्रन्थों में (जैसे ज्ञाता धर्मकथा सूत्र में १ श्रु: ४ वर्ग १ अध्याय) वर्धमानादि तीर्थङ्करों के साथ सरस्वती-प्रणाम दिया हुआ है। अति प्राचीन काल से ही श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदाय के जैन सरस्वती की गीर्वाणी वाग्देवी रूप में पूजा करते आ रहे हैं। २४ तीर्थङ्करों की जो २४ शासनदेवियां हैं उनमें से १६ की विद्या-देवी रूप में पूजा की जाती है। उन १६ विद्या देवियों के नाम ये हैं:—रोहिणी, प्रज्ञप्ती, वज्रश्रृङ्खला, कुलिशांकुशा, चक्रेश्वरी, नरदत्ता, काली, महाकाली, गौरी, गान्धारी, ज्वाला, मानवी, वैरोट्या, अच्छुप्ता, मानसी और महामानसी। कुछ भी हो, भारतीय धर्म-शास्त्रों की आलोचना से सरस्वती देवी की पूजा सब शास्त्रों में लिखित मिलती है, परन्तु उनकी मूर्त्ति-कल्पना में कुछ भेद अवश्य है। ऋग्वेद के कई मन्त्रों की देवी सरस्वती ही हैं। ऋग्वेद के दस मन्त्रों को लेकर एक उपनिषद् संकलित हुई है, जिसे 'सरस्वती-रहस्योपनिषद्' कहते हैं। आजकल जैसे राम, महावीर, कृष्णादि के मन्दिरों की बहुतायत है, उसी प्रकार प्राचीन काल में भी सरस्वती-मन्दिरों की प्रचलन न होने पर भी कई प्राचीन सरस्वती-मन्दिरों के खंडहर आज भी मौजूद हैं, जैसे काश्मीर का सारदा देवी मन्दिर आदि। भारतवर्ष की बात छोड़ दीजिये, जापान में भी कई सरस्वती-मन्दिर हैं। वहां सात सौभाग्य-देवता हैं, जिनमें से तीन की पूजा भारतीय प्रणाली की हैं, वे ये हैं:—(अ) दइ-कोकुतेन अथवा महाकाल, (ब) बेन-जइ-तेन अथवा सरस्वती, (स) विषमनतेन अथवा

वैश्रवण या कुबेर। जापान में जो सरस्वती मूर्त्तियां उपलब्ध हैं, वे अधिकतर तालाब या किसी जलाशय के तीर में ही हैं। जावा द्वीप में भी सरस्वती मूर्त्तियां मिली हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि हो न हो, भारतवर्ष के बाहर भी सरस्वती देवी की पूजा हुआ करती थी।

केवल मूर्त्ति रूप में ही सरस्वती की पूजा नहीं हुआ करती, बल्कि अन्यान्य देशों में विद्या प्रतिनिधि-स्वरूप ग्रन्थों की पूजा हुआ करती है। तंत्र-शास्त्रों की आलोचना से 'वागीश्वरी' की पूजा यन्त्रों के रूप में हुआ करती है। भारतवर्ष के ब्राह्मणों द्वारा साय-सध्या की अधिष्ठात्री देवी रूप में सरस्वती की तो नित्य पूजा हुआ करती है।

प्राचीन ग्रीस (यूनान) में सरस्वती को एथेना (Athena) कहते थे। रोम-निवासी उन्हें मिनर्वा (Minerva) कहा करते थे। वहां आपको ज़ीअस (Zeus) अथवा इन्द्र-कन्या की उपाधि से लोगों ने सुशोभित किया था और आप अनूढ़ा थीं। प्राचीन यूनानी वीर यूलिसेस (Ulysses) की आप इष्ट देवी थीं। प्राचीन एथेन्स (Athens) में हर चौथे वर्ष एक सरस्वती-उत्सव हुआ करता था, जिसे लोग पैनाथेना (Panathenaea) कहा करते थे।

तत्त्व :—इस सृष्टि की प्रधान शक्ति सरस्वती हैं। सृष्टि के पूर्व एक मात्र परमपुरुष 'ब्रह्म' ही थे—"प्रजापतिर्वै इदमासीत्"—और उनके साथ केवल थीं 'वाक्'—"तस्य वाक् द्वितीया आसीत्"—और इसी वाक् से परम पुरुष ने जगत-सृष्टि की—"वागेवास्य सा सृज्यत"। वृहदारण्यकोपनिषद (१।२।५) में यह दिया हुआ है कि वाक् तथा आत्म द्वारा चार वेद एवं विश्व-चराचर की सृष्टि हुई थी। इसलिए यह स्पष्ट है कि सृष्टि के आदि कारण और शक्ति वाक् हैं तथा वाक् और ब्रह्म दोनों एक हो हैं—"वाग्वै ब्रह्म" (वृ० उ० ४।१।२)। ये वाक् ही सरस्वती देवी हैं एव आप ही सृष्टि की आदि शक्ति हैं।

देवी सरस्वती पर सक्षेप में आलोचना की गई। आशा है पाठक दोनों अंकों में लिखित प्रबन्ध से सरस्वती-महिमा का कुछ आभास पा सकेंगे। हर्ष यह है कि 'प्राचीन भारत' का अभ्युदय इस सरस्वती-पूजा के दिन ही हुआ है।

———

आयुर्वेद – प्राचीन तथा वर्त्तमान

गणनाथ सेन सरस्वती, एम ए., एल. एम. एस.

(पूर्वानुवृत्ति)

प्राचीन काल की शिक्षा प्रणाली तथा चिकित्सकों का राजानुमोदन ग्रहण

प्राचीन काल में गुरु-आश्रम में शिष्य शिक्षा ग्रहण किया करते थे। गुरु अच्छे २ शिष्यों को छांट लिया करते थे और शिष्यों तथा गुरुओं को अग्नि साक्षी कर शपथ लेनी पड़ती थी। तदनन्तर पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन कर शिष्य विद्याध्ययन किया करते थे। साथ ही गुरु भी शिष्य को पुत्र की निगाह से देखा करते थे। गुरु-आदेशानुसार शिष्य को मुर्दों की चीरफाड़ करनी पड़ती थी और इस तरह वे विविध अवयवों से परिचित होते थे।

उपर्युक्त विषय पर सुश्रुत में कई पृष्ठ रंगे दीख पड़ते हैं; तदुपरांत शिष्यों को द्रव्य परिचय, भेषज-निर्माण, मरीच-परीक्षा तथा चिकित्सा-पद्धति इत्यादि विषयों की शिक्षा दी जाती थी। इस प्रकार कम से कम सात वर्ष तक कठिन परिश्रम करने के बाद लोग चिकित्सक बन सकते थे। इसके पश्चात् उन्हें राजाज्ञा लेनी पड़ती थी। इस विषय में सुश्रुत, आचार्य चक्रपाणि, डल्लनाचार्य आदि के कथन उल्लेख योग्य हैं।

आयुर्वेद की अवनति और संग्रह-युग

३२७ ई० पू० में सिकंदर के भारत आक्रमण के फलस्वरूप देश में अशान्ति फैल गई थी। अकाल और अग्नि के प्रकोप से मनुष्यों के साथ ही साथ कई ग्रन्थ नष्ट हो गये। सेल्यूकस ने भारतवर्ष से कई ग्रन्थ अपने देश में भेज दिया उनमें अधिकतर चिकित्सा-ग्रंथ ही थे। चन्द्रगुप्त एवं बिन्दुसार की मृत्यु के पश्चात् अशोक के राज्य में पहले पहल खूब अशान्ति फैली हुई थी। अशोक के बौद्ध-धर्म ग्रहण करने के बाद देश की अवस्था कुछ कुछ सुधर गई। उसने चीन तथा यूनानादि देशों में बौद्ध-धर्म-प्रचारणार्थ लोगों को भेजा। बौद्ध-धर्म की एक शाखा चिकित्सा भी थी। इसलिये बौद्ध-धर्म के साथ ही साथ चिकित्सा की फिर से उन्नति होने लगी। लेकिन उन दिनों में मुर्दों की चीरफाड़ बन्द हो जाने के कारण शरीर-शास्त्र की अवनति हुई थी।

मौर्यवंश की अवनति के साथ शक जाति के लोगों ने भारतवर्ष की शान्ति भंग की। सिंध नदी के तीर से लेकर साकेतपुर तक में अशान्ति की अग्नि प्रज्वलित हो उठी। इस प्रकार एक के बाद एक

अशान्ति की जो लहर उठने लगी उसमें भारतीय शास्त्र भी एक के बाद एक लोप होने लगे—उन्हीं शास्त्रों में चिकित्सा शास्त्र के ग्रंथ भी थे वे भी धीरे धीरे गुम होने लगे। राजा विक्रमादित्य के समय में देश में शान्ति रहने के कारण चिकित्सा शास्त्र की कुछ उन्नति हुई थी एवं उनके कुछ वर्षों के पश्चात् जैयट, गयदास, भास्कर, वागभटाचार्य वृन्द तथा माधवादि ने उस शास्त्र की विशेष उन्नति की। उसी समय के लगभग बंगाल में चरक-सुश्रुत के टीकाकार चक्रपाणि का प्रादुर्भाव हुआ था।

भारतवर्ष की दुर्दशा वशतः मुसल्मानों ने आक्रमण शुरू किया। सन् ७१२ ई० के लगभग मुहम्मद बिन कासिम ने सिन्ध देश आक्रमण किया था किन्तु उसका प्रभाव स्थायी न हुआ। ग्यारहवीं शताब्दी में महमूद गजनवी ने सोमनाथ का मन्दिर तोड़कर एवं कई बार उपरोपरी भारतवर्ष में धावा कर यहां की अवस्था को शोचनीय बनाया था। उसके बाद तो उनकी बन आई। हिन्दुओं की मुसल्मान शासन काल में जो दशा हुई थी उसका विस्तृत वर्णन करना निरर्थक है। केवल इतना ही कहना यथेष्ट है कि उनके समय में भारतवर्ष के कई शास्त्रादि नष्ट हुए थे जिनमें चिकित्सा शास्त्र भी थे।

किन्तु बंगाल की दशा दूसरी ही थी। मुसल्मान आक्रमणकारियों की पहुंच वहां तक नहीं हो पाई। आठवीं शताब्दी में निदान संग्रहकार माधवकर और ग्यारहवीं शताब्दी में चक्रपाणि का प्रादुर्भाव हुआ था। बंगाल में १३ वी शताब्दी में मुसल्मानों का आक्रमण होने पर भी टीकाकार विजय रक्षित तथा श्रीकंठ ने आयुर्वेद की क्षीण ज्योति को फिर से बढ़ाया था। उनके समय में भी कई प्राचीन ग्रंथ उपलब्ध थे। इसके बाद बंगाल में मुसल्मानों की बन आई। १४ वी शताब्दी के लगभग विजय नगर के राजा बुक्क ने अपने सभासद सायणाचार्य और माधवाचार्य की सहायता से वेद का पुनरुद्धार किया था। इसी समय के लगभग (संवत् १४२० के आसपास) शार्ङ्गधर अविर्भूत हुए। बाबर और हुमायूं के समय कई युद्धादि होने के कारण देश में अशान्ति फैली हुई थी। अकबर के समय शान्ति अवश्य ही स्थापित हुई लेकिन कई युद्ध एवं विप्लवों के कारण ग्रन्थों का लोप हुआ था। नादिर-शाह के आक्रमण-स्वरूप भी कई ग्रन्थ नष्ट हो गये थे।

आर्षयुग के परवर्त्ती काल से ही भावमिश्र के समय तक को हम संग्रह काल कह सकते हैं। इस समय में आयुर्वेद के कई प्राचीन ग्रन्थों की खंडित-प्रतियों का पता चला था और उन खंडित-प्रतियों की पुनर्योजना करने की चेष्टा की गई थी। इस समय में कई ग्रंथादि नष्ट अवश्य हुए थे लेकिन संग्रहकार तथा टीकाकारों ने कई पुस्तकों की खोज भी की थी। यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि इस समय संस्कृत-भाषा की उन्नति के बदले अवनति ही हुई थी इसलिए आयुर्वेद-चिकित्सकों की संख्या कम हो गई थी। विप्लव एवं अशान्ति के कारण वैद्यराजों ने अपना अपना पेशा छोड़ कर और और दूसरी वृत्तियां ग्रहण कर ली थीं। आयुर्वेद चिकित्सकों की अपने विषय पर ध्यान न देने के कारण भी कई ग्रंथ गुम हो गये। क्रमशः अनुचित धर्माभिमान वशतः चिकित्सक मरीजों की पीप-खून आदि घृणा की दृष्टि से देखने-

लगे, इसलिये वस्ति कर्म (Enemata) का लोप हुआ, शस्त्र-चिकित्सा को लोगों ने क्षौरकारों की वृत्ति समझ ली और साथ ही प्रसूत-विद्या नीच जाति की स्त्रियां करने लगीं।

यह पहले ही बतलाया गया है कि बौद्ध-युग में ही राजाज्ञा से मुर्दों की चीरफाड़ बन्द हो गई थी। इसके बाद किसी ने उस ओर ध्यान न दिया इसलिए आयुर्वेद-चिकित्सक शरीर-शास्त्र की उन्नति नहीं कर पाये। इससे आयुर्वेद की हानि कम नहीं हुई।

प्राचीन काल में बौद्ध और हिन्दू राजाओं के समय आरोग्य शालायें बनाये गये थे। मुसलमानों के आक्रमण के कारण ये सब धीरे धीरे एक के बाद एक बन्द होते गये। उन आरोग्य शालाओं में मरीजों की परीक्षा कर वैद्यों की अच्छी जानकारी हुआ करती थी। उनके बन्द होने के सबब उन वैद्यों का ज्ञान भी परिमित बना रहा, उसका प्रसार न होने पाया। बादशाहों के समय वैद्यों के बदले यूनानी और यवन चिकित्सकों की बन आई। कुछ राजाओं ने भी उन्हें प्रश्रय दिया, बस फिर क्या था? सोने में सोहागा। सबों ने मिलकर आयुर्वेद का गला धर दबाया।

आयुर्वेद-प्रतिसंस्कार का प्रयोजन

आर्य-ज्ञान-विज्ञान का कितना अंश आज हमें मिला है? अग्निवेश, भेल, पराशर, हारीत, क्षारपाणि इत्यादि ऋषियों की संहिता में से आज कितने प्राप्य हैं? केवल अग्निवेश संहिता आज चरक नाम से दिखलाई पड़ती है। उसमें मूल ग्रंथ का थोड़ा सा ही अंश है। सुश्रुत की भी वही दशा है। भेल संहिता आज कल उपलब्ध है लेकिन वह भी एक खंडित प्रति के आकार में। लेकिन तिस पर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि चरक सुश्रुत में जो कुछ है वह यथेष्ट है, परन्तु उसी को हम आयुर्वेद का सर्वस्व नहीं कह सकते। शल्यतंत्र के प्राचीन ग्रंथ—उपधेनव, वैतरण, भोज आदि आज केवल सुनने में आते हैं। निमि, कांकायन, गार्ग्य, गाल्व, विदेह, सात्यकि, शौनक आदि शालाक्यतंत्र संहिता आज कहां हैं? आज कल उन प्राचीन ग्रंथों की खोज एवं जो कुछ प्राप्य है उसे अच्छी तरह पढ़ना और आयुर्वेद की उन्नति करना ही वैद्यों का एक मात्र कर्त्तव्य है।

आयुर्वेद की शिक्षा-पद्धति

प्राचीन काल में शिष्य गुरुआश्रम में जाकर आयुर्वेद-विद्या सीखते थे, इस विषय पर पहले विचार किया जा चुका है। उन दिनों में गुरु अथवा आयुर्वेदाचार्य पैसा न लेकर लोगों की चिकित्सा किया करते थे। अतएव दरिद्रादि विविध प्रकार के रोगी उनके पास जाते थे और इससे उनकी जानकारी भी बढ़ती थी। गुरु-आश्रम में ही शिष्य औषधियां बनाने की विधियां सीखते थे। पर इस प्रथा का आज करीब हजार वर्ष से लोप हुआ है। शिष्य गुरु के पास जाकर कुछ थोड़ा बहुत अध्ययन कर वैद्यराज बन बैठते हैं। इससे आयुर्वेद की विशेष हानि हुई है। इसीलिये प्राचीन आयुर्वेद प्रणाली पर शिक्षा देने के लिये कलकत्ते में "अष्टांग आयुर्वेद विद्यालय" और "विश्वनाथ आयुर्वेद विद्यालय" की स्थापना हुई है।

भेषज विज्ञान की आवश्यकता

प्राचीन काल में व्यवहृत रसायन जैसे मेदा, महामेदा, जीवक, ऋषभक, ऋद्धि, वृद्धि आदि आज कल दिखलाई नहीं पड़ते हैं। वैद्य इनका प्रयोग नहीं किया करते हैं। चरक में लिखित श्रावणी, महाश्रावणी, आदित्यपर्णी, पद्मा, सोम आदि दवाइयां भारतवर्ष से लुप्त नहीं हुई हैं, लेकिन तिस पर भी ये सब नाम हमें काला अक्षर भैंस बराबर प्रतीत हुआ करते हैं। वैद्य अफीम, भंग सोनामुखी आदि कुछ दवाइयां उपयोग करने लगे हैं। इसलिये 'सदिग्ध भेषज निर्णय' 'द्रव्य परिचय' 'भेषज-सम्पद-वर्द्धन' आदि विषयों पर विचार करना आवश्यक हो पड़ा है।

आयुर्वेद का नवजागरण

आयुर्वेद के नवजागरण का सूत्रपात अकबर के समय से ही हुआ था। कान्यकुब्ज आचार्य भावमिश्र ने उस समय में प्रचलित आयुर्वेद ग्रथों की सहायता से एक नये आयुर्वेद ग्रथ की रचना की थी। इस ग्रथ के शारीरिक प्रसगों में थोड़ी अशुद्धियां रहने पर भी अन्यान्य विषयों पर अच्छा वर्णन दिया हुआ है। इस ग्रथ में मिश्रजी ने कई यूनानी दवाइयों का भी समावेश किया है। इसी समय बगाल में रसेन्द्रसार सग्रह, प्रयोगामृत, भैषज्य-रत्नावली आदि ग्रथों की रचना हुई थी।

भारत के दुर्भाग्य वशतः मुगल साम्राज्य के अन्तिम दिनों से लेकर अग्रेजों के भली-भांति इस देश में बस जाने तक चारों ओर अशान्ति और लूट-खसोट मची रही। सन् १८३० ई० के पहले आयुर्वेद-शास्त्र की कोई उन्नति नहीं दिखलाई पड़ती। उसी समय कलकत्ता-सस्कृत-कालेज के आयुर्वेद-अध्यापक स्वर्गीय मधुसूदन गुप्त महाशय नव प्रतिष्ठित मेडिकल कालेज में सन् १८३५ में मुर्दे को चीरफाड़ करने के लिए गये थे। आयुर्वेद की पुनरुत्थान उसी समय से हुई थी और आयुर्वेद चिकित्सकों ने उसी समय से शारीरिक ज्ञान की ओर ध्यान दिया। साथ ही साथ इस विद्या की ओर ध्यान देते हुए भारतवर्ष के विभिन्न स्थानों में कई आयुर्वेद विद्यालयों की नींव पड़ी उनमें 'बम्बई आयुर्वेद कालेज, मद्रास आयुर्वेद कालेज, दिल्ली आयुर्वेद और तिब्बी कालेज, दयानन्द आयुर्वेद कालेज (लाहौर), बनारस आयुर्वेद कालेज आदि मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त मैसूर, त्रावणकोर, हरिद्वार, पटना आदि में भी कई आयुर्वेद विद्यालयों की स्थापना हुई है। इसके अतिरिक्त यह भी कहना अप्रासगिक न होगा कि प्रति वर्ष निखिल-भारत-आयुर्वेद सम्मिलन आयुर्वेद प्रचार एवं प्रसार के लिए ही हुआ करती है। उपर्युक्त आयुर्वेद-विद्यालयों में शरीर-विद्या, शल्य-तत्र, शालाक्य तन्त्र, यहां तक कि व्यवहार-आयुर्वेद (Medical jurisprudence) की भी शिक्षा दी जाती है। भारतवर्ष के विभिन्न स्थानों से लगभग ५० आयुर्वेद की मासिक पत्रिकायें निकलती हैं। तिस पर भी क्या आयुर्वेद के गौरव को हम कम कह सकते हैं?

अनुवादक—कालिदास मुकरजी एम० ए०

हिंदी की पहली-पुस्तक

कालिदास मुकरजी एम ए., एम. आर. ए. एस.

हिंदी की पहली-पुस्तक अर्थात् हिंदी वर्णमाला की पुस्तक सबसे पहले कब निकली इसका पता लगाना कुछ कठिन समस्या है। ईस्ट इंडिया कंपनी की इस देश में दृढ़स्थापना हो जाने के पश्चात् उसके अधिकारियों ने खास विलायत से आये हुए कर्मचारियों (सिविलियनों) को भारतीय भाषाओं से परिचित कराना अपना प्रधान कर्त्तव्य समझा। जब तक वे इस देश की भाषा से अपरिचित थे राज-काज चलाना कठिन हो पड़ा था। मौलवी और पंडितों के मत्थे सब काम सौंपना युक्ति-संगत न था। इसलिये सन् १८०० ई० में कलकत्ते में फोर्ट-विलियम कालेज की स्थापना की गई। उस कालेज में हिंदी के अतिरिक्त अन्यान्य भारतीय भाषाओं में भी सिविलियनों को शिक्षा दी जाने लगी, उनमें उर्दू और बंगला मुख्य थे। पर एक दूसरी बला आ टपकी, वह थी पाठ्योपयोगी पुस्तकों का सर्वथा अभाव। अधिकारियों का ध्यान उस ओर आकृष्ट हुआ और उन्होने भारतीय विद्वानों को पाठ्य-पुस्तकें लिखने का आदेश दिया।

सन् १७७८ ई० में हैल्हेड साहब ने बंगला का एक व्याकरण लिखा था सही, पर वह था अंग्रेजी में। उसके बाद विलकिन्स साहब ने दो बंगाली महोदयों—पंचानन तथा मनोहर—की सहायता से नागरी तथा उर्दू टाइप बनाया। सन् १८०१ में केरी साहब फोर्ट विलियम कालेज के बंगला और संस्कृत के शिक्षक नियुक्त किये गये तथा कुछ ही दिनों में वे उन भाषाओं के प्रधान अध्यापक हो गये। केरी साहब को बंगभाषा से प्रीति थी अतएव उन्होंने स्वयं उस भाषा में कुछ पुस्तके लिखीं और साथ ही साथ अन्यान्य बंगालियों को भी उन्होने पुस्तकें लिखने को कहा। इसके फलस्वरूप कथोपकथनमाला, इतिहास माला, राजावली, प्रबोध चंद्रिका आदि पुस्तकों की रचना हुई थी।

इधर हिंदी भाषा की ओर जान-गिलक्राइस्ट ने ध्यान दिया और उन्होने स्वयं हिंदी में लिखना शुरु किया। उनकी हिंदी उर्दूपन लिये हुए थी, यथा, "एक हबशी राह में चला जाता था—एक टूटा आइनः पड़ा हुआ था उसकी नज़र जो उस पर पड़ी उसमें अपनी सूरत देख निहायत रंजीदः खातिर हुआ और कहा कि इसी वास्ते इसे फेंक दिया है"।—कुछ भी हो गिलक्राइस्ट साहब ने हिंदी के लिये जो कुछ किया है उसके लिये हिंदी-प्रेमी आज उनके ऋणी हैं। उनकी ही आदेश से लल्लूजी लाल ने प्रेमसागर की कथा लिखी थी। यद्यपि अंग्रेज़ यह भलीभांति स्वीकार करते थे कि भारतवर्ष के जनसाधारण की भाषा उर्दू नहीं बल्कि हिंदी है तथापि उन दिनों के अदालत की भाषा उर्दू ही बनी रही और आज भी अंशतः

उर्दू का ही अल्पांश राज्य सर्वथा है। कुछ भी हो इस विषय में यहां विचार करना हमारे विषय के बाहर है।

अंग्रेजों की प्रचेष्टा से हिंदी में पाठ्योपयोगी पुस्तकों की रचना होने लगी। सिविलियनों के साथ साथ भारतवासियों को भी शिक्षा दी जाने लगी क्योंकि अंग्रेज यहां के जनसाधारण की अवस्था एवं उनकी शिक्षा की पहुंच जान गये थे। पाठ्योपयोगी पुस्तकों के प्रकाशन के लिये एक समिति की आवश्यकता थी। अतः २४ जुलाई सन् १८१८ में कुछ भारतीय विद्वानों और अंग्रेजों की एक बैठक हुई और "कलकत्ता स्कूल बुक सोसाइटी" की स्थापना की गई। इस सोसाइटी के बारह नियम थे और उनका मुख्य उद्देश्य पाठ्योपयोगी पुस्तकों की रचना एवं कम मूल्य में उन्हें बेचना था। • आवश्यकतानुसार मुफ्त में पुस्तकें वितरण की जाती थीं। इस प्रकार उक्त सोसाइटी ने गरीबों एवं विद्यानुरागियों को पुस्तकें देकर भारतवर्ष का कम उपकार नहीं किया था। अंग्रेजों द्वारा प्रकाशित कुछ पुस्तकों की तालिका नीचे दी जा रही है :—

(१) Hindi Spelling Book in Hindi Character by Mrs. Rowe, Printed in July, 1822 (सन् १८२२ ई० में प्रकाशित हिंदी स्पेलिंग (वर्णपरिचय) की पुस्तक)

इस पुस्तक के चार खंड थे। सन् १८२३ ई० में मिसेस रो ने कैथी लिपि में भी एक ऐसी पुस्तक की रचना की थी। उसी वर्ष आपकी प्रथम पुस्तक का द्वितीय संस्करण भी प्रकाशित हुआ था।

(२) Pearce's Geography and Astronomy Printed in 1825. (पीयर्स की कैथी लिपि में लिखित भूगोल और खगोल विज्ञान)

(३) मनोरंजन इतिहास सन् १८२८ में।

(४) Hindooee Primer—"बालकों के लिये प्रथम शिक्षा पुस्तक", सन् १८२९।

(५) A Dictionary of the Hindi Language Compiled by Rev. M. T. Adam, Printed in 1829. हिंदी कोष पादरी आदम कृत। इस पुस्तक का द्वितीय संस्करण सन् १८३९ में प्रकाशित हुआ था।

(६) "उपदेश कथा और इंगलैंड की उपाख्यान का चुम्बक, स्टुयार्ट साहब ने किया हुआ, सन् १८३५"।

(७) शिक्षा बोधक।

उपर्युक्त पुस्तकों के अतिरिक्त और भी कई पुस्तकों की रचना उस समय में हुई थी—विशेषतः कलकत्ता-स्कूल-बुक सोसाइटी द्वारा ही ये पुस्तकें प्रकाशित की गई थीं। कलकत्ते के पास ही श्रीरामपुर

नामक एक छोटी सी बस्ती है। वहीं पादरियों का प्रधान अड्डा था। उन पादरियों ने भी भारतवर्ष में ईसाई धर्म प्रचार करने को ठान ली। बस फिर क्या था? एक के बाद एक बाइबल की छोटी २ पुस्तकें निकलती गईं। गनीमत यह थी कि उन पुस्तकों की भाषा उर्दूपन लिये न थी इसलिये हिंदी का प्रचार कुछ कुछ होता रहा। ईसा के नाम पर लोग वर्णमाला के अक्षरों से धीरे धीरे परिचित होते गये। इसके अलावा सन् १८१९ को लिखी एक चिट्ठी* से भी कलकत्ता-स्कूल-बुक-सोसाइटी की प्रचेष्टा का आभास मिलता है।

हिंदी की पहली पुस्तक (वर्णमाला सम्बन्धीय) कब निकली अब इस पर विचार करना है। हिंदी साहित्य के किसी भी इतिहास में इस विषय पर कहीं कुछ उल्लेख नहीं मिलता। एक पुस्तक मुझे देखने को मिली है, उसका परिचय नीचे दिया जा रहा है:—

इस पुस्तक की लंबाई करीब छः इंच और चौड़ाई केवल चार इंच है। इसमें सोलह पृष्ठ हैं, अतः इसे पुस्तक न कह कर पुस्तिका कहना ही ठीक होगा। पुस्तक के मुख्य पृष्ठ की नकल यह है:—

HINDOOEE PRIMER.

बालकों के लिये।

प्रथम शिक्षा पुस्तक।

कलकत्ता स्कुलबुक सोसाइटि के लिये छापा गया।

C. S. B. S.

Calcutta :

Printed at the School-Book Society's Press, Circular Road ;
and sold at the depository.

1819.

इसके बाद प्रथम पृष्ठ से पुस्तक प्रारम्भ होती है। शीर्षक HINDOOEE PRIMER, वर्णारम्भ, है। उसके नीचे "वर्णमाला देवनागरी की" लिखी हुई है। ये वर्णमालायें

---

* Letter from the Rev. Mr. Rowe to the Rev. Mr. yates, dated Digah, August 23, 1819.

"स्वर वर्ण" और "व्यञ्जन वर्ण" हैं। स्वर वर्ण अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं और अः हैं। व्यञ्जन वर्ण कवर्गादि क से लेकर क्ष तक दिये गये हैं।

दूसरे पृष्ठ से लेकर चौथे पृष्ठ तक "मात्ता वर्ण" (सम्भवतः मात्रा) हैं। यहां क से लेकर ह तक सब व्यञ्जन मात्रा-युक्त दिये गये हैं। तदनन्तर चौथे पृष्ठ से लेकर सातवें पृष्ठ तक "संयुक्त अक्षर" दिये गये हैं। यह क्रमशः य, र, ल, व, न, म, ऋ, ऌ, ड और स के साथ व्यञ्जनों का संयोग है, यथा क्य, व्य, क्र, म्र, र्क, र्भ, क्र, क्व, क्न, ल्न, त्म, गृ, तृ, क्लृ, ङ्क, ष्ट, स्प, स्ख, ष्ठ इत्यादि। आठवें पृष्ठ में "साङ्केतिक द्व्यक्षर संयुक्त। सङ्केत से दो अक्षरों का योग"—और "तीन अक्षरों का योग" दिया गया है। उनमें से कुछ अक्षर क्य, ग्ध्य, ष्ट्र आदि हैं। नौवें पृष्ठ में, "चार अक्षरों का योग है। उसके नीचे "दो स्वरों के शब्द, १ पाठ" दिया हुआ है। उनमें से कुछ शब्द ये हैं :—

अब, सब, काम, राम, फूल, शीत, भोर, चोर, गोड़, रोम आदि। दसवें और ग्यारहवें पृष्ठ में भी "दो स्वरों का शब्द, २ पाठ" दिया हुआ है। ये शब्द कुछ कठिन हैं—यथा :— ओष्ठ, गर्भ, तूबी, मूर्ख, बुद्धि, दण्ड आदि। बारहवें पृष्ठ से लेकर पन्द्रहवें पृष्ठ तक चार पाठ दिये गये हैं, उनकी नकल नीचे दी जा रही है।

पहिला पाठ।

बालकन् के शीखने का।

भले हैं वे बालक जो अपने पाठ को कण्ठ कर्के गुरु को सुनाय देते हैं। और धन्य हैं वे जो माता पिता की आज्ञा को मानते हैं। सत्य बोलना वड़ा पुण्य है, मिथ्या कहने से पाप होता है। बालकपने में विद्या शीखने से युवा अवस्था में सुख होता है। सबके साथ प्रेम कर्ना अच्छा है।

२ पाठ।

ज्ञानी लोग गर्व नहीं कर्त्ते, मूर्ख लोक अपने को बड़ा मानते हैं। विद्या का मोल सोने रूपे से अधिक है। भले धनी लोग धन को शास्त्रोक्त पुण्य मार्ग में लगावते हैं, नीच लोग कुमार्ग में धन को खोते हैं। हे भाई बालको तुम शीखो अच्छी बातें, और मानो एक परमेश्वर को, जिस्ने तुम्को इस् जगत् में जन्माया है, और जो तुम्को समय में खाने को देता है, वा मरके जिस्के पास तुम्हें जाने पड़ेगा।

३ पाठ।

भला वृक्ष वही है कि जिस्के फल को सब खाते हैं उस्की रक्षा सभी कर्त्ते हैं। काटा जाता है वही वृक्ष जो कड़ुवे फलों से लदा है वा कांटों सें भरा हैं। विद्या रत्न सबसे भला है, विद्या का धनी दिवालिया नहीं होता। हे मेरे प्यारे भाई बालको, मत् खेलो तुम् बुरों के साथ, जहां वार

पीट वा गाली गलौज होती हैं। प्रेम करो अपने पाठ के शीखने में वा गुरु के घर जाने में जो तुमको धर्म के मार्ग को शिखावता है।

४ पाठ।

मत् कहो कभी बुरी बातैं, वा मत् जाओ बुरे मार्ग में। कहा मानो माता पिता का वा गुरु का जो तुमको भला उपदेश देते हैं। भोर में उठो, और पढ़ने को जाओ, भूलो मत् अपने पाठ को। शिखाओ उनको जो पाठ को भूलते हैं। ज्ञान पाओगे तब सुखी होगे, अज्ञानी बड़ा दुःख पावते हैं, वा मूर्ख कहलाते हैं। तुम् प्रार्थना करो, और आशीर्वाद मांगो परमेश्वर से भली बुद्धि पावने के लिये; क्यौं कि उसकी आज्ञा है कि तुम् मांगो और तुमको मिलेगा, ऐसा दयावान् वा दाता और कोई नहीं है जैसा ईस्वर है। मत् भूलो कभी ईस्वर को; सदा जानो अपने पास परमेश्वर को, जिसकी दिई आखैं सारे जगत् का है; वह सदा सबको देखता है। अहो मित्र लोग तुम् सब प्रेम के पात्र हो इस लिये तुमसे मैं प्रार्थना कर्के कहता हूं कि तुम् मत् गवांओ अपने समय को कुमार्ग में फिरके, परंतु सुख से बिताओ समय को परमेश्वर की बाट में चलके।"

इसके बाद अंतिम पृष्ठ में "५ पाठ गिन्ती की" दी हुई है। इसमें एक से लेकर सौ तक गिनती दी हुई है।

सन् १८२९ की प्रकाशित पहली पुस्तक का परिचय ऊपर दिया गया। इसके पहले की कोई वर्णमाला सबन्धी पुस्तक आज तक देखने को नहीं मिली है। आलोच्य पुस्तक की भाषा खड़ी बोली नहीं कही जा सकती—ब्रजभाषापन्न स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त पादरियों की करामात भी लक्षित है। उच्चारण के अनुसार कुछ शब्द लिखे गये हैं, जैसे तुम्, जिस्की आदि। किन्तु ध्यान देने की एक बात यह है कि ऐसी प्राथमिक पुस्तकों में भी उर्दूपन का बहिष्कार किया गया है।

—०—

भारतवर्ष को प्राचीन जातियां

डा० बी सी. ला, एम. ए., बी. एल, पी. एच. डी.

१ प्राग्ज्योतिष :—यदि श्रीकृष्ण जी का मुरु और नरक नामक राक्षसों से विष्णुपुराण, महाभारत और हरिवंश में वर्णित युद्ध विश्वास किया जाय तो उन प्राचीन ग्रंथों के अनुसार प्राग्ज्योतिष भी भारतवर्ष की एक अनार्य जाति थी। महाकाव्य में प्राग्ज्योतिषों की रियासत असुरों अथवा दानवों की कही गई है जहां कि मुरु और नरक राक्षस राज्य किया करते थे और उनके साथ आर्यों की प्रायः लड़ाइयां हुआ करती थीं। विष्णु पुराणानुसार असुरों का सरदार नरक अत्यंत वीर और साहसी था और उसने इन्द्र को भी पराजित किया था। उसकी राजधानी प्राग्ज्योतिषपुर फांसों (पाश) से घिरी हुई थी जिसे मुरु नामक राक्षस ने बनाया था। खैर, श्रीकृष्ण जी ने उन्हें परास्त किया था और आर्य पूर्व की ओर फैल सके थे।

महाभारत में कई जगह प्राग्ज्योतिषों को म्लेच्छ कहा गया है। उसके अनुसार उनका राजा भगदत्त था। लेकिन विष्णु पुराण के वर्णन से महाभारत का वर्णन पृथक है क्योंकि उसमें भगदत्त की प्रशंसा की गई है एवं उनके लिये कई आदर-सूचक शब्द प्रयुक्त किये गये हैं। सम्भवतः आर्यों से उनका पार्थक्य सूचित करने के लिये महाभारत में भगदत्त को 'यवन' कहा है। उद्योगपर्व१ में वह नरक का पुत्र और दुर्योधन का मित्र कहा गया है। इसके अतिरिक्त भगदत्त के "अपर्यन्त-बल" का उल्लेख भी मिलता है।

महाभारत के अनुसार प्राग्ज्योतिष उत्तरी भारत में था२, किन्तु मार्कण्डेय-पुराण में पूर्व की ओर एक जगह ब्रह्मोत्तर, प्रविजय, भार्गव, ज्ञेयमलक, मद्र, विदेह, ताम्रलिप्तक, मल्ल तथा मगध और दूसरी जगह चंद्रेश्वर, खश, मगध और लौहित्य के पास कहा है। वे लोग उत्तर में हिमालय की तराई में रहते थे क्योंकि उसमें अतर-गिरि, बहिर-गिरि और उपगिरि का उल्लेख मिलता है, और भगदत्त को शैलालय३ कहा गया है। अभिधान-चिंतामणि के अनुसार प्राग्ज्योतिष और कामरूप एक ही है, लेकिन रघुवंश में कामरूप और प्राग्ज्योतिष के लोगों को भिन्न कहा है। ऐसा हो सकता है कि कुछ दिनों के बाद ये दोनों एकही नाम से पुकारे जाने लगे थे। कलिका पुराण में कामरूप की राजधानी प्राग्ज्योतिषपुर है। कुछ भी हो प्राग्ज्योतिष को हम उत्तरी बंगाल के कुचविहार और रंगपुर से लेकर आसाम तक कह सकते हैं जो कि योगिनी-तंत्र४ के अनुसार कामरूप रियासत है।

१, उद्योगपर्व, १८, ५८४-८५। २, सभा पर्व, २५, १०००। ३, स्त्रीपर्व, २३, ६४४।

४, इम्पीरियल गजटियर इंडिया, १४, पृष्ठ २११।

भगदत्त म्लेच्छ था। उसकी प्रजा भी म्लेच्छ या यवन अतएव अनार्य थी। ब्रह्मांड पुराण और रामायण में वत्रेवती या बेतवा नदी तट पर प्राग्ज्योतिषपुर का उल्लेख मिलता है। कामरूप के परवर्ती राजाओं ने (जिन्होंने अपने को नरकासुर और भगदत्त की सतति कहा है) भारतीय इतिहास में विशेष ख्याति पाई थी। उनमें से कुमार भाष्कर वर्मन जोकि हर्षवर्धन शिलादित्य का मित्र था, सबसे प्रसिद्ध है। उनके विषय में बाण ने हर्ष-चरित्र में और हुएन-सांग (Yuan chwang) ने बहुत कुछ लिखा है।

कामरूप में प्रालम्भ राजा को (जिनका काल लगभग सन् ८०० से ८२५ तक है) उनके पोतों ने तेजपुर के ताम्रपत्रों में "प्राग्ज्योतिषेश" कहा है। उनका एक पोता वनमाल और उसी घराने के एक दूसरे राजा बलवर्मन (लगभग सन् ९७५) ने भी अपने को प्राग्ज्योतिष के उस घराने का कहा है। ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में प्राग्ज्योतिष की राजधानी रत्नपाल राजा के समय बड़े शानशौकत की थी। राजा के बरगांव-दान में उस शहर को अभेद्य कहा है और यह भी लिखा हुआ है कि लौहित्य ने उसे अत्यंत सुशोभित किया था। वैद्यदेव के कमौली दानपत्र में (लगभग सन् ११००) "कामरूप मडल" और "प्राग्ज्योतिष-विषय" का उल्लेख है और उसके अनुसार कामरूप सहित प्राग्ज्योतिष का राजनैतिक केंद्र अति विस्तृत था।

२ पारियात्र :—पारियात्र या पारिपात्र को विंध्याचलवासियों या उसके आसपास के लोगों से अलग करना कठिन है क्योंकि उनका निवास भी वहीं था५। पुराणों में उन्हें भिन्न कहा है। उसके अनुसार वे पारिपात्र पर्वतों के रहने वाले थे इसलिये उनका ऐसा नाम पड़ा था। पुराणों में पारियात्र या पारिपात्र दोनों नाम मिलते हैं। सात पर्वत श्रेणियां यथा महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमत, ऋक्ष, विंध्य तथा पारिपात्र जिन्हें कुलाचल या कुलपर्वत कहा गया है, पारियात्र अथवा पारिपात्र उनमें से एक था। भागवत, वायु, मार्कण्डेय, और-पद्मपुराणों में तथा महाभारत के भीष्मपर्व में उपर्युक्त सात पर्वत श्रेणियों के अतिरिक्त और भी कुछ छोटे छोटे पर्वतों के नाम मिलते हैं। उन सप्त-पर्वत-श्रेणियों का उल्लेख अन्यान्य पुराणों में भी है, एवं उनकी यथार्थ भौगोलिक स्थिति उनसे निकली हुई नदियों से मिलती है।

पारिपात्र और विंध्याचल पर्वत एकही हैं, लेकिन पुराणों में पूर्वीय उच्च-पर्वतमालाओं को विंध्या कहा गया है। वायु पुराणानुसार नर्मदा के दक्षिण की पर्वत श्रेणियां विंध्या हैं जिसे कि आजकल सत्पूड़ा कहते हैं। पारिपात्र विंध्या का उत्तर-पश्चिमी भाग है जिसे आजकल अरावली कहते हैं। विष्णुपुराण में पश्चिम की ओर एक पारियात्र या पारिपात्र पर्वत का नाम मिलता है जो कि उस कल्पना मूलक 'मेरु-पर्वत' के पास ही था।

५, मार्कण्डेयपुराण, ५८,८।

राजशेखर के अनुसार उपर्युक्त सातों कुल पर्वत कुमारी-द्वीप में थे जिसकी दक्षिणी सीमा, स्कंदपुराणानुसार पारियात्र थी। ब्राह्मण और बौद्ध सूत्रों में भी पारियात्र को आर्यावर्त की दक्षिणी सीमा। कहा है। पुराणों में पारियात्र से निकली हुई कई नदियों के नाम दिये गये हैं, वे ये हैं—वर्णाशा अथवा पर्णाशा, सिप्रा, चर्मनवती, सिंधु और वेत्रवती। माही तो लोक प्रसिद्ध है ; वर्णाशा या पर्णाशा को पर्जिटर (Pargiter) ने आधुनिक 'बनास' कहा है जो कि चंबल की सहायक नदी है। सिंधु नदी चंबल की एक दूसरी सहायक नदी कालि-सिंधु है और वेत्रवती आजकल की बेत्व है। सिप्रा संस्कृत काव्यों की प्रसिद्ध नदी है। विष्णुपुराणानुसार पारियात्र पर्वत से एक और भी दूसरी नदी वेदस्मृति या वेदस्मृत निकलती है६। वायु पुराण में पारियात्र पर्वत के सन्निकट कारुष और मालवों का निवास कहा गया है। गौतमीपुत्र शातकर्णी के 'नासिक-प्रशस्ति' में पारियात्र में कुकुरों की बस्ती कहा है७। यशोधर्मन और विष्णुवर्धन कृत मदसोर शिलालेख में भी इसका विस्तृत वर्णन मिलता है।८

३ लाट :—लाट जाति के लोग ईसा के प्रारम्भिक वर्षों में अवश्य प्रसिद्ध रहे होंगे, और साथ ही साथ उनका 'लाट देश' या 'लाट विषय' भारतीय इतिहास में ७-८वीं शताब्दी तक प्रसिद्ध था। लेकिन खेद यह है कि उनका वृतान्त किसी भी प्राचीन ग्रंथ में नहीं दिया गया है।

लाटों का सर्वप्रथम उल्लेख यूनानी ज्योतिषी टॉलेमी (Ptolemy) ने किया है। उसके अनुसार यह देश माही नदी की खाड़ी के पास था। लाटदेश का प्राकृत रूप लाड़देश (लाड़ों की भूमि) मिलता है—यह नाम गुजरात तथा उत्तरी कोंकनीय९ प्रदेशों का था। इसके अतिरिक्त वात्स्यायन के कामसूत्र में लाट का उल्लेख दो बार मिलता है—एक जगह स्त्रियों की और दूसरी जगह पुरुषों की वेशभूषा दी गई है१०। लेकिन वात्स्यायन ने इस देश की स्थिति पर कुछ भी नहीं कहा है।

लंका के इतिहास (दीपवंश और महावंश) में एक लाल देश के बारे में कहा है जब कि राजकुमार विजय के नेतृत्व में आर्य वहां गये थे। राजकुमार विजय को बंग की एक राजकुमारी का प्रपौत्र कहा गया है इसलिये कुछ विद्वान ऐतिहासिक दृष्टिकोण से उस लाल देश को बंगाल का 'राढ़' कहते हैं। दूसरों की दार्शनिक और भाषातत्व की दृष्टि से यह राय है कि हो न हो यह लाल देश 'लाट' या 'लाड़' ही है।

६, विल्सन अनु॰ पृष्ठ १२०।

७, बृ संहिता भी देखिये, १४, ४।

८, सी, आइ, आइ, संख्या ३, पृष्ठ १५४।

९, मार्को पोलो, संख्या २, पृष्ठ ३०२।

१०, कामसूत्र, पृष्ठ १०२ और १२६।

प्रारम्भिक गुप्त सम्राटों के समय लाट देश त्रिपुरी-विषय, अरिकण-विषय, अंतर्वेदी-विषय, वाल्मी-विषय, गया-विषय इत्यादि सरीखे राजनैतिक केंद्र सा था। ये विषय या प्रदेश "भुक्ति" के आधीन थे। गुर्जर और राष्ट्रकूट के लेखों के अनुसार यह लाट देश लाटेश्वर देश था। बड़ोदा के ताम्रलेख के अनुसार लाटेश्वर की राजधानी 'इलापुर' थी (छंद २), उसमें लाटेश्वर राजाओं की वंशावली दी हुई है। —अनुवादक—कालिदास मुकरजी

प्राचीन हिन्दी

सकल नारायण शर्मा

(२)

एक हिन्दी भाषी की बोली जब दूसरा हिन्दी भाषी समझता है और व्यवहार में अड़चन नहीं पड़ती तब दोनों की भाषा हिन्दी है। इस विचार से भोजपुरी (मगही) और मैथिली दोनों हिन्दी हैं। इसी प्रकार अवधी, बैसवाड़ी, भोजपुरी और मैथिली चारों हिन्दी हैं। आरे की नागरी प्रचारिणी सभा ने हिन्दी सिद्धान्तप्रकाश में यह मत स्थिर किया है कि प्रचलित हिन्दी की मैथिली आदि उपभाषा बोल-चाल की घराऊ भाषा है। इनका साहित्य भी हिन्दी का ही साहित्य है। उक्त सभा ने पहले पहल पं० विद्यापति की पदावली नागरी लिपि में प्रकाशित की। उक्त कवि बड़े सहृदय कवि थे। उनकी पदावली बंगदेश में भी आदृत होती है। पदावली शृङ्गार रस की है। उस में श्रीराधा कृष्ण के प्रेम का वर्णन पण्डितराज जयगोविन्द के गीतगोविन्द की शैली पर किया गया है। उसके बहुत से पद्य गीतगोविन्द के पद्यों से बढ़ गये हैं। भेद इतना है कि गीतगोविन्द संस्कृत पढ़ने वालों को विशेष आनन्द देता है। इनकी कविता दो प्रकार की भाषाओं में है, एक में मैथिलीपन है और दूसरी में भोजपुरी मिली अपभ्रंश की छटा है। पहली का उदाहरण पदावली है और दूसरी का नमूना कीर्तिलता और कीर्तिपताका नामक उनकी पुस्तकों में मिलता है :—

रजलुद्ध असलान बुद्धि बिक्कम बले हारल।
पास बइसि बिसवासि राय गय ते सर मारल॥
मारंत राय रण रोल पडु मेइनि हाहा सद हुअ।
सुर रायन पर नर अर रमणि वाम नयन पप्फुरि धुअ॥

इनमें रज राज्य का, लुद्ध लुब्ध का, मेदनि मेदनी का, तथा सद शब्द का अपभ्रंश है। हारल, वइसि, और मारल ये क्रियाएं भोजपुरी की हैं। अभी तक ये भोजपुर में ज्यों की त्यों बोली जाती हैं।

पहले यह बात कही गयी है कि मैथिली हिन्दी है, इसका कारण यह है कि उसकी क्रियाओं को धातुएं प्रचलित हिन्दी की हैं। साजल, गाय, पढ, उडु आदि में साजना, गाना, पढ़ना तथा उड़ना आदि धातुएं ठीक खड़ी बोली की हैं। केवल प्रत्यय भिन्न प्रकार के हैं। पदावली के नीचे लिखे पद्य में उक्त क्रियाएं दीख पड़ती हैं :—

आएल रितुपति राज बसत।
धाओल अलिकुल माधवि पथ॥
दिनकर किरन भेल पौगड।
केसर कुसुम धएल हेम दड॥
नृप आसन नव पीढल पात।
कांचन कुसुम छत्र धर हाथ॥
मौलि रसाल मुकुल भेल ताय।
समुख कोकिल पचम गाय॥
सेन साजल मधुमछिका कूल।
सिसिरक सबहु कएल निरमूल॥
चदात्तम उड़े कुसुम पराग।
मलय पवन सव भेल अनुराग॥

वसत वर्णन की यह उत्तम कविता है। इसमें केवल पीढल शब्द मैथिली का है जो एक वृक्ष का बोधक है जिसका पत्ता बड़ा चौड़ा होता है। विद्यापति शैव थे तथा शिवसिंह महाराज के दरबारी कवि थे और महाराणी लक्ष्मो देवी साहित्य-रसिक थीं। उनकी प्रसन्नता के लिये शृङ्गार विषयक रचनाए उन्होंने की हैं। यह किंवदन्ती है। उनका समय १४६० विक्रमीय सम्वत् है। वे बड़े भारी शृङ्गार रस के आचार्य थे। उक्त रस में उनकी समता बहुत थोड़े लोग कर सकते हैं। देवताओं के सम्बन्ध में शृङ्गार रस भाव (भक्ति) स्वरूप हो जाता है। नहीं तो पदावली बालक बालिकाओं के लिये पढ़ने योग्य नहीं रहती।

मध्यकाल प्राचीनता के भीतर आता है। वह हिन्दी साहित्य के लिये बड़ा उज्ज्वल हुआ। इसमे हिन्दू कवि, मुसलमान कवि, विशेषतः सूफी तथा वैष्णवों ने इसकी बड़ी सेवा की। उनकी रचनाएं हिन्दी साहित्य-भण्डार के लिये रत्न हैं।

कबीर दास जी तथा नानक शाह जी ने जो उपदेश दिये हैं वे अमूल्य हैं। पहले महात्मा की वाणी में बड़ा कौतुक है तथा अर्थ समझने में कठिनाई है पर भाषा पूर्वी अवधी अथवा बिहारी मिश्रित है। दूसरे महात्मा की बोली पंजाबी मिली हुई हिंदी है। उनकी शिष्य परम्परा में गुरु गोविन्द सिंह जी हुए हैं। उनकी हिन्दी शीघ्र समझ में आ जाती है। वे पटने में उत्पन्न हुए थे तथा जन्म के नाते बिहारी थे। पटने वाली उनकी गद्दी पर साहेबजादा सुमेर सिंह जी बैठे थे। वे हिन्दी के अद्वितीय विद्वान् हो चुके हैं। कबीर दास जी के शिष्यों ने भी हिन्दी की उन्नति की है। उनमें धर्मदास जी की कविता बड़ी चुटीली है। दादूदयाल तथा सुन्दर दास जी की कविताएं निर्गुण ब्रह्म का बोध कराती हैं। उनमें खड़ी बोली का पुट है। ब्रजभाषा मधुर सरल होती है। उनकी अपेक्षा प्रचलित हिन्दी खड़ी (खरी) कठिन तथा तीक्ष्ण होती है। दिल्ली, आगरा तथा लखनऊ प्रान्त के लोगों ने ब्रजभाषा की रूप रेखा सुधारी, वही प्रचलित हिन्दी-खड़ी बोली हुई।

जायसी, उसमान, कासिमशाह, नूरमहम्मद, शेखनबी आदि मुसलमान सूफी कवि हो गये हैं। ये लोग अपने को आशिक और भगवान् को माशूक समझ कर कविता करते थे। इनकी कवितायें जो प्रेम पात्र मनुष्य के रूप में दीख पड़ता है वह परमात्मा के अतिरिक्त दूसरा नहीं है। जायसी की पद्मावत में उनके सूफी मत का पूरा आभास है। उसमान को हिन्दी का नमूना यह है—

"कथा एक मैं हिए उपाई। कहत मीठ और सुनत सोहाई"॥

(जोगी ढूंढन)

ऊपर के सब सूफियों ने पुस्तकें लिखी हैं जिनकी भाषा प्रायः जोगी ढूंढन की भाषा के समान हैं। खुसरो, बीरबल तथा टोडरमल अकबर बादशाह के दीवान थे। तीनों ने हिन्दी कविताए की हैं। उनमें खुसरो की रचना मनोहर है।

चूक भई कुछ वासों ऐसी, देश छोड़ भये परदेशी।
एक नार ने अचरज किया, सांप मार पिंजरे में दिया।

पहली ब्रजभाषा में है और दूसरी खड़ी बोली में है।

बीरबल ने एक गलती उस समय की जिससे हिन्दी और हिन्दी साहित्य को बड़ी हानि पहुंच रही है। अकबर बादशाह तथा नवाबों के सब कागज पत्र हिन्दी भाषा और नागरी लिपि में लिखे जाते थे। उन्होंने बादशाह से आज्ञा करा दी कि फारसी लिपि में कचहरी के कागज लिखे जांय। इसका फल यह हुआ कि मुसलमान अपनी हिन्दी फारसी लिपि में लिखने लगे। वह हिन्दी से पृथक हो गयी और उर्दू कहलाने लगी। नहीं तो हिन्दी ही के लिये उर्दू शब्द व्यवहृत होता था। क्योंकि

मुसल्मान लोग जब भारत में आये उन्होंने हिन्दी को फौजी बाजार में व्यवहृत होते देखा। उर्दू शब्द का अर्थ बाजार होता है। उन्होंने हिन्दी का नाम उर्दू रखा। अष्टछाप के वैष्णव कवियों ने हिन्दी को बराबर के लिये भाषाशिरोमणि बना दिया है। उनमें सूरदास जी और नन्ददास जी बड़े सम्मान-पात्र हैं। उनकी वात्सल्य रस की कवितायें जगत् की भाषाओं में अपनी समानता नहीं रखतीं :—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
कितिक बार मोहिं दूध पियत भई यह अजहुं है छोटी।
तू जो कहति बल की बेणी ज्यों ह्वैहे लांबी मोटी।

इसके एक २ पद से माधुर्य टपकता है। माता पुत्र की बातचीत स्वर्गीय अमृत चुआ रही है। सूरसागर में इसी ढंग की मणि चमचमा रही है। इनके दृष्टकूट बड़े २ पण्डितों के छक्के छुड़ा देते हैं। नन्ददास जी की अनेक कृतियों में भ्रमरगीत बड़े महत्त्व का है। इनके लिये यह प्रसिद्ध है कि—

सब कवि गढ़िया नन्ददास जड़िया।

देखिये :—

जो उनके गुन नाहि और गुन भये कहां ते।
बीज बिना तरु जमैं मोहि तुम कहो कहां ते।
वा गुन की परछांहरी माया देखन बीच।
गुन ते गुन न्यारे भये अमलवारि जल कीच।
सखा सुनु श्याम के॥ (भ्रमर गीत)

भिखारीदास, पद्माकर, तथा नागरीदास की कवितायें कवित्व शक्ति बढ़ाने के लिये उपयोगिनी हैं। मीराबाई तथा रसखान की कृष्णभक्ति बड़ी प्रबल थी। उनके पद्यों में बड़ी उमगें भरी हुई हैं। मीराबाई की कविताएं मारवाड़ी बोली मिश्रित होने से कुछ कठिन हो गयीं पर रसखान की रचना बड़ी सरस है।

"बसो मेरे नैनन में नंदलाल नैना बने रसाल।
मोर मुकुट मकराकृतकुण्डल अरुन तिलक दिए भाल" ॥ इत्यादि।
(मीराबाई)

या लकुटी अरु कामरिया पर राजतिहुं पुर को तजि डारौं।
आठहुं सिद्धि नवो निधि के सुख नंद की गाय चराय बिसारौं।

नैनन सौं रसखान जबै व्रज के बनबाग तड़ाग निहारौं।
केतिक ही कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं।

रसखान की यह कृति अद्भुत है। ईश्वर से प्रेम जो किया जाता है उसे साधारण लोग भक्ति कहते हैं। साहित्यिक भाषा में उसका नाम भाव है। प्रेम मात्र शृङ्गार है, परमात्मा से उसका सबंध होते ही वह भक्ति (भाव) कहलाने लगता है। यह बात साहित्यदर्पण में लिखी हुई है। रसखान का भाव बड़ा अनूठा है।

मतीराम, केशव, देव और बिहारी ये चारों साहित्य महल के चार खंभे हैं। पर बिहारी का स्थान ध्वनि और अलङ्कारों के कारण श्लाघनीय है।

रीति प्रन्थ (नायक, अलङ्कार तथा ध्वनि आदि के लक्षण बताने वाले) हिन्दी में बहुत हैं। यह नाम संदिग्ध है क्योंकि वैदर्भी आदि को रीति कहते हैं। इसके स्थान में लक्षण ग्रन्थ यह नाम उपयुक्त है। लक्षणग्रन्थकारों में भूषण कवि सर्वश्रेष्ठ हैं। उनका शिवराज भूषण अलङ्कार का उत्तम ग्रन्थ है। उनकी शिवाबावनी प्रत्येक भारतीय यूनिवर्सिटी में आदर योग्य है। जो लोग उसमें काट छांट करना चाहते हैं वे "साहित्य कलाविहीना" हैं। काट छांट करने वालों का कहना है कि उसमें मुसल्मानों की स्त्रियों की दुर्दशा का वर्णन है अतएव अश्लील है। यदि यह बात ठीक है तो उस से अधिक अश्लील नायिका भेद के सब लक्षण ग्रन्थ जला देने चाहिये जिसके होनेपर हिन्दी साहित्य श्रीहीन हो जायगा।

इक्ष्वाकु-वंश का हिन्दुस्तान में प्रसार

कुमारी पद्मा मिश्र एम. ए.

आजकल जो जातियां हिन्दुस्तान में रहती है उनमें से अधिकतर किसी न किसी समय में मध्य एशिया या दूसरे किसी प्रदेश से आकर यहां बसी थीं। प्रत्येक ने यहां की संस्कृति में अपनी छाप लगाई और वे स्वय उससे प्रभावित हुई। बाहर से आने वाली इन जातियों में आर्य विशेष उल्लेख योग्य हैं। इनके आने के पहले द्रविड़ों की संस्कृति और सभ्यता बहुत बढ़ी चढ़ी थी, पर इन्होंने आकर एक क्रान्ति सी मचा दी। इनकी भाषा, धर्म और रहन सहन का यहां के निवासियों पर अमिट प्रभाव पड़ा, और कुछ ही समय में थोड़े से हेर फेर के साथ वे साधारण जनता में प्रचलित हो गये थे। इनके बाद कितनी ही जातियां भारत में आई, पर वे सब आर्यों के धर्म और संस्कृति को ग्रहण करती गई। विदेशियों के सम्पर्क में आने से इनमें परिवर्तन अवश्य हुये, पर वे सुधारात्मक थे, संहारात्मक नहीं। वही वैदिक धर्म आज भी हिन्दू, आर्य या सनातन धर्म के नाम से भारत में बहुतों का धर्म है। हजारों साल के परिवर्तन के बाद भी उसका असली रूप वैसा ही है और इतने भेद-भावों के होते हुये भी वह भारत को धार्मिक और सांस्कृतिक एकता में बांधे हुये है। ये आर्य जब भारत में आये उस समय इनमें जात-पांत का झमेला न था। प्रारम्भ के लड़ाई झगड़ों के बाद जब कुछ प्रदेशों पर इनका पूर्ण अधिकार हो गया और यहां की उपजाऊ भूमि के कारण जीविका की समस्या भी जटिल न रही तो इन्होंने व्यवसाय के अनुकूल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि वर्णों की व्यवस्था की। युद्ध में प्रमुख भाग लेने वाले और शासन करने वाले क्षत्रिय कहलाये। शासन करने वाले क्षत्रियों या राजवंशों का नाम बहुधा किसी देवता के ऊपर रखा जाता था, जिसे उस वंश का प्रवर्तक कहते थे। सम्भव है ये प्रारम्भ में उस वंश के गृहदेवता रहे हों और बाद में उन्हीं को वंश का आदि पुरुष मान लिया गया हो। मूल वंश की शाखाये फैल जाने पर प्रत्येक का मूल नाम के अतिरिक्त एक और नाम उसी शाखा के किसी प्रतापी राजा के ऊपर पड़ जाता था। उदाहरण के लिये इक्ष्वाकु वंश को ही लीजिये। सूर्य इस वंश के आदि पुरुष हैं इसलिये वह सूर्य वंश कहलाया। इक्ष्वाकु राजा की सन्तति होने के कारण इस कुल के लोग इक्ष्वाकु कहलाये[1]। इस परिवार का जो अंश अयोध्या में राज्य करता था वह रघुकुल[2] के नाम से प्रसिद्ध हुआ था। इनके एक पूर्वज का उपनाम ककुत्स्थ

१, रघुवंश १, ७२, ३, ७० ; १३, ६१,

२, रघुवंश, १, ९,

था, इसलिये वे काकुत्स्थ भी कहलाते हैं। ऐसे छोटे छोटे वंश बढ़ते बढ़ते उपजाति हो जाते हैं और उपजाति ही कालांतर में जाति में परिणत हो जाती है। इसी क्रम से वंशों की जातियां बनती रहती हैं। इन्हीं में से एक इक्ष्वाकु जाति भी है। विशाल वट-वृक्ष की भांति इस जाति की शाखायें किस तरह भारत के एक विस्तृत भाग में फैल गई थीं यही दिखाने का यत्न आगे किया जायगा।

यह जाति बहुत प्राचीन और प्रख्यात है। रामचन्द्र जी इसी वंश में हुये थे, इसलिये हिन्दुओं में इनका विशेष मान है। गौतम बुद्ध भी अपने को इसी वंश का बताते हैं इसलिये उनके अनुयायियों की दृष्टि में यह वंश इतना महत्त्वपूर्ण हो गया कि बौद्धग्रन्थों[१] में साधारण नरेशों के लिये भी ओक्काक अर्थात् ऐक्ष्वाक का प्रयोग हुआ है। उत्तर भारत में उस समय के अधिकांश राजा इक्ष्वाकु वंश के रहे होंगे, इसीसे ऐक्ष्वाक का प्रयोग राजा के अर्थ में होता था। इस वंश के राजकुमारों ने मध्यदेश, पश्चिम तथा दक्षिण भारत में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। अभी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इक्ष्वाकु क्षत्रिय आर्य ही थे। परन्तु इसमें कुछ सन्देह नहीं कि शीघ्र ही ये आर्यधर्म के अनुयायी हो गये थे। यदि ऐसा न होता तो वैदिक काल में ये इतनी प्रसिद्धि न पाते। अनार्य जातियों का इतनी अच्छी तरह वैदिक ग्रन्थों और पुराणों मे उल्लेख नहीं है। उन जातियों को तो उनकी संस्कृति और सभ्यता के होते हुये भी असुर, दैत्य, दस्यु या शूद्र की उपाधियों से विभूषित किया जाता था। आर्यों का सबसे पुराना धार्मिक ग्रन्थ ऋग्वेद[२] में इक्ष्वाकु का नाम मिलता है। एक ऋचा में उन्हे असमाति राजा का सामंत बताया गया है। दूसरी ऋचा में असमाति को भगेरथ का विजेता कहा गया है। वैदिक साहित्य के अद्वितीय विद्वान् रोथ (Roth) के अनुसार यह अशुद्ध रूप है[३]। इसके शुद्धरूप का ठीक ठीक निर्णय तो अभी हुआ नही है पर इसे यदि भगेरथ का ही अशुद्ध रूप मान लें तो कोई कठिनाई नही दीख पड़ती। दोनों में समानता भी है और जैमिनीय-उपनिषद्-ब्राह्मण[४] में भगेरथ ऐक्ष्वाक का वर्णन भी मिलता है। यदि यह मान लें तो सम्भव है कि चौथी ऋचा में इक्ष्वाकु का प्रयोग भगेरथ के लिये ही हुआ हो। यहां पर इन्हे एक धनवान और शक्तिशाली सामंत बताया गया है। अथर्ववेद[५] में कुष्ठ नामक औषधि से परिचित इक्ष्वाकु का उल्लेख है। यहां यह तो स्पष्ट नहीं है कि इक्ष्वाकु या उसके किसी वंशज से ऋषि का तात्पर्य है, पर इनकी प्राचीनता इससे सिद्ध हो जाती है।

१, सुत्तनिपात, १८, १८ब २२,

२, ऋग्वेद १०, ६०, ४,

३, वैदिक इन्डेक्स भाग २, पृष्ठ ८४,

४, जै, उ, ब्राह्मण ४, ६, १-२,

५, अथर्ववेद १९, ३९, ९,

पंचविंश ब्राह्मण१ और बृहद्देवता२ में इस वंश के कुमारों की कथायें हैं। शतपथ ब्राह्मण३ में अश्वमेध यज्ञ करने वाले पुरुकुत्स ऐक्ष्वाक का नाम अन्य राजाओं के नाम के साथ पाया जाता है। इक्ष्वाकु वंश के क्षत्रिय, आर्यों से इतने घुलमिल गये थे कि उनके बड़े से बड़े यज्ञों को करने लगे थे। इससे यह भी पता चलता है कि पुरुकुत्स का शासन बहुत से प्रान्तों में रहा होगा, क्योंकि सम्राट् या चक्रवर्ती ही अधिकतर अश्वमेध यज्ञ करने के अधिकारी समझे जाते थे। बौद्धों के धर्म-ग्रन्थों में तो इनकी कितनी ही रोचक कथायें है जिनसे इनके सामाजिक जीवन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इनमें से कुछ तो रामायण की कथा से इतनी मिलती हैं कि ऐसा मालूम पड़ता है दोनों ने किसी एक ही प्राचीन परम्परा गत कथा को अपने अपने ढग से सुरक्षित रखा है। अम्बट्टसुत्त४ में इक्ष्वाकुवंश के एक राजा की कथा है जिन्होंने पहली स्त्री के बड़े लड़के के होते हुये दूसरी स्त्री के पुत्र को राज्य देना स्वीकार न किया। परन्तु दूसरी पत्नी द्वारा पहली के लड़कों के अनिष्ट की आशका से उन्हें देश निकाला दे दिया। ये सब भाई बहन हिमालय चले गये और वहां अपने वंश की पवित्रता को बनाये रखने के विचार से इन्होंने आपस में ही एक दूसरे से विवाह कर लिया। इन्हीं के वंशज शाक्य कहलाये—जिनके वंश में महात्मा बुद्ध का जन्म हुआ था। बुद्धघोष ने धम्मपद पर अपनी टीका५ में इसी कथा को बुद्ध के वंश की उत्पत्ति के विषय में विस्तार से लिखा है। इसमें अन्तर इतना ही है कि निर्वासित कुमार और कुमारियां कपिल के आश्रम के पास निवासस्थान बनाते हैं और उसका नाम कपिलवस्तु रखा जाता है। बड़ी बहन को माता की पदवी देकर वे आपस में ही विवाह कर लेते हैं। इसके बाद यह दिखाया गया है कि कुष्ट हो जाने पर बड़ी बहन को वे निकाल देते हैं। उसे बनारस के निर्वासित राजा राम अच्छा करते है और फिर से विवाह कर लेते हैं। पहले वंश में गौतम बुद्ध का जन्म हुआ था। शुद्धोदन और सिद्धार्थ इन दोनों का विवाह भी ममेरी फुफेरी बहनों से हुआ था। इन दोनों में वनवास, उसका कारण और राम का नाम रामायण से इनकी समानता के द्योतक हैं। यहां तो एकांगी समानता है पर दशरथ जातक६ की कथा तो बिल्कुल रामायण जैसी ही है। इसमें राजा दशरथ का विवरण है जिनकी पहली स्त्री की सन्तान के नाम हैं राम, लक्ष्मण और सीतादेवी दूसरी स्त्री के पुत्र हुये भरत, जिनके कारण राम लक्ष्मण को वनवास की आज्ञा मिलती है। सीतादेवी, भी उनके साथ ही जातीं हैं और तीनों हिमालय की तराई में निवास करते हैं। पिता की मृत्यु के बाद भरत उन्हें बुलाने जाते हैं।

(क्रमशः)

१, पं, ब्राह्मण १३, ३, १९ २, बृहद्देवता ५, १४, ३, १३, ५, ४, ५,

४, Sacred books of the Buddhists Vol II p. 114-115.

५, Buddhaghosh's parables. Tr, by Rogers, p. 175

६, The Jatak, Cowell Vol. IV. p 78-79

विविध-विषय

जैन-धर्म

धार्मिक दृष्टिकोण से जैन धर्म को हम उदार कह सकते हैं। यह धर्म सब जाति के लोगों के लिये था। इसे लोग निर्विघ्नता से और स्वाधीनता पूर्वक ग्रहण कर सकते थे।—

पयलियमाण कसाओ पयलियमिच्छन मोह समचित्तो।
पावइ तिहुवण सारं बोही जिण सासणे जीवो ॥७८॥

यहां नीच, पददलित और व्याधिग्रस्तों को आश्रय मिलता था—जैन संघों का द्वार सबके लिये हमेशा खुला ही रहता था। प्रो॰ बुहलर (Prof. Buhler) का कहना है कि ब्राह्मण-धर्म की अपेक्षा, बौद्ध-धर्मानुसार जैन धर्म भी उदार था। उस धर्म का मुख्य उद्देश्य मोक्ष दिलाना था;—मुक्ति-पथ की ओर अग्रसर कराने के लिये उसके हाथ बढ़ाये हुए रहते थे, केवल ऊंची जाति के लोगों के लिये नहीं, बल्कि उन पददलित शूद्रों, म्लेच्छों और शत्रुओं के लिये भी।

एक साधारण जैन अध्यात्मिक उन्नति के लिये इच्छुक रहता है और वह दूसरों की ओर प्रेम और दया की दृष्टि से देखता है। जैनों का अहिंसा-मूलक सिद्धांत दूसरों की आयु बढ़ाने की चेष्टा करता है ताकि इस ससार के सभी प्राणी सुखी होकर स्वच्छन्दतापूर्वक रह सकें। वह औरों को यह याद दिलाता रहता है कि मनुष्य केवल रक्त-मांस का पिंड ही नही है बल्कि उसमें एक अपूर्व 'आत्मा' की स्थिति है। वह आत्मा शरीर-रूपी पिंजड़े में बंद है और अपने कर्मों के अनुसार उसे सुख-दुःख भोग करना पड़ता है। भोगविलास में लिप्त रहने से और इंद्रीय-वशतः कार्य करने से मनुष्य सुखी नहीं हो सकता। ससार को लोग स्वर्गीय विभूतियों से सुसज्जित कर सकते हैं।

अहिंसा के अतिरिक्त जैनों का स्याद्वाद-न्याय-शास्त्र ध्यान देने लायक है। सब जगह और सर्वथा 'सत्य' एक ही है। इस विश्व में सत्य का ही पारावार है। अन्यान्य पदार्थों की तरह उसके एकाधिक नैसर्गिक धर्म हैं जिसकी व्याख्या करना मनुष्यों की क्षमता के परे है। जैन शास्त्रों में कम से कम ३६३ प्रकार के मत या सिद्धांत हैं जो कि प्रत्येक सत्य है। 'स्याद्वाद' के अनुसार यह 'सामान्य-विश्व' अनन्त है।

जैसा कि ऊपर बतलाया गया है जैन धर्म उदार है, विभिन्न-धर्मावलम्बी आकर तर्क-वितर्क

कर सकते हैं और यह धर्म किसी चुने हुए व्यक्ति विशेष के लिये नहीं बल्कि संसार के सभी मानवों के लिये है। विभिन्न क्रियाओं एवं अनुष्ठान-पद्धतियों का इस धर्म में बहिष्कार किया गया है। वह यही सीख देता है कि इस क्लेश, व्याधि, जरा एवं मृत्यु-पूर्ण संसार में सत्य की खोज के अतिरिक्त कोई दूसरा चारा नहीं है। यहां जन्म-मरण का अंत नही है अतएव उससे छुटकारा पाने के लिये हमें यथा साध्य परिश्रम करना चाहिये। सत्य-विश्वास, सत्य-ज्ञान एवं सत्याचरण से ही मनुष्य सुखी हो सकता है और उसके द्वारा मोक्ष अथवा निर्वाण पाना सम्भव है।—निर्वाण प्राप्त करना ही जैनों का मुख्य उद्देश्य है, उसी से शान्ति मिलती है और मनुष्य सांसारिक कष्टों से छुटकारा पा सकते हैं—और उसी से मनुष्य अमर हो सकता है। ये हैं जैनों के आदर्श सिद्धांत।

कामता प्रसाद जैन

पुरुषोत्तम-क्षेत्र

विभूति भूषण चटर्जी, एम. ए.,

पुरुषोत्तम-क्षेत्र अथवा जगन्नाथपुरी की उत्पत्ति अभी हाल ही की है। आजकल वहां जो मंदिर है उसे ग्यारहवीं शताब्दी में अनन्तवर्मन चोड़गंगा ने बनवाया था। लेकिन ऐतिहासिक दृष्टिकोण से जगन्नाथ जी का आविर्भाव और भी प्राचीन है। उनका प्रथम उल्लेख सन् ३१८ ई० में मिलता है, जब कि रक्तबाहु ने पुरी आक्रमण किया था और वहां के पंडा डर के मारे देवमूर्ति लेकर भाग खड़े हुए थे। जगन्नाथ जी की मूर्त्ति लगभग ५० वर्ष तक जंगल में छिपाकर रखी गयी और ऐसा कहा जाता है कि उन दिनों में शबर जाति के लोगों ने उनकी पूजा की थी। प्राचीन मूर्त्ति का अब कोई भी अंश शेष न बचा है। उन दिनों में जंगलवासी एक नीले पत्थर (नील माधव) की पूजा किया करते थे। कई विद्वानों की राय से वही नील पत्थर जगन्नाथ जी की आदि अथवा प्रारम्भिक मूर्त्ति थी। आर्यों के आगमन के पश्चात् जगन्नाथ-मूर्त्ति खोदी गई थी। खैर, आजकल उड़ीसा के प्रत्येक घर में जगन्नाथ जी की पूजा दो तरह से होती है। आर्य विष्णु के उपासक थे लेकिन कुछ दिनों के बाद अनार्य देवता नीलमाधव और आर्य देवता विष्णु दोनों एक ही दृष्टि से देखे जाने लगे।

चौथी शताब्दी के लगभग पुरी में बौद्ध धर्म का विशेष प्रभाव था। भिक्षुओं ने उड़ीसा में कई मठ और बिहारादि को प्रतिष्ठा की थी। लेकिन क्रमशः बौद्ध-धर्म की अवनति होती गई और पौराणिक-अध्यात्मवाद की धीरे धीरे उन्नति हुई, इसके कारण वैष्णव और शैव-धर्म की उत्पत्ति हुई। इसी समय भुवनेश्वर मंदिर की प्रतिष्ठा हुई थी। यह सातवीं शताब्दी की बात है। हंटर साहब कहते हैं, The earliest of Orissa Traditions discloses Puri as the refuge of an exiled creed. In the uncertain dawn of Indian History, the highly spiritual doctrines of Buddha obtained shelter here, and the Golden Tooth[१] of the founder of the Buddhist faith remained for centuries at Puri, then the Jerusalem of the Buddhists, as it has been for centuries that of Hindus[२]" अर्थात् उड़ीसा के प्राचीन इतिहासानुसार पुरी निर्वासितों का आश्रय-स्वरूप सा था। प्राचीन काल में बुद्ध जी के सिद्धान्तों को भी यहीं आश्रय मिला था एवं उनके "स्वर्ण-दंत" कई शताब्दियों तक पुरी में ही रखे गये थे जो कि वर्षों से हिंदुओं का तीर्थ स्थान है।

राजेन्द्र लाल आदि कुछ प्रत्नतत्वकारों की राय से "श्रीक्षेत्र" अथवा जगन्नाथपुरी हिंदुओं का तीर्थ स्थान नहीं बल्कि बौद्धों का है। यहां बौद्धों के त्रिरत्न—बुद्ध, धर्म और संघ की तीन मंडलियां थीं। ये शुरु में हिंदू देव-देवियों के सामने बनी हुई मंडली की सी थीं। बाद में बौद्धों ने उन मंडलियों की मूर्त्ति बनाकर उनकी उपासना करना शुरु किया। जगन्नाथ, बलराम और सुभद्रा ये तीन मूर्त्तियां उन मंडलियों की आकृति-स्वरूप है। शंकराचार्य के निरीश्वर-वाद सिद्धांत के कारण जब मूर्त्ति-पूजक बौद्ध धर्म की भी अवनति होने लगी उस समय वह वैष्णवधर्म में रूपांतरित हुई। उस समय बुद्धमंडल का जगन्नाथ में, धर्ममंडल का सुभद्रा में, और संघ मंडल का बलदेव में रूपान्तर हुआ[३] और श्रीक्षेत्र अथवा पुरुषोत्तमक्षेत्र भी विष्णुक्षेत्र समझा जाने लगा। आजकल भी जगन्नाथ बुद्धदेव के अवतार कहे जाते हैं। वहां जो रत्न-वेदी है वह भी बौद्ध है क्योंकि बौद्धों का त्रिरत्न रत्नवेदी के ऊपर स्थापित था। केवल जगन्नाथ ही क्यों पुष्कर की सावित्री, गया की सर्वमंगला देवी, शैलशिखर-स्थित विन्ध्या-

---

१, ५४३ ई. पू. में बुद्धदन्त पुरी में लाया गया था।

२, इम्पीरियल गजटियर।

३, जगन्नाथ-मूर्त्ति के भीतर "विष्णु-पंजर" रखा हुआ है। नवयात्रा के समय इस "पंजर" को बदलाते हैं। राखाल दास जैसे ऐतिहासिक इस पंजर को बुद्ध देव की हड्डी कहते हैं। उनकी लिखी हुई "उड़ीसा का इतिहास" देखिये।

बासिली गिरिकोह में आज भी बुद्धमूर्त्ति परिवर्त्तित रूप में हैं१। इसके अलावा आधुनिक काल के अहिंसामूलक वैष्णव धर्म पर भी बौद्ध धर्म का गहरा प्रभाव है। बौद्ध धर्म की पहुंच भारतवर्ष के प्रत्येक कोने में हुई थी और आज भी उसका प्रभाव दीख पड़ता है। हिंदुओं के कई तीर्थस्थानों में जाति भेद नहीं है—पुरी में भी नहीं है। क्या यह बौद्ध प्रभाव का उदाहरण नहीं है? इसके अलावा रथ यात्रा को देखिये। पुराणों में उसका उल्लेख नहीं मिलता। उस उत्सव की घटनावली विष्णुपुराण अथवा खिल्-हरिवंश में नहीं दी गई है। पुराण से यह स्पष्ट है कि पूर्व भारत में श्रीकृष्ण जी मगध तक गये थे। अंग, बंग अथवा कलिंग में उनका आना जाना न था। इसलिये पुरी में जगन्नाथ जी का आविर्भाव और रथयात्रा उत्सवादि बौद्ध धर्म के प्रभाव के ही कारण है। इसके अतिरिक्त जगन्नाथ जी के मंदिर में नर नारियों की गुप्त कहानियों की जो घटनावली चित्र खुदी हुई दीख पड़ती है ये चित्र वामाचारी बौद्ध तांत्रिकों के प्रभाव के उदाहरण है।

कुछ भी हो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि पुरुषोत्तम क्षेत्र में सब धर्मों का समन्वय हुआ है, "The worship of Jagannath aims at a Catholicism which embraces every form of Indian belief and every Indian conception of the deity, The fetishism of the aboriginal races, the mild flower worship of the Vedas, and the lofty spiritualism of the great Indian reformer have alike found refuge here.' (Statistical Account of Bengal XVIII, p. 182)

—अनुवादक-प्रफुल्ल कुमार मुकर्जी

१, नवीन चंद्र सेन—"आमार जीवन" (बंगला)

जन्मनियंत्रण में ज्योतिष का प्रभाव

आजकल हमारे देश में पाश्चात्य सभ्यता का जो प्रभाव पड़ रहा है, उसमें अनेक विषयों के साथ जीवनयात्रा की रीति में जन्मनियन्त्रण करने का भी एक प्रचण्ड आवर्त्त दिखलाई दे रहा है। इसके प्रभाव से केवल तरुण ही नहीं परन्तु अधेड़ भी विभ्रान्त हैं। मैं नहीं जानता कि बूढ़े भी इसे किस चाल से देखते हैं। नवीन सभ्यता से दीप्त यूरोप तथा अमेरिका की भावधारा के साथ भारत की भावधारा का ठीक ठीक मेल नहीं है, तो भी ढूँढने से बहुत कुछ एकता मिल सकती है। इस जन्मनियन्त्रण के विषय में महात्मा गान्धी जी को भी मुखर होना पड़ा। यूरोपीय सभ्यता के सम्पर्क के कारण हममें से भी बहुत से लोग कहते हैं कि जन्मनियन्त्रण आवश्यक है। क्योंकि यह सुसभ्यता का एक प्रधान अङ्ग है। उसका कारण वे यह बतलाते हैं कि यह दरिद्रता को नष्ट करता है, जननी को स्वास्थ्यवती रखता है, अकालवार्धक्य को आने नहीं देता है, तथा संसार में स्वास्थ्यवान् सन्तानों को बढ़ाता है। और हमारी भारतीय सभ्यता में प्रजानियन्त्रण का कोई भी नियम न रहने के कारण देश की दरिद्रता बढ़ती ही चली.जा रही है। अकालवार्धक्य से जननी की सौन्दर्य हानि ही नहीं होती परन्तु बहुधा यक्ष्मा आदि दुरारोग्यव्याधियों को प्रश्रय देकर नारी हत्या की व्यवस्था चल रही है और रुग्ण तथा अल्पायु सन्तानों का आविर्भाव होता जा रहा है।

ऊपर बतलाये हुए इन सब कारणों से वर्त्तमान सभ्यतावादी गर्भसरोध के पक्षपाती हैं। उनका कहना है कि स्त्री-पुरुषों की यौन उच्छृङ्खलता का रोध करना सम्भव नहीं है, इसलिये ऐसा उपाय निर्धारण करना आवश्यक है कि जिससे यौन सम्बन्ध होने पर भी गर्भ न हो। इस गर्भनिवारण के लिये हर तरह की औषधि तथा बाहर से व्यवहार करने के यन्त्र भी तैयार हो गये हैं। इस विषय पर कई पुस्तकें लिखकर तथा लोगों को व्याख्यान देकर सर्वसाधारण में इसका प्रचार भी चल रहा है। इसका उद्देश्य अत्यन्त महान् है—गरीबों का अधिक सन्तान जन्म से अर्थसमस्या का समाधान, नारियों की स्वास्थ्य रक्षा, और शिशु मृत्यु का निवारण। संभव है कि हमारे पूर्वपुरुषों ने ठीक वैसी चिन्ता न की हो। हमारे ग्रन्थों में जो जो प्रमाण मिलते हैं उनमें हम देखते हैं कि वे दीर्घजीवी, बलवान, कर्मठ तथा धार्मिक सन्तानों की कामनायें किया करते थे, और नर-नारियों की स्वस्थ्य और दीर्घ जीवन किस तरह से सम्भव हो सकेगा उसकी चिन्ता भी करते थे। महात्मा गान्धी जी की तरह एकाएक ब्रह्मचर्य रक्षा हो को वे इन सब विषयों के समाधान के मार्ग रूप मे निर्देश नहीं कर गये हैं। वे यह समझते थे कि जैसी पाश्चात्य सभ्यता कहती है कि नरनारियों की इन्द्रियवृत्ति को रोध करने से नहीं चलेगा परन्तु उनकी

आकांक्षा को जबरदस्ती निवृत्त करने की चेष्टा करने से वह रेत से बनी हुई बांध की तरह बह जायगा। उसकी अबाध गति को रखकर व्यवस्था न करने से कुछ भी नहीं होगा। यूरोप और अमेरिका की सभ्यता, इस इन्द्रियवृत्ति के उपभोग को सुस्थिर रखकर गर्भनियन्त्रण का दूसरा कोई भी उपाय न पाकर हर तरह की कृत्रिम यन्त्रादि तथा औषधियों की सहायता लेने लग गई; परन्तु हमारे पूर्वपुरुष इस सभ्यता के पक्षपाती न होते हुए भी हमारे लिये ऐसे अक्षय भण्डार रख गये हैं कि हम उनमें से सबकी उपयोगी आवश्यकता के अनुसार बहुत कुछ ढूँढ़ पाते हैं।

हिन्दू लोग सन्तान जन्म को धर्माङ्ग मानते हैं, इसलिये हमारे धर्मशास्त्र में लिखा है :—

ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति।
घोरायां भ्रूणहत्यायां पततेनात्र संशयः॥ (पराशर)

ऐसा जिनकी सभ्यता का शास्त्र-निर्देश है वे कभी सन्तान सरोध (Birth Control) की चिन्ता नहीं कर सकते हैं। यद्यपि कामशास्त्रादि ग्रन्थों में तथा वैद्यशास्त्र में भी गर्भनिरोध के लिये थोड़ी बहुत औषधियों के व्यवहार पर कुछ लेख मिलते हैं, पर उससे यह सिद्ध नहीं होता कि शरीर रक्षा के लिये आवश्यकता होने पर उनका व्यवहार होता था, क्योंकि उनकी विशेष तौर पर गवेषणा उन सब ग्रन्थों में नहीं पाई जाती है। उसकी सार बात यह है कि प्राचीन भारतीय शास्त्र में कभी कृत्रिमता को प्रश्रय नहीं दी गई थी, धर्म को पूरी तरह मानकर जितना सम्भव हो सका था उतना हो हिन्दू सभ्यता का प्रिय था। हम देखते हैं कि हमारे धर्म में वैसा नियम है कि जिसे पालन करने पर बिना कृत्रिम उपाय के भी गर्भनिरोध हो सकता है, नर-नारियों का शरीर स्वस्थ, सबल और कर्मठ रहता है तथा इच्छानुसार सन्तान लाभ किया जा सकता है। इस विषय में हिन्दू ज्योतिःशास्त्र के ऊपर निर्भर करते थे। ज्योतिष शास्त्र से यह कैसे सम्भव है उसे अब बतलाता हूं।

ज्योतिष शास्त्र के अनुसार शुक्र ग्रह ही शुक्र धातु का कारक है। चन्द्र ग्रह शोणित का कारक है, और मङ्गल ग्रह मज्जा, तथा शोणितवाहिका नाड़ी का कारक है। शुक्र तथा चन्द्र दोनों हो जलतत्त्व हैं और मङ्गल अग्नितत्त्व है। शुक्र तथा चन्द्र दोनो ही जल ग्रह हैं और मङ्गल शुष्क ग्रह है तथा शुष्कता का उत्पादक है। चन्द्र ही आर्तव है और मङ्गल आर्तववाहिनी नाड़ी है, इसलिये ज्योतिष शास्त्र के अनुसार स्त्रियों के रजो-धर्म के कारक चन्द्रमा और मङ्गल हैं।

यथा बृहज्जातके—

"कुजेन्दु हेतोः प्रतिमासमार्तवम्" तथा भट्टोत्पलधृता सारावली "इन्दुर्जलं कुजोऽग्निः, जल-मिश्रितोऽग्निरेव पित्तं स्यात्, ऐवं रक्तेऽभिते पित्तेन रजः प्रवर्तते स्त्रीषु" याने चन्द्र जल है और मङ्गल

अग्नि है। ये जल और अग्नि दोनों मिलकर पित्त को उत्पन्न करते हैं और वही पित्त रक्त को सञ्चालित कर निस्सारित करता है, वही निकला हुआ शोणित "रजः" कहलाता है।

स्त्रियों की मासिक ऋतु ही उनके गर्भधारण के काल को निर्देश करता है।

यह ऋतुकाल—

विभावरी षोडश भामिनीनां, मृतुदगमाद्या ऋतुकालमाहुः।

नाद्याश्चतस्रोऽत्र निषेकयोग्याः पराश्च युग्माः सुतदाः प्रशस्ताः॥

जातक पारिजात ३। १०

स्त्रियों का आर्तव काल सोलह दिन का है, उनमें से पहले चार रोज निषेक के अयोग्य हैं, बाकी बारह दिनों के भीतर युग्मदिन पुत्र देने वाले होते हैं, इसलिये निषेक में प्रशस्त हैं।

चन्द्रमा के प्रति मङ्गल की दृष्टि आर्तवनिःसरण के कारण होती है।

"गतेतुपीडर्क्षमनुष्ण दीधितौ" (बृहज्जातक)

"अनुष्णदीधितौ शीतमयूखे चन्द्रे पोडर्क्षगते प्रकृतत्वात्। स्त्रीणामनुपचयगृहाश्रिते आर्तव कारणं भवति। अथदिवयदि चन्द्रः कुजसन्दृष्टो भवति। एवमुक्तं भवति स्त्रियोजन्मर्क्षादनुपचयस्थश्चंद्रमाः, तत्रयदि अङ्गारकेण दृश्यते तदागर्भ ग्रहण क्षममार्तव गती हेतुर्भवति। (भट्टोत्पलः)

तथा च सारावल्याम्

अनुपचयराशिसंस्थे कुमुदाकरबान्धवे।

रुधिरदृष्टे प्रतिमासं युवतीनां भवतीहरतोत्र्वन्स्वेके"॥

मासिक आर्तव का कारण जो चन्द्र और मङ्गल का गोचर गति है वह मिल गया; अब ज्योतिष शास्त्र की सहायता से कौन सी ऋतु गर्भधारण के योग्य और कौन सी गर्भधारण के अयोग्य है, इसे निश्चय कर सकें तो कैसे प्रजानियन्त्रण करना सम्भव है वह भी स्थिर हो जायगा।

ज्योतिष-शास्त्र कहता है—

"तदुपचयसंस्थे प्रतिमास दर्शनं तस्याः" (भट्टोत्पल) तथा—

"स्यादन्यथा निष्फलम्" (जातकपारिजातः ३। १६)

अर्थात् स्त्रियों की कुण्डली में जन्म लग्न से गोचर पर तृतीय, षष्ठ, दशम, तथा एकादश में चन्द्रमा पर मङ्गल की दृष्टि से जो मासिक आर्तव दिखलाई देगी तो वह गर्भधारण के योग्य नहीं है। और नारी की कुण्डली में जन्म लग्न से अनुपचयराशि में याने लग्न, द्वितीय, चतुर्थ, पञ्चम, सप्तम, अष्टम, नवम और द्वादश राशि पर चन्द्रमा आवे और उस चन्द्रमा पर मङ्गल की दृष्टि पड़े और यदि ऋतु हो तो वह गर्भधारण के योग्य ऋतु जानना।

यथा—"शीत ज्योतिषि योषितोऽनुपचये स्थाने कुजेनेक्षिते
जातं गर्भफलप्रदं खलु रजः" (जातकपारिजात ३ । १६)

इसके पहले जो बृहज्जातक और भट्टोत्पल के मत उद्धृत किये गये हैं उनमें भी यही स्वीकृत है। फिर बादरायण भी कहते हैं—

स्त्रीणां गतोऽनुपचयर्क्षम नुष्ण रश्मिः
सदृश्यते यदि धरातनये न तासाम्।
गर्भ प्रदार्तव मुषन्ति तदानवन्ध्या-
वृद्धातुराल्पवयसामपि चैतदिष्टम् ॥

अर्थात् स्त्रियों की कुण्डली में अनुपचयराशियों पर रहते हुए चन्द्रमा में मङ्गल की दृष्टि पड़ने से गर्भधारण योग्य मासिक ऋतु होती है परन्तु यह वन्ध्या, वृद्धा तथा व्याधिग्रस्ता और बालिका पर कार्यकारी नहीं होगा।

शब्दिदीपिका में लिखा है—

पीड़ाराशौ भौमदृष्टे शशाङ्के मासं मासं योषितामार्तवं यत्।
त्र्यहे शान्तं यद्रक्तं जवाभं तद् गर्भार्थं वेदना गन्धहीनम् ॥

जब स्त्री कुण्डली में गोचर ग्रह सस्थान पर अनुपचय राशियों में चन्द्रमा से मङ्गल की दृष्टि हो तो हर महीने में स्त्रियों का रजः उत्पन्न होता है। उनमें से जो रजः तीसरे रोज प्रशमित हो जाता है और जिसका रङ्ग जवा (अड़ौल) पुष्प के सदृश होता है और जिसमें कोई वेदना (दर्द) या गन्ध न हो तो वही रजः गर्भधारण के लिये योग्य है।

किस ऋतु में गर्भ सम्भव होता है तथा किस ऋतु में गर्भ धारण नहीं होता है उसका मोटी तौर पर ज्योतिष-नियम दिखलाया गया। तन्त्र शास्त्र में, स्वरोदय शास्त्र में तथा आयुर्वेद शास्त्र में भी इस विषय पर बहुत कुछ लिखा मिलता है और ज्योतिष शास्त्र के साथ उन बातों की मेल भी दिखलाई पड़ती है। ज्योतिष के नियमों को मानकर चलने से ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है। जो लोग ब्रह्मचर्य रक्षा कर पुत्रोत्पादन करना चाहते हैं वे भी जैसे सुफल पा सकते हैं वैसे ही जो लोग किसी प्रकार के सयम का पक्षपात नहीं करते हैं, अबाध उच्छृङ्खल रूप से भोग में बाधा नहीं दी जा सकती है, ऐसा समझते हैं, वे भी इस तरफ ध्यान देने से यह देख सकते हैं कि इसमें यथेच्छ व्यवहार भी चल सकता है और कृत्रिमता का भी आश्रय नहीं लेना पड़ता और इसके लिये साधारणतया थोड़ा सा संयम ही पर्याप्त है। ज्योतिष शास्त्र पर विश्वास रख कर उस शास्त्र का निर्देश पालन करने से आजकल की समाज तथा मानव जाति का कल्याण छोड़कर कभी अकल्याण नहीं होगा।

—गणपति सरकार (विद्यारत्न-ज्योतिर्भूषण-जातक प्रभाकर)

हरप्पा

पुरातत्त्व विभाग ने (Archaeological Department) भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता का जीता जागता नमूना मोहनजोदारो और हरप्पा की खुदाई कराकर दिखा दिया है। ये दोनों स्थान एक ही काल में सभ्यता के केन्द्र रहे होंगे, इसका पता खुदाई में मिली हुई चीजों से लगता है। हरप्पा के टीले मान्टगोमरी जिले में स्थित हैं। करांची-लाहोर रेलवे लाइन पर हरप्पा रोड नाम का एक स्टेशन है जहां से कोई ४ मील उत्तर पूर्व में हरप्पा के टीले हैं। इन टीलों का पता सबसे पहिले सन् १८२६ में मेसन (Masan) नामक एक अंगरेज को लगा था। उसके बाद बरनेस (Burness) वहां पहुंचे। सन् १८५३ और ५६ में सर अलेक्जण्डर कनिंघम (Sir Alexander Cunningham) ने, जो पुरातत्व विभाग के सबसे बड़े अफसर थे उस स्थान की भली भांति जांच की थी। यद्यपि इन टीलों का पता कोई १०० वर्ष पहिले से था किन्तु इनकी खुदाई १९२४ के पहिले न हो सकी थी। मोहनजोदारो की भांति यहां भी अच्छी तरह खुदाई हुई और इस कार्य में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई।

दोनों स्थानों की सभ्यता की समानता मकान, नालियां, ईंट, मिट्टी की चीजें, हथियार, गहने, मोहर इत्यादि द्वारा लगता है। हरप्पा में सबसे सुन्दर और बड़ी इमारत एक अनाज का गोदाम निकला है। यह इमारत मध्यकाल की मालूम पड़ती है। कोई १६९ फीट लम्बे और १३५ फीट चौड़े दो बड़े घर हैं जिनके बीच में एक २३ फीट चौड़ा रास्ता है। हर एक घर में कोई ६ बड़े कमरे हैं जो ५१ फीट लम्बे और १७ फीट चौड़े हैं। इन बड़े कमरों के चार हिस्से किये गये हैं। ये सम्भवतः नगर के लोगों के सुभीते के लिये बनाये गये थे। इनकी बनावट इस ढंग की है कि उन दिनों में इनमें अनाज भरकर रखा जा सकता था। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से मकान हैं जो उस समय के रहन सहन पर प्रकाश डालते हैं।

उच्च श्रेणी के लोगों के मकानों के सामने काफी बड़ा सहन रहता था। मकान इस ढंग से बनाये जाते थे कि पुरुषों और स्त्रियों के रहने के लिये अलग २ कमरे हों। उत्तर की ओर एक मकान में दरबान या डेवढ़ीदार के रहने का स्थान था। उसके पश्चिम की ओर कोई और दो कमरे थे जिनमें अतिथि ठहर सकते थे। नीची श्रेणी के लोगों के मकान छोटे होते थे। मकान बनाने का ढंग ऐसा होता था कि एक दूसरे के मकान की हालत न जान सकते थे।

खुदाई में बहुत सी चीजें मिली हैं जो वर्णन करने योग्य हैं। एक खाई से पत्थर की एक मूर्त्ति निकाली है। यह इतनी अच्छी तरह से बनाई गई है कि ऐसा सुन्दर नमूना मोहनजोदारो में

नहीं मिलता है। सफाई इतनी है कि शरीर का प्रत्येक अंग सुन्दर मालूम पड़ता है। जिस अंग में अधिक मांस की आवश्यकता है वह वैसा ही दिखाया गया है। यह किसी पुरुष की मूर्त्ति मालूम पड़ता है। ऐतिहासिक काल की ऐसी मूर्त्ति आज तक कहीं नहीं मिली है। इसके अतिरिक्त गहरे भूरे रंग की एक मूर्ति खत्ते या (Granary) के पास खुदाई में मिली है। दोनों मूर्तियां अति सुन्दर हैं और इस बात का प्रमाण देती हैं कि प्राचीन काल में भारतवर्ष के सिंध ऐसे स्थान में इतनी सुन्दर मूर्तियां बनती थीं।

हरप्पा में सोने, चांदी, पत्थर और सीप के गहने भी खुदाई में मिले हैं। सोने के गहनों में हाथ के बंद और कड़ों के अतिरिक्त हार और मरतक के आभूषण भी मिले हैं। कई एक हार चार कड़ी की हैं जिनमें २४० दाने हैं। मिट्टी की चीज़ों में बड़े २ मटके और घड़े निकले हैं जिनके ऊपर ढक्कन भी हैं। एक घड़े के अन्दर कोई ७० हथियार और बहुत से औज़ार निकले हैं। यह घड़ा इतना बड़ा है कि उसमें उपर्युक्त आभूषण आसानी से रखे हुये थे। एक छोटा सा तांबे का रथ भी निकला है। खिलौनानुमा दो पहियों का यह रथ आगे-पीछे खुला हुआ है। उसका सारथी आगे बैठा है, किन्तु बैल, पहियों और धूरी का पता नहीं है। हरप्पा के मोहरों में, मोहनजोदारो की भांति तसवीरे और लेख भी मिले हैं। कुछ मोहर ऐसे है जिनमें घुंडा लगा हुआ है। उनपर खुदे हुए लेखों को पढ़ने का प्रयत्न किया गया था किन्तु अभी तक कोई उसे पढ़ नहीं सका।

उस समय मुर्दों के गाड़ने अथवा जलाने का भी पता चलता है। शव को जलाने के बाद हड्डियां एक घड़े में बंद कर रख दी जाती थीं। ऐसे बहुत से घड़े निकले हैं जिनमें हड्डियां मिली हैं। एक घड़े में प्रायः एक ही मनुष्य की हड्डियां रखी जाती थीं किन्तु किसी २ घड़े में दो तीन खोपड़ियां (Skull) भी निकली हैं। बच्चों को जलाया अथवा गाड़ा नहीं जाता था किन्तु उन्हें कपड़े में लपेट कर किसी पेटी में बन्द कर रख दिया जाता था। शव के साथ कुछ मिट्टी के बर्तन भी रख दिये जाते थे। इससे यह मालूम पड़ता है कि वे लोग आत्मा की अमरता में विश्वास करते थे। इन मिट्टी के बर्तनों पर कभी २ सुन्दर तसवीरें भी बना दी जाती थीं। एक घड़े पर दो सुन्दर मोर बने हुए हैं।

इन सब बातों से पता चलता है कि मोहनजोदारो की भांति हरप्पा भी उस काल में सभ्यता का एक बड़ा केन्द्र रहा होगा। दोनों जगह खुदाई में मिली चीज़ें इस बात की साक्षी हैं कि ये दोनों अति प्राचीन सभ्यता के केन्द्र रहे होंगे।

बैजनाथपुरी, लखनऊ

सम्पादकीय मन्तव्य

प्राचीन भारत की पहली संख्या को विद्वानों ने अपनाया है, उसकी विशेष आदर हुई है—क्या यह हर्ष की बात नहीं है? कई विद्वानों ने इसका भविष्य उज्वल बतलाया है। बिड़ला जी ने इस पत्रिका के आदर्श को और भी उन्नत करने के लिये कहा है जिसके लिये यथा साध्य चेष्टा की जा रही है। हमें यह आशा है कि भारतीय शास्त्र-ज्ञान-सबन्धी उत्तमोत्तम मौलिक प्रबध इस पत्रिका में प्रकाशित होंगे इसलिये हम आपकी सहानुभूति प्रार्थना करते हैं। पहली संख्या "बसतपंचमी" के दिन निकालना था अतएव शीघ्रता में कुछ त्रुटियां रह गई थीं—भविष्य में सभवतः ऐसा न होगा। आशा है पाठक क्षमा करेंगे।

प० रामसुरति मिश्र बीमार हैं इसलिये गृह्या संग्रह के कुल ४ ही पृष्ठ इस अक में दिये गये हैं। अगले अक में बारह पृष्ठ रहेंगे।

हम यह आशा करते हैं कि प्राचीन-भारत हिंदी की श्रेष्ठ मासिक पत्रिका होगी, इसलिये भारतवर्ष के प्रत्येक विद्वान, पडित तथा हिंदी-भाषानुरागी की सहायता एवं सहयोगिता प्रार्थनीय है।

—०—

इसी माह में भारतवर्ष के दो श्रेष्ठ महापुरुषों ने जन्म-ग्रहण किया था—वे हैं श्रीकृष्ण चैतन्य और श्रीरामकृष्ण परमहंस जी। चैतन्य महाप्रभु जी ने भगवद् प्रेम का प्रचार किया था और रामकृष्ण परमहंस जी एक सिद्ध योगी थे। इस माह में प्राचीन भारत की दूसरी संख्या निकल रही है।

—०—

पुस्तक-समालोचना

महाभारत,—उद्योगपर्वन, गुच्छ ९,—विष्णु सीताराम सुकथंकर तथा अन्यान्य विद्वानों द्वारा सपादित, पृष्ठ ४००, भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पूना, सन् १९३७।

यह पूना से प्रकाशित महाभारत का नवां गुच्छ है। इस पुस्तक के संपादन में भारतवर्ष तथा बाहर के विभिन्न विद्वानों ने सुकथंकर जी की सहायता की है। डा. एस. के. दे पर उद्योग-पर्वन का भार सौंपा गया है और वह शीघ्र ही सपूर्ण होगा। सुकथकर जी द्वारा निर्धारित उच्च आदर्श इस उद्योग-पर्वन में स्पष्ट लक्षित है। "सनत्सुजातीय-विभाग" में शकराचार्य के वर्णन पर डा. दे ने विशेष कुछ नहीं कहा है। भारतवर्ष में प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों पर ही ध्यान दिया गया है, जावा में प्राप्त पर नहीं। इस विषय में डा. दे ने ठीक ही कहा है कि ग्यारहवीं शताब्दी में लोगों से सुनकर जव-भाषा में अनुवाद करने वाले ने अपनी प्रति लिखी थी।

जब यह पुस्तक पूरी तरह से लिखी जा चुकी थी तब शारदा-संहिता मिली, अतएव इस गुच्छ के सपूर्ण हो जाने पर डा. दे ने उस संहिता पर एक अलग परिशिष्ट जोड़ने का विचार किया है।

इस कार्य के सपादन के लिये डा. सुकथंकर तथा डा. दे विशेष बधाई के पात्र हैं और हम यह आशा करते हैं कि भारतवर्ष के विभिन्न सस्कृति-प्रिय लोग आर्थिक सहायता देकर इस कार्य को आगे बढ़ाने की कृपा करेंगे।

बटकृष्ण घोष

अथर्ववेद-संहिता,—सातवळेकरकुलजेन दामोदरभट्टसूनुना श्रीपाद शर्मणा सम्पादिता, कई प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों की सहायता से वैदिक विद्वानों द्वारा, पृष्ठ १५+५२०, अउंध, सं० १९९५ :—

वैदिक-साहित्य की छोटी छोटी कम कीमत की पुस्तकें प्रकाशित कर स्वाध्याय-मंडल (अउंध) उत्तम कार्य कर रही है। खेद यह है कि प्रकाशित पुस्तकों में पद-पाठ न रहने के कारण आलोच्य पुस्तक भी विद्यार्थियों के काम की न हो सकी है। मुख्य विषयों पर फुट-नोट देने से भी काम चल जाता। आशा है कि उपस्थित संस्करण के शीघ्र ही समाप्त हो जाने पर 'सहिता' की दूसरी सस्करण में कम से कम पद-पाठों के सारांश अवश्य रहेंगे। आलोच्य पुस्तक की जांच मैंने की—लिखना निरर्थक है कि वह उत्तम एवं विश्वास योग्य है।

सूचना भी अच्छी है—इसमें सदेह नहीं। सपादक ने हस्तलिखित प्रतियों का वर्णन नहीं दिया है। लेकिन पाठान्तर परिशिष्ट में दिये गये हैं। पैप्पलाद-संहिता पर विचार नहीं किया जा सका। अस्तु—

बटकृष्ण घोष

विश्वपर हिन्दुत्व का प्रभाव—हिंदू साम्राज्य, सभ्यता, एवं धर्म के भुवन व्यापी प्रभाव का ऐतिहासिक अन्वेषण, लेखक पं० श्रीविश्वनाथ शास्त्री (Research Scholar), पुरातत्वान्वेषक वेद व्याकरण तीर्थ, मूल्य १) ।

इस पुस्तक में पं० विश्वनाथ शास्त्री ने विश्वपर हिंदुत्व का प्रभाव दर्शाया है । यह तो सभी जानते हैं कि प्राचीन काल में भारतवर्ष ने ही संसार को सभ्यता का पाठ पढ़ाया था—भारतीय ज्ञान-विज्ञान का प्रभाव सारे विश्वपर पड़ा था । इस पुस्तक के लिखने में लेखक ने कई उपयोगी एवं प्रसिद्ध विद्वानों की पुस्तकों की सहायता ली है जैसे Li Bouddhisme (Filex Neve, Paris), Cambridge History of India आदि । आपको कहां तक सफलता मिली है इसका पता डा० श्यामा प्रसाद मुकरजी की चिट्ठी से चलता है । आप लिखते हैं :—

"विश्वपर हिंदुत्व का प्रभाव ग्रन्थ पूर्ण मौलिक और सुप्राचीन हिंदुओं के गरिमा-मंडित ऐतिहासिक तत्वमय तथ्य है । प्रत्येक हिंदू मात्र को एक बार इस ग्रंथ का पढ़ना, और कुछ विचार भी कर लेना नितान्त आवश्यक है ।

प० विश्वनाथ जी शास्त्री वेद व्याकरण तीर्थ की यह रचना हिंदी संसार में अवश्य आदरणीय होगी, ऐसी आशा मैं हिंदी पाठक ससार से दृढ़ भाव में रखता हू । सामग्री और अन्वेषण परिश्रम साध्य एवं सुंदर है" ।

पंडित जी ने चीन जापान से लेकर आरमेनिया, मिश्र, आयरलैंड, आफ्रिका और अमेरिका में भी हिंदुत्व का प्रभाव दर्शाया है । आलोच्य पुस्तक-प्रचार से ही आपकी सफलता सिद्ध होगी ।

—कालिदास मुकरजी

नई पुस्तकें

1. House of Shivaji—Sir Jadunath Sircar Rs. 2-8
2. Studies in Gandhism—Nirmal kumar Bose Rs. 2/-
३. विज्ञान के चमत्कार—भगवती प्रसाद श्रीवास्तव एम० एस. सी.
४. भारतवर्ष में जातिभेद—आचार्य क्षितिमोहन सेन शास्त्री एम. ए.—

सम्पादक, श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी

५. आधुनिक हिंदी साहित्य—सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन
६. मन के भेद—प्रो. राजाराम शास्त्री

पुरानी-पत्रिकायें

कालिदास मुकरजी द्वारा संकलित

On the Ramayana—Prof. Albrecht Weber. Berlin (Translated from the German by the Rev. F. C. Boyd M. A.)—इसमें आदि कवि बाल्मीकि ने बौद्धगाथा से रामायण-उपादान ली थी या नहीं इस पर विचार किया गया है।

The date of the Nyayakusumanjali (p 297) Kashinath Trimbak Telang, Senior Dakshina Fellow, Elphinstone College:— प्रो० इ० बी० कवेलु (Prof. E. B. Cowelu) ने "न्यायकुसुमांजली" में बाचस्पति मिश्र का काल १० वीं शताब्दी और उदयनाचार्य का काल १२ वीं शताब्दी ठहराने की चेष्टा की है। इस लेख में लेखक ने प्रो० कवेलु के निर्धारित काल को भूल ठहराया है, आपकी आलोचना अच्छी है।

On the Date of Patanjali and the King in whose reign he lived (P. 299) Prof. Ramkrishna Gopal Bhandarkar M A., Elphinstone College, Bombay.—

यह लेख पतंजलि के जन्म-काल-निर्धारण पर है। प्रो० लेसीन (Prof Lasein) के अनुसार पतजलि का अविर्माव काल १४४ ई० पूर्व है। इस लेख में लेखक का यह कहना है कि प्रो० लेसीन के निर्धारित काल के करीब करीब ही पतजलि का समय है। पतजलि का आविर्भाव राजा पुष्पमित्र के समय में हुआ था और उनके महाभाष्य के तीसरे अध्याय की रचना १४४ ई० पू० से १४२ ई० पू० के भीतर हुई थी।

On the Vrihat Kathā of Kshemendra (P. 302) Dr. G. Bühler.

पैशाची-प्राकृत में लिखित वृहत्कथा नामक एक पुस्तक पर इस लेख में आलोचना की गई है।

An Interesting Passage in Kumārila Bhettas Tantra Vārttika. (P.309) —A. C. Burnell. M. C. S., M. R. A S., Mangalore :—

कुमारिल-भट्ट-कृत जैमिनी-सूत्र की टीका को "तंत्र-वार्त्तिक" कहते हैं। कुमारिल भट्ट का जन्म सातवीं शताब्दी के अन्त में हुआ था; वे दक्षिण भारत के रहने वाले थे। वहां की द्रविड़ भाषा को उन्होंने म्लेच्छ या अब्राह्मणीय भाषा कहा है।

Nārāyan Swāmi—(P. 331)—Jas. Burgess, M.R.A.S., F.R.G.S., (Editor, The Indian Antiquary)—

गुजरात और काठियावाड़ के बहुत से हिन्दू नारायण-स्वामी-सम्प्रदाय के हैं। नारायण स्वामी के शिष्य उन्हें भगवान नारायण का अवतार समझते थे। इस लेख में स्वामी जी की जीवनी तथा कार्यावली दी हुई है।

सामयिक-साहित्य

नागरी प्रचारिणी पत्रिका—भृगुवंश और भारत—भारतदीपक डा. विष्णु सीताराम सुकथनकर, एम. ए. पी. एच. डी.
(श्रावण १९९७)

,, —वीसलदेव रासो का निर्माण काल—महामहोपाध्याय रायबहादुर डा. गौरीशंकर हीराचंद ओझा, डी. लिट.

कल्याण —भक्त और भगवान—श्री अक्षय कुमार वन्द्योपाध्याय, एम. ए

,, —सकीर्त्तन में अन्तःक्रिया—राय बहादुर पंड्या श्री बैजनाथ जी बी. ए.

,, —हिंदू धर्म में स्त्री-जाति का अधिकार—श्रीयुत रामचंद्र जी.

विश्ववाणी —धर्म और विधान—राष्ट्रपति मौलाना अबुल कलाम आज़ाद

,, —भारतीय चित्रकला को वर्त्तमान उन्नति—डा. जेम्स. एच. कजिन्स.

,, —पश्चिमी सभ्यता हिंदुस्तान की कर्जदार है—डा. एन के मेनन

,, —सभ्यता और विज्ञान—सर्वपल्ली राधाकृष्णन

,, —मानव-सस्कृति का वैज्ञानिक अध्ययन—श्री लक्ष्मीकान्त झा, आइ सी. एस

,, —महजो-दड़ो के शिलालेख - श्री हेनरी हेरास, एम जे. एम ए.

,, —महात्मा ज़रथुस्त्र—पं सुदरलालजी

कमला —तुलसीदास जो का नाटकीय महाकाव्य रामायण— श्री राजबहादुर लमगोड़ा

विश्वमित्र—कौटिल्य काल की साम्पत्तिक स्थिति—श्री गोपाल दामोदर तामस्कर

सर्वोदय—सांस्कृतिक समन्वय—श्री कन्हैयालाल माणेकलाल मुनशी

—:o:—

सामयिक संवाद

रायल एशियाटिक सोसाइटि—इस वर्ष रायल एशियाटिक सोसाइटि की वात्सरिक सभा बड़ी शानदार थी। आचार्य सर पी. सी. राय को सर विलियम जोन्स मेमोरियल मेडेल दिया गया है।

राजपूताना परदा-निवारण-सम्मेलन—हाल ही में राजपूताने के परदा-निवारण-सम्मेलन में श्रीमती सत्यवती ने परदा दूर करने के लिये अनुरोध किया है। उनकी राय यह है कि जिस देश में पद्मिनी जैसों का जन्म हुआ था वहां परदा रहना स्त्रियों को दासत्व के गड्ढे में ढकेलना है।

शोक संवाद

पं रामचंद्र शुक्ल :—यह अत्यत शोक से लिखना पड़ रहा है कि पं० रामचंद्र जी शुक्ल अब नहीं हैं। उन्होंने हिंदी साहित्य की क्या सेवा की है उसे बतलाना सूर्य के सामने दीपक रखने का सा होगा। आज प्रत्येक हिंदी-प्रेमी उनके लिये दुःखी है। परमेश्वर उनकी आत्मा को शान्ति देवें।

डा ग्रियर्सन :—डा० ग्रियर्सन को भी काल ने आ ग्रसा। आयरलैंड के ग्लीनागरी में सन् १८५१ में आपने जन्म ग्रहण किया था। डबलिन विश्वविद्यालय में संस्कृत तथा हिंदी (हिंदुस्थानी) भाषा सीखकर आप सन् १८७३ में भारतवर्ष आये थे। भारतवर्ष की विभिन्न भाषाओं की आपकी जानकारी थी और इस विषय में आपने Linguistic Survey of India तथा Vernacular Literature of Hindustan आदि पुस्तकें लिखीं थीं। मलिक मुहम्मद जायसी, पर भी आपने अच्छी गवेषणा की थी। पद्मावत पर आपने बहुत कुछ लिखा है। इसके अतिरिक्त Encyclopaedia Britanica में आपने भारतीय भाषाओं पर लेख लिखा था। हिंदी भाषातत्व पर गवेषणा करने वालों को आपकी मृत्यु से गहरा चोट लगा है।

ज्ञात्वा स्वरूप माग्नेयं योऽग्नेराराधनं चरेत्।
ऐहिकामुष्मिकैः कामैः सारथिस्तस्य पावकः ॥१८॥

सान्वय-शब्दार्थ—(यः) जो (आग्नेय) अग्नि के (स्वरूपम्) रूप को (ज्ञात्वा) जानकर (ऐहिकामुष्मिकैः) इहलौकिक पारलौकिक (कामैः) यज्ञादि कर्मों से (अग्नेः) अग्निदेव की (आराधनम्) सेवा (चरेत्) करता है (तस्य) उसका (पावक) अग्नि (सारथिः) सहायक हैं ॥१८॥

भावार्थ—पूर्वोक्त रूप से अग्नि का स्वरूप समझ कर जो हवनादि कार्य करते हैं उनकी सहायता अग्निदेव करते हैं ॥१८॥

निःसंशयकरैरर्थैः पुत्रशिष्यहितैषिणा।
गोभिलाचार्य पुत्रेण कृतं शास्त्रं सुनिश्चितम् ॥१९॥

सान्वय-शब्दार्थ—(गोभिलाचार्यपुत्रेण) श्रीयुत गोभिलाचार्य के पुत्र ने (पुत्रशिष्यहितैषिणा) पुत्र एवं शिष्यों की भलाई के लिये (निःसंशयकरैरर्थैः) सन्देह दूर करने वाले वाक्यों से (सुनिश्चितं) अच्छी तरह निश्चित कर गृह्य संग्रह नामक (शास्त्रं) शास्त्र (कृतम्) बनाया ॥१९॥

भावार्थ—श्रीयुत गोभिलाचार्य के पुत्र ने अपने पुत्र एवं जनता की भलाई के लिए गृह्य संग्रह नामक यह पुस्तक बनायी है, जिसमें अच्छी तरह से सन्देह रहित निर्णय किया गया है ॥१९॥

पावकस्य मुखं वक्ष्ये यदुक्तं पद्मयोनिना।
सप्तजिह्वा प्रमाणन्तु प्रादेशं परिकीर्त्तितम् ॥२०॥

सान्वय-शब्दार्थ—(पावकस्य) अग्निदेव का (मुखं) मुख (वक्ष्ये) बतलाता हूं, (यत्) जो कुछ (पद्मयोनिना) ब्रह्मा जी ने (उक्तं) बतलाया है, (सप्तजिह्वा प्रमाणं) सातों जीभों का प्रमाण (तु) तो (प्रादेशं) प्रादेशमात्र (अंगूठा एवं तर्जनी को फैलाकर जो माप किया जाता है उसी को प्रादेश कहते हैं), (परिकीर्तितम्) बतलाया गया है ॥२०॥

भावार्थ—अग्नि के मुख के विषय में जो कुछ ब्रह्मा जी ने बतलाया है वह आगे सूचित किया जा रहा है, अग्नि के जो सात जीभ हैं उनका नाम प्रादेश मात्र है ॥२०॥

प्रमाणं चतुरस्रञ्च वर्तुलं मुखमण्डलम्।
यदर्थं हूयते वह्नौ तां जिह्वां परिकल्पयेत् ॥२१॥

सान्वय-शब्दार्थ—(मुखमण्डलम्) अग्नि के मुख का (प्रमाणं) प्रमाण (वर्तुलं) गोल

(चतुष्कोणं) चौकोन है, (यदर्थं) जिस कामना से (वह्नौ) आग में (हूयते) हवन किया जाय (तां) उस (जिह्वां) जीभ की परिकल्पना करे ॥२१॥

भावार्थ—अग्नि का मुख चतुष्कोण एव गोल बतलाया गया है। अतः जिस कामना से हवन करना हो उस जीभ की कल्पना करे ॥२१॥

कराली धूमिनी श्वेता लोहिता चाति लोहिता।
सुपर्णी पद्मरागी च सप्तैताः परिकीर्त्तिताः ॥२२॥

सान्वय-शब्दार्थ—अग्नि के सात जीभों का नाम बतलाया जा रहा है—यथा—१ कराली २ धूमिनी ३ श्वेता ४ लोहिता ५ अतिलोहिता ६ सुपर्णी ७ पद्मरागी (एताः) ए (सप्त) सात (परिकीर्तिताः) बतलाये गये हैं ॥२२॥

भावार्थ—उपरोक्त सात नाम अग्नि के हैं ॥२२॥

करालीं राक्षसाश्नन्ति धूमिनी मसुरास्तथा।
श्वेतां नागाः समश्नन्ति पिशाचा लोहितां तथा ॥२३॥

सान्वय-शब्दार्थ—(राक्षसाः) राक्षस (करालीं) कराली नामक जिह्वा से खाते हैं, और (असुराः) असुर (धूमिनी) धूमिनी से खाते हैं, (श्वेतां) श्वेता से (नागाः) नाग खाते हैं, (तथा) और (पिशाचा) पिशाच नामक देवयोनि विशेष (लोहितां) लोहिता नामक जीभ से खाते है ॥२३॥

भावार्थ—क्रमशः १ कराली, २ धूमिनी, ३ श्वेता ४ लोहिता नामक जीभों में जो हवन किया जाता है, वह राक्षस, असुर, नाग और पिशाचों को प्राप्त होता है ॥२३॥

महालोहितां गन्धर्वाः सुपर्णीञ्च यमस्तथा ॥२३अ॥

सान्वय-शब्दार्थ—(गन्धर्वाः) गन्धर्व लोग (महा लोहितां) महा लोहिता नामक जीभ से (तथा) और (यमः) यमदेव (सुपर्णीं) सुपर्णी नामक जीभ से खाते हैं ॥२३अ॥

भावार्थ—महा लोहिता एवं सुपर्णी नामक अग्नि के जीभों में हवन किया जाता है उसे क्रमशः गन्धर्व एवं यम पाते हैं ॥२३अ॥

पद्मरागी च विख्याता दिव्या जिह्वा हुताशने।
तस्यान्तु होमयेन्नित्यं सुसमिद्धे हुताशने ॥२४॥

समन्वय-शब्दार्थ—(हुताशने) अग्नि में (पद्मरागी) पद्मरागी नाम की (दिव्या) सब से

अच्छी (जीह्वा) जीभ (विख्याता) प्रसिद्ध है (हुसमिद्धे) अच्छी तरह प्रज्वलित होनेपर (हुताशने) अग्नि में (तस्यां) उस पद्मरागी नामक अग्नि की जिह्वा में (नित्यं) सदा (होमयेत्) हवन करे ॥२४॥

भावार्थ—उपरोक्त अग्नि को जिह्वाओं में पद्मरागी नाम की उत्तम जीभ है, अच्छी तरह अग्नि प्रज्वलित कर अपनी कामनानुसार उसमें हवन करे ॥२५॥

विधूमे लेलिहाने च होतव्यं तन्त्रसिद्धये।
न धमो न तथा ज्वाला विशुद्धोष्णविचक्षुषा ॥२५॥

सान्वय-शब्दार्थ—(तन्त्रसिद्धये) तन्त्रसिद्धि अर्थात् अपनी कामना पूर्ण होने के लिये (विधूमे) धूम रहित (लेलिहाने) जब अग्नि की ज्वाला निकलती हो तब (होतव्य) हवन करना चाहिए, (न धूमो) धूवां न रहे (न तथा ज्वाला) और न अधिक ज्वाला रहे, वही (विशुद्धा) हवन योग्य अग्नि है, यह (उष्णविचक्षुषा) अग्नि की विशेषता जानने वाले विद्वानों ने बतलायी है ॥२५॥

भावार्थ—अच्छी तरह धूम रहित प्रज्वलित अग्नि में हवन करना श्रेष्ठ है, क्योंकि विद्वानों ने यह बतलाया है कि हवन के समय अग्नि में न तो धूम हो और न अधिक ज्वाला ही हो ॥२५॥

प्रभया भाति यत्रैव भगवांस्तत्र तिष्ठति।
तत्र पूर्णाहुतिं दद्यात्सर्वकाम प्रसिद्धये ॥२६॥

सान्वय-शब्दार्थ—(यत्र) जहां (प्रभया) अपने प्रकाश से अग्नि (भाति) शोभित है, (तत्र) वहां (एव) ही (भगवान्) परमेश्वर (तिष्ठति) रहते हैं। (सर्व काम प्रसिद्धये) अपनी सभी कामना प्राप्ति के लिए (तत्र) उस अग्नि में (पूर्णाहुतिं) पूर्णाहुति हवन (दद्यात्) करे ॥२६॥

भावार्थ—जिस अग्नि में अच्छी ज्वाला निकलती हो उसी में पूर्णाहुती हवन करने से मनुष्य की कामना पूर्ण होती है ॥२६॥

मारणी राक्षसी रौद्री क्रव्यादी ब्रह्मराक्षसी।
स्थूलजङ्घा कराली च वज्रहस्ता तथैव च ॥२७॥

सान्वय-शब्दार्थ—अब इसके बाद नव समिधों का नाम बतलाते हैं १ मारणी २ राक्षसी ३ रौद्री ४ क्रव्यादी ५ ब्रह्मराक्षसी ६ स्थूलजङ्घा ७ कराली ८ वज्रहस्ता ॥२७॥

यमदूती च विज्ञेया इत्येताः समिधो नव ॥२७अ॥

सान्वय-शब्दार्थ—(च) और (इत्येताः) ए (समिधः) समिधा हैं जो कि सर्वप्रथम ब्रह्मा का ध्यान कर हवन किये जाते हैं ॥२७अ॥

विशीर्णा विदला ह्रस्वा वक्रा स्थूला कृशा द्विधा।
कृमिदष्टा च दीर्घा च वर्जनीयाः प्रयत्नतः ॥२८॥

सान्वय-शब्दार्थ—(विशीर्णा) सड़ी हुई (बिदला) फटी हुई (ह्रस्वा) छोटी (वक्रा) टेढ़ी (स्थूला) मोटी (कृशा) अत्यन्त पतली (द्विधा) जो टूट गयी हो। (कृमिदष्टा) कीट खालिये हों (च) और (दीर्घा) प्रादेश मात्र से बड़ी हो (प्रयत्नतः) सावधानी से (वर्जनीया) त्याग देनी चाहिये ॥२८॥

भावार्थ—उपरोक्त समिधों का नाम बतला कर अब उनके दोष बतलाते हैं कि प्रयत्नपूर्वक ऐसे समिधों को छोड़ देना चाहिये जो कि सड़े, कटे, टेढ़े, प्रादेश मात्र से टेढ़े, पतले-आदि दोषों से दूषित हों ॥२८॥

विशीर्णाऽयुःक्षयं कुर्याद विदला व्याधिसम्भवा।
ह्रस्वा मृत्युकरी रौद्री दुर्भगत्वन्तु वक्रया ॥२९॥

सान्वय-शब्दार्थ—(विशीर्णा) सड़ी हुई (आयुः क्षय) आयु का नाश (कुर्यात्) करती है (बिदला) फटी समिधा (व्याधि) रोग (सम्भवा) पैदा करती है। (ह्रस्वा) प्रादेश मात्र से छोटी समिधा (मृत्युकरी) मृत्यु कारक (रौद्रो) भय देती है, (वक्रयाः) टेढ़ी समिधा (तु) तो (दुर्भगत्वं) दुर्भाग्य देती है ॥२९॥

भावार्थ—उपरोक्त दोष युक्त समिधों का अलग २ फल बतलाते हैं कि सड़ी समिधा आयु नष्ट करती है, फटी हुई रोग पैदा करती है, प्रादेश से छोटी समिधा मृत्यु देने वाली एवं टेढ़ी समिधा दुर्भाग्य-प्रद है ॥२९॥

विघ्नानि कुरुते स्थूला कृशा च रिपुवर्द्धिनी।
द्विधा नाशयते ह्यर्थं भार्यां च प्रियबान्धवान् ॥३०॥

सान्वय-शब्दार्थ—(स्थूला) मोटी समिधा (विघ्नानि) बाधा (कुरुते) करती है (च) और (कृशा) पतली समिधा (रिपुवर्द्धिनी) शत्रु बढ़ाती है (द्विधा) जो अलग अलग हो गई है वह (अर्थ) धन (भार्या) स्त्री (च) और (प्रियबान्धवान) प्रिय बन्धुओं का (नाशयते) नाश करती है ॥३०॥

भावार्थ—मोटी समिधा बाधा देती है और पतली समिधा शत्रु को बढ़ाती है। जो अलग अलग हो गई है वह धन, स्त्री और प्रिय बन्धुओं का नाश करती है ॥३०॥

हिन्दी-सभा

सभापति—श्रीयुत घनश्यामदासजी बिड़ला ।

सह० सभापति—(२) श्रीयुत बंशीधर जालान ।

(३) „ भागीरथ कानोड़िया ।

अन्यान्य सदस्य

(४) काका कालेलकर ।

(५) डा० डी० आर० भंडारकर ।

(६) महामहोपाध्याय सकलनारायण शर्मा ।

(७) डा० सुनीति कुमार चटर्जी ।

(८) श्रीयुत बहादुर सिंह सिंघी

(९) श्रीयुत मूलचन्द अगरवाल ।

(१०) डा० बेनीमाधव बड़ुवा ।

(११) श्रीयुत शिवप्रसाद गुप्त ।

(१२) प० अम्बिका प्रसाद बाजपेयी ।

(१३) श्रीयुत देवीप्रसाद खेतान ।

(१४) „ लक्ष्मीनिवास बिड़ला ।

(१५) „ परेश नाथ सिंह

(१६) „ पद्मराज जैन ।

(१७) „ बाबूलाल राजगड़िया ।

(१८) डा॰ बटकृष्ण घोष

(१९) प० श्री रामसुरति मिश्र ।

(२०) श्रीयुत सतीशचन्द्र शील । (परिचालक)

(२१) „ कालिदास मुकरजी (सह-सम्पादक)

(२२) कुमारी पद्मा मिश्र (सह-सम्पादिका)

प्राचीन भारत का उद्देश्य

हिन्दी में मासिक एवं त्रैमासिक कई पत्रिकायें हैं लेकिन भारतीय संस्कृति एवं शास्त्र सम्बन्धीय कोई पत्रिका नहीं दिखलाई पड़ती । प्राचीन भारत की ज्ञान-गरिमा को हम क्रमशः भूलते ही जा रहे हैं कि इसी भारतवर्ष ने चीन, जापान के अतिरिक्त सुदूर अमेरिका में भी हिन्दुत्व का प्रभाव कैसे डाला था ? कैसे यूनानियों ने यहां से चिकित्सा पद्धति सीखी ? सम्राट सिकन्दर तो यहां की शिक्षा, एवं संस्कृति को देखकर दंग हो गया था । इस पत्रिका का उद्देश्य उस प्राचीन संस्कृति आदि पर प्रकाश डालना ही है । इस पत्रिका में नीचे लिखे विषयों पर लेख रहेंगे :—

(१) वैदिक शास्त्र (२) दर्शन-शास्त्र (३) धर्म-शास्त्र (४) बौद्ध तथा जैन शास्त्र (५) आयुर्वेद-शास्त्र (६) शिल्प एवं कला (७) प्राचीन विज्ञान-शास्त्र (गणित, ज्योतिष, रसायन, पदार्थ-विद्या आदि) (८) हिन्दी-साहित्य (९) समाज तथा नीति-शास्त्र (१०) प्राचीन तथा आधुनिक भारतवर्ष और दूसरे देशों की शिक्षापद्धति तथा उनका प्रचार कार्य (११) पुस्तक समालोचना तथा अन्यान्य विषयों में प्रकाशित लेखों पर मन्तव्य (१२) सम्पादकीय मन्तव्य । इसके अतिरिक्त अप्रकाशित हस्तलिखित प्रतियों का प्रकाशन एवं प्रकाशित दुष्प्राप्य पुस्तकों की समालोचना। संस्कृत, पाली एवं प्राकृत अप्रकाशित हस्तलिखित प्रतियों का हिन्दी अनुवाद।

प्रथम वर्ष

तीसरी संख्या

प्राचीन भारत



[भारतीय शास्त्र एवं संस्कृति सम्बन्धीय मुख्य मासिक पत्रिका]

INDIAN RESEARCH INSTITUTE

विद्ययाऽमृतमश्नुते

CALCUTTA.

चैत्र

संवत् १९९७

सम्पादक—महामहोपाध्याय सकलनारायण शर्मा

सह० सम्पादक—श्री कालिदास मुकरजी एम. ए., एम आर. ए एस.

सह० सम्पादिका—कुमारी पद्मा मिश्र एम. ए

परिचालक—श्री सतीश चन्द्र शील,, एम. ए., बी. एल.

दि इन्डियन रिसर्च इन्स्टिट्यूट

१७०, मानिकतला स्ट्रीट कलकत्ता

नियमावली

(१) माघ माह से प्राचीन भारत का वर्ष आरम्भ होता है। हर माह के पहले हफ्ते में यह पत्रिका प्रकाशित होती है। हर संख्या में लगभग ७२ पृष्ठ रहते हैं।

(२) इस पत्रिका का वार्षिक मूल्य ४) तथा छमाही मूल्य २।) रुपये (डाक सहित) है। प्रति संख्या की कीमत ।≠), डाक अलग।

(३) वार्षिक या छमाही मूल्य पहले देना पड़ता है।

(४) किसी विशेष-संख्या के प्रकाशित होने पर वार्षिक-ग्राहकों को उसकी कीमत नहीं देनी पड़ती है।

(५) वर्ष-समाप्ति के एक माह पूर्व वसूली के लिये पत्र दिया जाता है नहीं तो वर्ष-समाप्ति के बाद पहली संख्या वी० पी० द्वारा भेजी जाती है। जो महोदय पत्रिका बन्द करना चाहते हैं उन्हें पहले ही सूचित करना आवश्यक है।

(६) ग्राहक का पता यदि बदल जाय तो जितनी जल्दी हो सके सूचित करना चाहिये।

(७) ठीक समय में यदि पत्रिका न मिले तो ग्राहक १५ दिन के भीतर सह० सम्पादक को सूचित करें।

(८) लेखक कृपया पृष्ठ की एक ओर अपना लेख भेजें। प्रूफ केवल एक ही बार लेखक के पास भेजा जा सकता है।

(९) जो महाशय १००) देने की कृपा करेंगे वे इस संस्था के आजीवन—सदस्य बनेंगे। उन्हें पत्रिका एवं इस संस्था से प्रकाशित हिन्दी पुस्तकें मुफ्त में दी जावेंगी।

Printed and Published by Mr Gour Chandra Sen, B.Com. from the Indian Research Institute, 170, Maniktala Street, Calcutta, at the Sree Bharatee Press of the same address.

सूचीपत्र

प्राचीन भारत

(भारतीय शास्त्र एवं संस्कृति सम्बन्धीय मुख्य मासिक पत्रिका)

१म वर्ष	चैत्र, (संवत् १९९७)	३री संख्या

पूर्वपाणिनीयम्

श्री जगती प्रसाद भार्गव

महर्षि पाणिनि के नाम से प्रत्येक संस्कृत का विद्वान अच्छी तरह परिचित है। इनका बनाया हुआ अष्टाध्यायी नामक ग्रन्थ अत्यन्त छोटा होने पर भी इतना व्यापक है कि वेदों के समय से लेकर आज तक के संस्कृत साहित्य के प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति (Derivation) इस ग्रन्थ द्वारा की जा सकती है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त और एक काव्य इन महर्षि के नाम से ही प्रचलित है जिससे प्रमाणित होता है कि पाणिनि केवल शुष्क वैयाकरण ही नहीं किन्तु एक रसिक कवि भी थे[1]। हाल ही में इनके एक और ग्रन्थ का पता लगा है जिसके १२ पृष्ठ भूमिका सहित प्रकाशक महोदय ने हमारे पास नमूने के तौर पर भेजे हैं। ग्रन्थ का नाम 'पूर्वपाणिनीय' है। प्राप्तिस्थान—रसशाला औषधालय, गोंडल (काठियावाड़) है। यह ग्रन्थ २४ सूत्रों का है। प्रकाशक ने एक छोटा सा उपोद्घात भी दिया है। पाणिनि कृत ग्रन्थ तो पूरा छपा है, परन्तु उस पर जो भाष्य किया गया है उसके दो पृष्ठ ही हमको प्राप्त हुए हैं। उपोद्घात में प्रकाशक ने यह दर्शाया है कि :—

१—पाणिनि के कुछ और सूत्र थे जो प्रचलित अष्टाध्यायी में नहीं हैं। महाभाष्य के पढ़ने से भी यह सिद्ध होता है। दृष्टान्त के लिये देखिये—'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे' यह वार्त्तिक माना जाता है, परन्तु महाभाष्यकार इसको पाणिनि का लक्षण (सूत्र) कहते हैं। नागेश ने उद्योत में लिखा है कि यह पाणिनि के सूत्र का व्याख्यान रूप वार्त्तिक है। परन्तु इस आशय को प्रकट करने

१, स्वस्ति पाणिनये तस्मै यस्य रुद्रप्रसादतः।
आदौ व्याकरणं काव्यमनु जाम्बवती जयम् ॥
राजशेखरस्य सूक्तिमुक्तावल्याम्।
पाणिनिः पातालविजयं महाकाव्यं कर्त्ता इत्यलङ्कार व्याख्यायाम्,
(महाभाष्य नि० सा० संस्करण द्वितीय—उपोद्घात पृष्ठ १२)

वाला कोई सूत्र प्रचलित अष्टाध्यायी में नहीं है। इस से भी वर्तमान अष्टाध्यायी के अतिरिक्त अन्य सूत्रों का अस्तित्व प्रतीत होता है।

२—महाभाष्य के समय में जो अष्टाध्यायी थी आज की अष्टाध्यायी उस से कम है।

३—वामनजयादित्य (काशिका), सायणाचार्य (माधवीया धातुवृत्ति), दीक्षित (सिद्धान्त-कौमुदी) आदि के समय में जो महाभाष्य था उसमें और आज के महाभाष्य में बहुत अन्तर है। आजकल के महाभाष्य में बहुत कुछ घटाई बढ़ाई कर दी गई है। अब विचार यह करना है कि पूर्व-पाणिनीय के आविष्कारक की ये बातें कहां तक मान्य हो सकती हैं। इस में तो कोई सन्देह नहीं कि पाणिनीय व्याकरण के व्याख्यान रूप कुछ ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें शब्द को ब्रह्म माना गया है। ऐसे ग्रन्थों में 'वाक्यपदीय' का नाम लिया जा सकता है। महाभाष्य में भी यह भाव है। अब प्रश्न यह है कि इन ग्रन्थों के कर्त्ता जिन्होंने पाणिनीय व्याकरण की व्याख्या मात्र की है उन्होंने कहां से इस विषय को लाया जब कि प्रचलित अष्टाध्यायी में इस विषय का मूल ही कहीं नहीं है। इस प्रश्न का समाधान इस पूर्वपाणिनीय ग्रन्थ से होता है। मालूम होता है कि महाभाष्य के समय में यह ग्रन्थ प्रचलित था परन्तु वाक्यपदीय के समय में नहीं रहा होगा। महाभाष्य में कई स्थानों पर पूर्व सूत्रों का उल्लेख है (यद्यपि प्रदीप और विवरण में वहां पर सम्बन्धहीन अर्थ मिलता है), परन्तु भर्तृहरि आदि ग्रन्थकर्ता ऐसा उल्लेख अपने ग्रन्थ में कहीं नहीं करते हैं और शब्द-ब्रह्मवाद को आचार्य (पाणिनि) और शास्त्र (व्याकरण) का सिद्धान्त मानते हुए कहीं तो महाभाष्य का उद्धरण दे देते हैं और कहीं युक्ति से ही काम लेते हैं। एक स्थान पर महाभाष्य में पूर्वसूत्र का उल्लेख है और पूर्वसूत्र में वर्ण की अक्षर संज्ञा मानी गई है। यहां पर कैयट और नागेश ने व्याकरणान्तर कह कर अर्थ कर दिया है। यह अर्थ सङ्गत नहीं मालूम होता। फिर किसी व्याकरण का नाम भी नहीं दिया गया है। सम्भव है उनका अभिप्राय शाकटायन शाकल्य आदि किसी व्याकरण से हो। अब प्रश्न फिर यह होता है कि महर्षि पाणिनि इस विषय को क्यों छोड़ गये। एक और बात विचारणीय है कि पाणिनि और वार्त्तिककार ने अक्षर के अर्थ में वर्ण शब्द का प्रयोग किया है (७।४।५३)। तो किसी सूत्र में अक्षर की वर्णसंज्ञा होनी चाहिये थी नहीं तो पाणिनि के ही सूत्र के अनुसार वहां शब्दस्वरूप का ग्रहण होगा न कि अक्षर का। और यदि वहां प्रचलित अर्थ मानें तो वर्ण शब्द से ब्राह्मणादि वर्ण का भी ग्रहण हो जायगा और शुक्लादि वर्ण का भी ग्रहण होगा। जिस व्याकरण में वर्ण शब्द का प्रयोग अधिकतर अक्षर के अर्थ में हुआ है और जिसके महाभाष्यकार अक्षर को वर्णसंज्ञा करने वाले सूत्र का उल्लेख कर रहे हैं उसमें वर्ण की संज्ञा न की जाय यह भी एक बड़ा विचारार्ह प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर भी इस पूर्वपाणिनीय ग्रन्थ में स्पष्टतया मिल जाता है। इसका २२वां सूत्र अक्षरों की वर्ण संज्ञा करता है। ये युक्तियां पूर्वपाणिनीय के अस्तित्व को प्रमाणित करती हैं। पूर्वपाणिनीय की भूमिका में यह भली भांति दिखलाया गया है कि कुछ और भी

सूत्र पाणिनि के थे जो प्रचलित अष्टाध्यायी में नहीं हैं और जिनका सम्बन्ध उनके व्याकरण से था। साथ ही यह भी प्रमाणित किया गया है कि प्रचलित महाभाष्य में भी कई अंश प्रक्षिप्त हैं और अनेक स्थानों पर कुछ अंश निकाल दिये गए हैं। यह सब तो भूमिका के पढ़ने से विदित हो जायगा परन्तु इस सम्बन्ध में एक बात अवश्य उल्लेखनीय है। महाभाष्यकार वेदों को नित्य मानते हैं (नित्यानिच्छंदांसि नहिच्छंदांसि क्रियन्ते) (४।३।१०) परन्तु इस के ही साथ कहा गया है, कि 'यद्यप्यर्थो नित्यः यातु वर्णानुपूर्वी साऽनित्या' अर्थात् वेद बनाये नहीं जाते, वेद नित्य हैं। यद्यपि अर्थ नित्य है, जो वर्णानुपूर्वी है वह अनित्य है। यहां पर अन्य शास्त्रों के सिद्धान्तों को न दे कर महाभाष्यकार के शब्दों में ही इसका विरोध मिलता है। 'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे'—महाभाष्य में पाणिनि के इस सूत्र का अर्थ यह है कि शब्द, अर्थ और इनका सम्बन्ध नित्य है अर्थात् जहां शब्द है वहां अर्थ भी है और जहां अर्थ है वहां शब्द ; फिर इन शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भी नित्य है। जब अर्थ बिना शब्द के और शब्द बिना अर्थ के रह ही नहीं सकते ऐसा भाष्यकार का सिद्धान्त है और यह सिद्धान्त आचार्य पाणिनि के मतानुसार है तो एक अर्थ ही नित्य और वर्णानुपूर्वी (शब्द) अनित्य है ऐसा महाभाष्य में क्यों है। इस से स्पष्ट है कि महाभाष्य स्थान स्थान में प्रक्षिप्त है।

पूर्वपाणिनीय के अस्तित्व और प्रामाणित्व सिद्ध करने के लिये पांच वर्तमान महाभाष्य में पूर्वापर विरोध दिखाने के लिये चार और अनेक स्थानों पर प्रक्षिप्त अंश दिखाने के लिये तीन युक्तियां दी गई हैं, यह देखने योग्य है। पूर्वपाणिनीय के प्रथम सूत्र के भाष्य का नमूना भी साथ में दिया गया है परन्तु भाष्यकार का नाम आदि कुछ नहीं दिया गया है। इस भाष्य की शैली पुरानी है। इसकी भूमिका में भाष्यकार ने कैयट का नाम लिखा है परन्तु नागेश आदि किसी टीकाकार का नाम कहीं नहीं है। इस से अनुमान किया जा सकता है कि कैयट के समय के बाद इस भाष्य की रचना हुई होगी। भाष्यकार ने इस बात का दुःख प्रगट किया है कि कैयट आदि ने कई शंकास्थानों में न शंका उठाई है और न समाधान ही किया है और यह भी बताया है कि कैयटादि के समय में यह ग्रन्थ (पूर्वपाणिनीय) नहीं था। अब इस भाष्य में इन सब शङ्काओं का उल्लेख और समाधान बताया गया है। भाष्य में पहिले शब्द, लक्षण फिर वैशेषिक और सांख्य के शब्द लक्षण का व्याकरण के शब्द लक्षण से भेद और शब्दत्व जाति और द्रव्य को समझाकर शब्द का व्यापकत्व, शब्द और ब्रह्म की एकता बताई है। एक उपनिषद् का मन्त्र एक हरिकारिका और एक और श्लोक इस मत की पुष्टि के लिये दिया है। फिर यह बताया गया है कि वेद में शब्दशास्त्र है और कई आचार्यों ने समय समय पर उसी को विस्तृत रूप से समझाया है। इसी लिये आचार्यों के बनाए शब्दशास्त्र शब्दशासन न होकर शब्दानुशासन हैं। पाणिनीय व्याकरण भी एक शब्दानुशासन है।

पूर्वपाणिनीय की भूमिका में महाभाष्य में किस प्रकार प्रक्षेप आ गए हैं इसका एक संक्षिप्त इतिहास दिया गया है जिसके विषय में हम फिर कभी निवेदन करेंगे।

इक्ष्वाकु-वंश का हिन्दुस्तान में प्रसार

कुमारी पद्मा मिश्र एम. ए.

(गत अङ्क के बाद)

पर राम पडित अपनी पादुका देकर भाई बहन के साथ उन्हें लौटा देते हैं। बनवास के बारह वर्ष बीत जाने पर राम लौटते हैं जब सीता से उनका विवाह होता है और वे सिंहासन पर बैठते हैं। रामायण से परिचित प्रत्येक व्यक्ति के लिये दोनों की समानता प्रत्यक्ष ही है। जातक में इक्ष्वाकु कुल का कहीं नाम नहीं पाया जाता, पर घटना और पात्रों की इतनी समानता के आधार पर यह अनुमान युक्ति सगत लगता है कि इस जातक के दशरथ इक्ष्वाकु वश के ही रहे होंगे। इन तीनों कहानियों में भाई बहन के साथ विवाह-सम्बन्ध की घटना पाई जाती है। यह केवल पवित्रता के विचार से ही नहीं होता था, सम्भव है इनमें ऐसी प्रथा रही होगी। शुद्धोदन, गौतम और राम को तो वश पवित्रता के लिये बहन से विवाह करने की कोई आवश्यकता न थी। इसी से इनके आर्य होने में सन्देह होता है। आर्यों में यह प्रथा कभी प्रचलित न थी। दक्षिण भारत में आजकल भी मामा के लड़के के साथ कन्या का विवाह हो जाता है। दूसरी बात इन कथाओं से यह प्रतीत होती है कि इस वश के क्षत्रिय हिमालय की तराई तक पहुँच गये थे। कुछ समय बाद ये चारों ओर फैल गये होंगे ऐसा पुराणों और महाभारत के आधार पर अनुमान होता है। इस अनुमान की पुष्टि ऐतिहासिक ग्रन्थों द्वारा कहां तक हो सकती है इसकी विवेचना आगे की जायगी।

पहले पुराणों का ही कथन दिया जा रहा है। सूर्य के पुत्र मनु थे उनके ९ पुत्र और एक कन्या इडा नाम की हुई। प्रत्येक ने अपने अपने कुल की अलग २ नींव डाली। इन पुत्रों में मनु ने सारा देश बांट दिया था। इनमें से सबसे बड़े इक्ष्वाकु थे जिन्हें मध्य देश[१] मिला था और वे सूर्यवंश के प्रवर्तक हुये थे।[२] दूसरा सुप्रसिद्ध वश इडा का था पर उसके विभिन्न विभागों का पौरव यादव आदि ने अपने अलग अलग नाम रख लिये और उन्होंने मूल नाम को बिलकुल ही भुला दिया था तथा वे एक दूसरे से अलग भी हो गये थे, इसी से उनका गौरव और प्रभाव इक्ष्वाकु कुल के बराबर नहीं हो पाया था। विविध पुराणों तथा महाभारत में इक्ष्वाकु के पुत्रों की संख्या भिन्न भिन्न दी गई है। महाभारत के अनुशासन पर्व[३] में इनके सौ पुत्र बताये गये हैं जिनमें से दशाश्व नाम के राजकुमार ने माहिष्मती में राज्य स्थापित

१, हरिवंश ६२४। मत्स्य पुराण १२, १५।

२, पद्म पुराण, सृष्टिखण्ड, ८, १२०।

३, महाभारत १३, २, ५—६।

की थी। नर्मदा के तट पर स्थित आधुनिक मांधाता का ही प्राचीन नाम माहिष्मती था, यह अब विद्वानों ने सिद्ध कर दिया है।१ इनके ५० पुत्र उत्तरापथ में और ४८ दक्षिणापथ में राज्य करते थे ऐसा बताया गया है।२ कूर्म३ व लिङ्ग४ इक्ष्वाकु के सौ और विकुक्षि के १५ पुत्र मानते हैं। इनमें से कुछ लोगों ने मेरु के उत्तर में और कुछ ने मेरु के दक्षिण५ में राज्य किया था। पुत्रों की न्यूनाधिक संख्या से हमें यहां कुछ मतलब नहीं है। मुख्य बात ध्यान देने की यह है कि इस वंश के राजा दक्षिण की ओर गये थे और वहां इन्होंने राज्य स्थापित की थी। यह एक परम्परागत ऐतिहासिक तथ्य है जिसे पुराणों और महाभारत ने स्थान दिया है। इक्ष्वाकु ने भी अश्वमेध यज्ञ किया था। इनके तीन पुत्र प्रसिद्ध थे, विकुक्षि, निमि और दण्डक। विकुक्षि ने अयोध्या को अपनी राजधानी बनाई और उनके उत्तराधिकारी वहीं राज्य करने लगे। विष्णुपुराण (४, २, ९-१२) में शशाद के पुत्र पुरंजय का उपनाम ककुत्स्थ लिखा है। इसकी कथा यों है—देवासुर संग्राम में हार कर देवताओं ने पुरंजय की सहायता मांगी। इन्होंने इन्द्र को बैल बनाया और उस पर चढ़ कर असुरों को मार भगाया। इसी से इनका नाम ककुत्स्थ पड़ गया और इनके वंशज काकुत्स्थ कहलाये। इक्ष्वाकु वंश के एक राजा ने अनार्य जातियों के साथ युद्ध में आर्यों को सहायता दी होगी यह इससे प्रकट होता है। अयोध्या में स्थित इसी वंश में आगे चलकर अम्बरीष भगीरथ, सगर, मान्धाता आदि अनेक प्रतापी राजा हुये जिनका नाम स्थान स्थान पर दानी, शूर-वीर और सहृदय राजाओं की सूचियों में मिलता है६। प्रत्येक सूची में इस वंश के राजाओं की संख्या दूसरे किसी एक वंश के राजाओं से अधिक ही है। यह उत्तर भारत में इनकी *ख्याति* का द्योतक है।

निमि ने विदेह में७ अपना राज्य स्थापित किया८ था। इनके उत्तराधिकारी का नाम मिथि जनक था, इससे राज्य और राजधानी का नाम मिथिला हो गया। तीसरे पुत्र दण्ड ने विन्ध्य की चोटियों के बीच मधुमत्त नामक नगर बसाया था और उसने आस पास के प्रदेशों पर अधिकार कर लिया९ था इसीसे इस वन का नाम दण्डक पड़ गया। यह प्रदेश भी इक्ष्वाकु वंश के राजाओं के आधीन था। इसी वंश के एक राजा श्रावस्ती ने श्रावस्ती का निर्माण किया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तर भारत

१, कार्माइकल लेकचर्स, १९,१८ पृ० ४५।

२, वायु पु० ८८, ८—११। हरिवंश ६६१—६६४।

३, विष्णु पु०, ४, २, ३—४।

४, कूर्म० १, २०, १०—११।

५, लिङ्ग पु० १, ६५, ११—२२। पद्म पु० सृष्टिखण्ड, ८, १२०—१२२।

६, मत्स्य पु० १२, २६—२८।

७, महाभारत पर्व १२, २९ अध्याय।

८, Pargiter Auci ent Indian Historical Tradition P, 257.

९, विष्णु पु० ४, ५, ४ और १२। वायु पु० ८९, ४—६।

में इनका अधिकार पुराणों तथा महाभारत के अनुसार कोशल, विदेह और दण्डक में था। कई नगरों के निर्माण का श्रेय भी इन्हें दिया जाता है। दक्षिण भारत में इनके प्रवेश के बारे में महाभारत से दृष्टान्त का उल्लेख हो चुका है। बात यह है कि सिंहासन का अधिकारी तो एक ही कुमार होता था, अन्य राजकुमार अपने भाग्य की परीक्षा लेने के लिये चले जाते थे और वे बहुधा अपने लिये कोई न कोई प्रदेश जीत ही लेते थे, निमि और दण्ड का उदाहरण तो दिया ही गया है। अन्य राजकुमारों ने भी इन्हीं का अनुसरण किया था। अयोध्या के राजवंश में आगे चल कर कल्माषपाद हुये जिनके पुत्र अश्मक ने भी एक राज्य स्थापित किया था। महाभारत१ में इनके पौदन्य नामक नगर को बसाने का उल्लेख है। यहां तक तो पुराणों और महाभारत के अनुसार इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं के राज्य का विस्तार दिखाया गया है। अब यह देखना है कि ऐतिहासिक ग्रन्थों और प्राचीन लेखादि से इसकी पुष्टि हो सकती है अथवा नहीं। पहले अश्मक के राज्य को ही लीजिये। इनका बसाया हुआ पौदन्य और पाली ग्रन्थों का पोदन या पोतली एक ही है अथवा भिन्न भिन्न, इस प्रश्न पर विचार करना है। पाली के धर्मग्रन्थों में अस्सक राज्य का कई स्थानों में उल्लेख है। अस्सक संस्कृत के अश्मक का पाली रूप है। यह अस्सक दक्षिण में गोदावरी के किनारे था और मूलक इसके उत्तर में था, यह हमें बावरी२ की कथा से ज्ञात होता है। इससे भी दक्षिण की ओर जग्गय्यपेट नामक स्थान था और गन्टूर ज़िले के नागार्जुनी कुण्ड३ में मिले प्राचीन प्राकृत के लेखों में इक्ष्वाकुवंश के राजाओं का वर्णन है। इन लेखों को डा० बर्जेस ईसा की तीसरी शताब्दी का बताते हैं। इन लेखों से प्रतीत होता है कि समुद्र तक इक्ष्वाकु क्षत्रिय पहुँच गये थे, फिर यह असम्भव नहीं हो सकता कि अस्सक और मूलक में भी उन्हीं का राज्य रहा हो। यह अनुमान तब और भी पुष्ट हो जाता है जब हमें अश्मक और मूलक नाम के दो इक्ष्वाकु राजाओं के नाम पुराणों में भी मिलते हैं। दूर दूर तक जाकर राज्य स्थापित करने की इनकी प्रवृत्ति से भी हम परिचित हैं और महाभारत में पौदन्य का निर्माता अश्मक तो बताया ही गया है। पौदन्य और पोदन में अन्तर कुछ नहीं है। अश्मक का स्थापित किया हुआ राज्य ही अस्सक नाम से प्रसिद्ध हुआ होगा, यह कथन कोई कल्पना हो पर अवलम्बित नहीं है, यह इससे प्रकट है। सम्भव है इनके पुत्र के नाम पर मूलक का नामकरण हुआ हो। मूलक की राजधानी पैठन या पतिट्ठान थी। कुछ समय बाद

१, पद्म पु. सृष्टिखंड, ३४, १४—१७।
रामायण ७, ७९, १५—१६, ७, ८१, १८—१९।

१, महाभारत १, १७९, ४७।

३. Carmichæl lectures 1918, p. 19.

४. Indian Antiquary, Vol. 20, p. 2. ff.

मूलक अस्सक में ही मिला लिया गया था१। भारत के सोलह महाजनपदों में अस्सक की भी गणना थी। नागार्जुनी-कुण्ड के समीपवर्ती प्रदेशों के इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं का उपर्युक्त लेखों में अच्छा वर्णन मिलता है। प्रत्येक धर्म के प्रति उदारता इन ऐक्ष्वाक राजाओं की एक विशेषता थी। राज-परिवार के व्यक्ति भी अपनी इच्छानुसार किसी धर्म का अनुसरण कर सकते थे। राजा शान्तिमूल वैदिक धर्म को मानते थे तो उनकी बहन थीं बुद्ध की उपासिका। वे अग्निहोत्र, वाजपेय और अग्निष्टोम आदि यज्ञों को स्वर्ग-प्राप्ति का साधन समझते थे तो उनकी बहन बौद्धमठ बनवाने और बौद्धभिक्षुओं की सहायता देने को ही निर्वाण प्राप्ति का उपाय समझती थीं। इनके साथ राजपरिवार की और भी कितनी ही स्त्रियों के नाम वहां के स्तम्भ आदि पर खुदे हुये मिले हैं। राजा शान्तिमूल के पुत्र श्री वीरपुरुष दत्त भी महात्मा बुद्ध के अनुयायी थे। इनकी एक रानी इनकी फूफी की लड़की थीं, और दूसरी उज्जैन की राजकुमारी थीं। उज्जैन के राजवंश से इनका विवाह-सम्बन्ध स्थापित होने के कारण इस परिवार के महत्त्व और सम्पन्न की बात पाई जाती है।

पश्चिम में भी इक्ष्वाकु वंश की एक शाखा पहुंची थी। अयोध्या के राजवंश में मरु नामक राजा हुये२ थे। जिनके वंशज भी मरु कहलाये होंगे और उन्ही के कारण उस प्रदेश का नाम मरु या मरु देश पड़ गया होगा ऐसी सम्भावना है। मरु को पुरुवंश के देवापि के साथ साथ पुराणों में 'क्षत्रप्रवर्तक'. कहा है इससे इनके महत्त्व का पता चलता है। अश्मक और मूलक की भांति ये भी अयोध्या से चले गये होंगे और इनके वंशजों ने पश्चिम भारत में राज्य स्थापित किया होगा। मत्स्य३ और वायु४पुराण में मत नाम मिलता है। पर्जिटर५ के कथनानुसार मरु नाम ही ठीक है क्योंकि रामायण के किसी भी संस्करण में मत नहीं है प्रत्येक स्थान में मरु ही है। इनके अधिकृत प्रदेश का नाम भी अस्सक की भांति ही इनके ऊपर मरु पड़ गया होगा। तैत्तिरीयारण्यक (५, १, १) में मरु की तुलना उत्कर से की गई है। उत्कर उस स्थान को कहते हैं जहां यज्ञ के अवशेष फेंके जाते हैं। तैत्तिरीयारण्यक में इसे कुरुक्षेत्र का उत्कर बताते हैं इसलिये मरु उसकी अपेक्षा ऊसर और रेतीला रहा होगा। राजपूताने के सम्बन्ध में यह बिलकुल ठीक है। महाभारत६ में मरु भूमि का नाम रोहीतक के बाद नकुल के पश्चिम दिशा के विजयवर्णन में मिलता है इसलिये मरु पश्चिम में ही था। मरु के वंशज दक्षिण-पश्चिम की ओर बढ़ते गये। जो प्रदेश उनके अधिकार में आये वे भी मरु कहलाये। जोधपुर की पूर्वी सीमा पर सांभर ताल के उत्तर में मरोट या मरोठ नामक एक तहसील है७। पुत्र का

---

१. Carmichael lectures 1918, p. 54.

२, रामायण, १, ७०, ४१,
२, ११०, ३२,

३, मत्स्य २०२, ५६

४, वायु ८८, ४२७

५, Pargiter, Ancient Indian Historical Traditionp. 94..

६, महाभारत २, ३२, ४-५

७, Imperial Gazeteer of India Atlas,

अपभ्रंश उत हो जाता है इससे मरोठ का शुद्ध रूप मरपुत्र होगा। इसे किसी मरपुत्र ने बसाया होगा, इसलिये इसका नाम मरपुत्र रखा गया था। पश्चिम में मर-परिवार के अधिकार का चिह्नस्वरूप यह नाम अभी तक वर्तमान है। इस प्रकार दक्षिण तथा पश्चिम में इक्ष्वाकु-जाति का आधिपत्य था, यह प्रतीत होता है।

अयोध्या में इक्ष्वाकु-वंश की जो शाखा राज्य करती थी, उसके बारे में पुराणों का उल्लेख हो चुका है। जातकों तथा अन्य पाली ग्रन्थों से भी ज्ञात होता है कि यह वंश अत्यन्त गौरव-पूर्ण था। पाली के अधिकतर सूत्त और जातक बुद्ध के जीवनकाल में या उनके निर्वाण प्राप्त करने के कुछ ही समय बाद लिपिबद्ध किये गये थे। इसलिये सदियों पीछे लिखे गये पुराणों की अपेक्षा ऐतिहासिक दृष्टि से इन पर अधिक विश्वास किया जा सकता है। इन ग्रन्थों में इक्ष्वाकु सम्बन्धी जो कथायें हैं उनका वर्णन ऊपर हो चुका है उनमें से काल्पनिक अंश निकाल देने पर भी यह तो प्रतीत होता ही है कि इक्ष्वाकु जाति अत्यन्त प्राचीन थी और उत्तर भारत में फैली हुई थी। बुद्ध के समकालीन जिन चार राजाओं का वर्णन इन पुस्तकों में मिलता है उनमें कोशल के राजा पसेनादि भी हैं। बुद्ध ने अपने जीवन का बहुत सा भाग कोशल की राजधानी श्रावस्ती में व्यतीत किया था इसलिये पसेनादि और श्रावस्ती का इन ग्रन्थों में जगह जगह पर उल्लेख है। अयोध्या के राजवंश में पुराणों के अनुसार प्रसेनजित् का नाम मिलता है, उसी का पाली रूप पसेनादि है, इसमें कुछ सन्देह नहीं। इनकी राजधानी श्रावस्ती थी। वहाँ से छठवें या सातवें पड़ाव पर साकेत था[१], जो कोशल का दूसरा बड़ा नगर था। पसेनादि काशी-कोशल के राजा थे और शाक्य भी इनकी आधीनता स्वीकार कर चुके थे। इनकी पुत्री वाजिरा थीं जिनका विवाह मगध के अजातशत्रु से हुआ था[२]। इनके युवराज विड्डभ एक शाक्य कुमारी से उत्पन्न हुए थे। विड्डभ ने राजा होकर शाक्यों पर चढ़ाई की और उन्हें बुरी तरह हराया[३]। इस प्रकार कोशल पर इक्ष्वाकु-वंश के अधिकार की पुष्टि ऐतिहासिक ग्रन्थों द्वारा भी होती है।

---

१ Sacred Books of the Buddhists Vol. 5, p. 105

२, „ Vol. 6. p 58

३, Carmichael lectures 1918, 66-67.

माधुकरी

भिक्षु श्रीमत्स्वामी श्री शंकर तीर्थ जी महाराज

१। ॐकारः

१। ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव॥ सोऽयमात्माध्यक्षरमोंकारोऽधिमात्रम्। पादा मात्रा, मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति॥ जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राऽऽप्तेरादिमत्त्वाद्वाप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिश्च भवति य एवं वेद॥ स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति, नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद॥ सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा। मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वम पीतिश्च भवति, य एवं वेद॥ अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपंचोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद य एवं वेद॥

[माण्डूक्योपनिषद्]

अर्थ

ॐ यह अक्षर ही सब चराचर है। इसका व्याख्यान जानने योग्य है। यही अक्षर भूत (गतव अतीत), वर्तमान तथा भविष्य (आगामो) में निश्चय है। तीन कालों के आगे और भी जो कुछ अव्यक्त है वह सब अवश्य ही ॐ ही है। यह आत्मा (ब्रह्म) ॐ इस अक्षर के ऊपर है, और ॐ मात्राओं के ऊपर है। आत्मा की (वैश्वानर आदि) अवस्थाएं ॐ की मात्राएं हैं, और ॐ की मात्राएं आत्मा की अवस्थाएं हैं। अ-उ-म् ये ॐ की मात्राएं हैं। वैश्वानर जिसका स्थान जागरित है, वह पहिली मात्रा तथा पहिली अवस्था है। यह या तो "आप्तेः" से है जिसका अर्थ व्याप्त करने का है (जिस प्रकार यह सारा जगत् वैश्वानर से व्याप्त है उसी प्रकार अ इस अक्षर से सब अक्षर व्याप्त हैं) अथवा आदि होने से है (जिस प्रकार अ पहला अक्षर है उसी प्रकार वैश्वानर पहिली अवस्था है)। जो मनुष्य यह जानता है उसकी सब कामनाएं सिद्ध होती हैं और वह सब मनुष्यों में मुख्य होता है। तैजस जिसका स्थान स्वप्न है वह दूसरी मात्रा तथा दूसरी अवस्था है। यह या तो उत्कर्ष से है (जैसे उकार अकार से ऊपर है ऐसा ही तैजस वैश्वानर से ऊपर है) अथवा उभयत्व अर्थात् मध्य से है (क्योंकि अ तथा म् के मध्य में उकार है ऐसे ही वैश्वानर तथा प्राज्ञ के मध्य में तैजस है)। जो ऐसा जानता है उसकी ज्ञान की परंपरा बढ़ती है। वह (शत्रु तथा मित्र से) समान हो जाता है और उसके कुल में कोई ऐसा सन्तान व शिष्य नहीं उत्पन्न होता जो ब्रह्म जाननेवाला न हो।

प्राज्ञ जिसका स्थान सुषुप्ति है वह तीसरी मात्रा तथा तीसरी अवस्था है। वह या तो "मिति" (नापना इस अर्थ) से है (क्योंकि तैजस तथा विश्व जब नाश तथा उत्पत्ति की अवस्था को प्राप्त होते हैं तब वे प्राज्ञ से नापे जाते हैं जैसे कि प्रस्थ से धान्य नापा जाता है) अथवा इस कारण कि यह एक ही स्वभाव का है (जिस प्रकार ॐ का उच्चारण करने में अ तथा उ अन्त में म् से मिल जाते हैं उसी प्रकार विश्व तथा तैजस प्राज्ञ से मिल जाते हैं) । जो ऐसा जानता है वह सृष्टिकर्ता के रूप से मिल जाता है। वह ॐ जिसकी मात्रा नहीं है वह ब्रह्म की चतुर्थ अवस्था है जो दृष्टि के अगोचर है, जिसमें सब विषय शान्त हो जाते हैं, जो आनन्द से भरी हुई है, और जो द्वैतभाव से रहित है। वह ॐ जिसका इस प्रकार ध्यान किया जाता है वह आत्मा (ब्रह्म) ही है। जो ऐसा जानता है, वह आत्मा से आत्मा ही में प्रवेश करता है ॥ [माण्डूक्योपनिषद्]

२। एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारस्तस्मात् विद्वानेनेनैवायतने नैकतर मन्वेति। स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स ते नैव सम्वेदित स्तूर्ण मेव जगत्यामभिसम्पद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमा न मनु भवति। अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिः सन्नीयते। स सोमलोक सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते। यः पुनरेव त्रिमात्रेण एव ॐ इत्यनेन एवाक्षरेण पर पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं ह्वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः। स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते ॥ [प्रश्नोपनिषद्]

अर्थ

हे सत्यकाम ॐकार ही पर ब्रह्म तथा अपर ब्रह्म है। इसलिये विद्वान् मनुष्य इसी के अवलम्बन से दोनों में से एक का अनुगमन करता है। यदि वह विद्वान् (अ) एक मात्रा का ध्यान करे तो उसी से ज्ञान युक्त होकर वह शीघ्र भूलोक में उत्पन्न होता है। उसको ऋग्वेद के मन्त्र मनुष्य लोक में ले जाते हैं, वहां तपस्या ब्रह्मचर्य तथा श्रद्धा से युक्त होकर वह महिमा का अनुभव करता है। यदि वह अपने मन में दो मात्राओं का ध्यान करे तो यजुर्वेद के मन्त्र उसे आकाश में ले जाते हैं, वह चन्द्रलोक को प्राप्त होता है, और चन्द्रलोक में ऐश्वर्य का भोग करके पुनः मनुष्यलोक में लौट आता है। परन्तु जो मनुष्य ॐ इस अक्षर की तीन मात्राओं से परमपुरुष का ध्यान करता है, वह तेजो रूप सूर्यलोक में प्राप्त होता है। जिस प्रकार सूर्य कञ्चुकी से मुक्त हो जाता है वैसे ही वह मनुष्य पाप से मुक्त हो जाता है। सामवेद के मन्त्रों से वह ब्रह्मलोक में प्राप्त होता है। वहां परम से भी परम तथा सर्व-व्यापी आत्मा को देखता है। [प्रश्नोपनिषद्]

३। द्वेवाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं चाथ, यन्मूर्तं तत् सत्यं, यदमूर्तं तत्सत्यं तद्ब्रह्म, यद्ब्रह्म

तज्ज्योतिर्यज्ज्योतिः स आदित्यः स वा ओमित्येतदात्मा स त्रेधात्मानं व्यकुरुत ओमिति तिस्रोमात्रा एताभिः सर्वमिदमोतं प्रोतं चैवास्मिन्नित्येव ह्याहैतद्वा आदित्य ओमित्येवन्ध्यायन् स्वात्मानं युंजीत ॥

[मैत्रायणोपनिषद्]

अर्थ

ब्रह्म के दो रूप हैं मूर्त तथा अमूर्त। जो मूर्त है वह असत्य है। जो अमूर्त है वह सत्य है, वही ब्रह्म है। जो ब्रह्म है वही ज्योति है, वही सूर्य है, वही ॐ यह आत्मा है। इस आत्मा ने अपना विभाग तीन प्रकार से किया है। ॐ इसमें तीन मात्राएं है, इन्हीं तीन मात्राओं से यह सारा जगत् ताने बाने के समान व्याप्त है। यही सूर्य ॐ है, इस प्रकार ध्यान करके अपनी आत्मा को लगावे ॥ [मैत्रायणोपनिषद्]

४। ओमित्यात्मानं युंजीत एतद्वै महोपनिषदं देवानां गुह्यम् ॥

[तैत्तिरीयारण्यक प्रपा० १० अनु० ६३]

अर्थ

ॐ इस प्रकार आत्मा का ध्यान करे। यह सब से बड़ा तथा गोपनीय देवताओं का उपनिषद् है ॥ [तै० आ०]

अकारो विष्णुरुद्दिष्ट उकारस्तु महेश्वरः।
मकारस्तु स्मृतो ब्रह्मा प्रणवस्तु त्रयात्मकः ॥
अकारेण जगत् त्राता संहर्ता स्यादुकारतः।
मकारेण जगत्स्रष्टा प्रणवार्थ उदाहृतः ॥

५। त्र्यक्षरात्मकतारेण परेशः प्रतिपाद्यते।
पाता हर्ता च संस्रष्टा यो देवः प्रकृतेः परः ॥ [महानिर्वाणतंत्रम्]

अर्थ

अकार विष्णु है, उकार महेश्वर है, मकार ब्रह्मा है। इन तीनो से मिलकर प्रणव बनता है। अकार से जगत् की रक्षा करने वाला, उकार से संहार करने वाला, तथा मकार से सृष्टि करने वाला जानना चाहिये। यही प्रणव का अर्थ है।

अ, उ, म् तीन अक्षर वाले प्रणव से परमेश्वर का प्रतिपादन होता है, जो सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा नाश करने वाला है और प्रकृति से परे है ॥ [महानिर्वाण तन्त्र]

६। प्राक्कूले पर्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः।
प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्तत ॐकारमर्हति ॥ [मनुः]

अर्थ

जलाशय के किनारे पूर्व की ओर मुख करके बैठ कर, कुश के पवित्र को हाथ में लेकर तीन प्राणायामों से अपने को पवित्र करे, तब मनुष्य ॐकार की उपासना के योग्य होता है ।

७ । त्रिमात्रस्तु प्रयोक्तव्यः सर्वारंभेषु कर्मसु ।
तिस्रः सार्धास्तु कर्तव्या मात्रा स्तत्रार्थ चिन्तकैः ॥
देवताध्यान काले तुप्लुतं कुर्यान्नि सशयः ।
तैलधारावदच्छिन्नं दीर्घघण्टा निनाद वत् ॥
जपेन दहते पापं प्राणायामैस्तथा मलम् ।
ध्यानेन जन्मनिर्यातं धारणाभिश्च मुच्यते ॥
यथाऽमृतेन तृप्तस्य पयसा किं प्रयोजनम् ।
यथोंकार विधिज्ञस्य ज्ञान तृप्तिर्न विद्यते ॥
सर्व मन्त्र प्रयोगेषु ओमित्यादौ प्रयुज्यते ।
तेन सम्परिपूर्णानि यथोक्तानि भवन्ति हि ॥
यन्न्यूनमतिरिक्तं च यच्छिद्र यद यज्ञियम् ।
यदमेध्यमशुद्धं च यातयामं च यद्भवेत् ।
तत्तदोंकारयुक्तेन मंत्रेणाविकलं भवेत् ॥ [याज्ञवल्क्यः]

—सब कर्मों के आरम्भ में तीन मात्रा वाले ॐकार का प्रयोग करना चाहिये, परन्तु अर्थ जानने वाले लोगों को वहां पर ३॥ मात्रा वाले ॐ का प्रयोग करना चाहिये । देवता को ध्यान करने के समय तेल की धारा के समान अच्छिन्न तथा बड़े घंटे के शब्द के समान प्लुत उच्चारण करना चाहिये ॥

ॐकार का जप करने से पाप दग्ध होता है । प्राणायाम करने से मल नष्ट होता है । ध्यान करने से मनुष्य आवागमन से छूट जाता है । धारण करने से मुक्त हो जाता है । यदि कोई मनुष्य अमृतपान से तृप्त हो जावे तो उसे दुग्धपान का कोई प्रयोजन नहीं रहता है, ऐसे ही जो मनुष्य ॐकार की विधि जानता है उसकी ज्ञानतृप्ति का अन्त नहीं होता है । सब मंत्रों के प्रयोगों में ॐ यह अक्षर आदि में लगाया जाता है, इसके लगाने से सब परिपूर्ण तथा यथोक्त फल देने वाले हो जाते हैं । कर्म करने में जो कुछ न्यून अथवा अधिक, दोषयुक्त अथवा यज्ञ के अयोग्य, अपवित्र अथवा अशुद्ध अथवा अग्राह्य हो, वह सब ॐकार सहित मंत्र पढ़ने से परिपूर्ण हो जाता है ॥ [याज्ञवल्क्यः]

८ । अपि वा प्रणवं त्रिरन्तर्जले पठन् सर्वस्मात् पापात्प्रमुच्यते ॥ [बौधायनः]

प्रणव को तीन बार जल के भीतर जपने से मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाता है ॥

९। प्रणवो हि परं तत्त्वं त्रिदेवं त्रिगुणात्मकम्।
त्रिदेवत्वं त्रिधामं च त्रिप्रज्ञं त्रिवर्गस्थितम्॥
त्रिमात्रं च त्रिकालं च त्रिलिंगं कवयो विदुः।
सर्वमेतत् त्रिरूपेण व्याप्तं तु प्रणवेन तु॥
गायत्री प्रकृतिर्ज्ञेया ॐकारः पुरुषः स्मृतः।
ताभ्यामुभय संयोगाजगत्सर्वं प्रवर्तते॥ [बृहत्पाराशरसंहिता]

प्रणव परम तत्त्व है। तीन देवताओं का स्वरूप है। तीन गुणों का स्वरूप है। तीन धामवाला है। तीन प्रकार की प्रज्ञा युक्त है। तीन प्रकार से स्थित है। तीन प्रकार का परिणाम है। तीन प्रकार का काल है। तीन प्रकार का लिंग है। प्रणव ने तीन रूपों से इस सारे जगत् को व्याप्त किया है। गायत्री को प्रकृति जानना चाहिये, तथा प्रणव को परम पुरुष जानना चाहिये। इन दोनों के संयोग से यह सारा जगत् प्रवृत्त होता है।

१०। ॐकार पूर्वं हि योगोपासनं यानि नित्यानि पुण्यतमानि कर्माणि दानयज्ञतपः स्वाध्याय-जप ध्यान सन्ध्योपासन प्राणायाम होमदैवपित्र्यमन्त्रोच्चार मङ्गलारम्भादीनि यदान्यत्किंचिच्छ्रेयस्करं तत्सर्वं प्रणवमुच्चार्य-प्रवर्तयेत् समापयेच्च॥ [छन्दोगपरिशिष्टम्]

ॐकार का पहले उच्चारण करके योग की उपासना होती है। जो नित्य पुण्य के कर्म, दान, यज्ञ, तप, वेदपाठ, जप, ध्यान, सन्ध्योपासन, प्राणायाम, होम, दैवकर्म, पितृकर्म, मङ्गलारम्भ आदि हैं तथा और भी जो कुछ कल्याणसाधन कर्म हैं उन सब का आरम्भ तथा समाप्ति प्रणव का उच्चारण करके करना चाहिये॥

११। यदोंकारमकृत्वा तु किंचिदारभ्यते तद्वज्रं भवति तस्माद् वज्रभयाद्भीत ॐकारपूर्व-मारभेत्॥ [छान्दोगगृह्यपरिशिष्टम्]

ॐकार कहे बिना जो कुछ आरंभ किया जाता है वह वज्र हो जाता है, इसलिये वज्र के भय से ॐकार पहले कहकर मंत्रों का आरंभ करना चाहिये॥

१२। त्रयीं तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपिसुरा,
नकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्णविकृति।
तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः,
समस्तव्यस्तं त्वां शरणद गृणात्योमिति पदम्॥ [पुष्पदन्तः]

हे शरण देने वाले! ॐ यह अक्षर जो अ उ म् का बना हुआ है समस्त अर्थात् सर्वस्वरूप से व्यापक तथा व्यस्त अर्थात् खण्डरूप से व्याप्त होकर तेरी ही स्तुति करता है। यह क्रम से, तीन वेदों को, तीन स्वरों को, तीन भुवनों को, तथा तीन देवताओं को बतलाता है। अर्थात् अकार से ऋग्वेद, उदात्त-

स्वर, स्वर्गलोक, तथा ब्रह्मा का बोध होता है ; उकार से यजुर्वेद, अनुदात्त स्वर, मर्त्यलोक, तथा विष्णु का बोध होता है ; मकार से सामवेद, स्वरित स्वर, पाताल लोक, तथा महादेव का बोध होता है। यही ॐकार सूक्ष्मध्वनि से तेरे निर्विकार चतुर्थस्थान को प्राप्त करता है। हृदय से कण्ठ पर्यन्त जाग्रत अवस्था की व्याप्ति है ; कण्ठ से तालु पर्यन्त स्वप्न अवस्था की व्याप्ति है ; तालु से ललाट पर्यन्त सुषुप्ति अवस्था की व्याप्ति है। ललाट से कुण्डलिनी को व्याप्त करके शिवतत्त्व पर्यन्त तुरीय अवस्था की व्याप्ति है और यहां का अनाहत नाद मुक्ति दायक होता है।

१३। ओमित्येकाक्षर ब्रह्म। [भग० गीता अ० ८]

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञ दान तपः क्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥ [श्रीभगवद्गीता अ० १७]

ॐ यह एक अक्षर (नाशरहित) ब्रह्म है।

"ॐ तत्सत्" कहने से तीन प्रकार से परमात्मा के नाम का उच्चारण होता है (ॐ कहने से एक अक्षर ब्रह्म, तत् कहने से तेजोरूप, सत् कहने से सत्वस्वरूप)। इस तीन प्रकार के ब्रह्मरूप नाम के निर्देश से सृष्टि के आरंभ में ब्राह्मण, वेद तथा यज्ञ अत्यन्त पवित्र हुए। इस कारण वेद जानने वाले मनुष्य शास्त्र के अनुसार यज्ञ, दान तथा तप को सर्वदा ॐ कहकर आरंभ करते हैं।

१४। ॐकारं पादशो विद्यात्पादामात्रा न संशयः।
ॐकारं पादशो ज्ञात्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥
युंजीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित्॥
प्रणवोह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परः स्मृतः।
अपूर्वोऽनन्तरो वाह्यो न परः प्रणवोऽव्ययः॥
सर्वस्य प्रणवोह्यादिर्मध्यमन्त स्तथैव च।
एवं हि प्रणवं ज्ञात्वा व्यश्नुते तदनन्तरम्॥
प्रणवं ही श्वरं विद्यात् सर्वस्य हृदि संस्थितम्।
सर्वव्यापिनमोंकारं मत्वा धीरो न शोचति॥
अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः।
ॐकारो विदितो येन समुनिर्नेतरो जनः॥ [गौडपादीय कारिका]

(क्रमशः)

महाकवि श्री भास प्रणीत यज्ञफल नाटक

श्री प्रवीन चन्द्र जैन शास्त्री, एम. ए.,

महाकवि भास को लेकर संस्कृत संसार में पिछले दिनों बड़ी हलचल रही। पूर्वीय और पाश्चात्य विद्वानों ने उनकी रचनाओं के खोजने में तथा उनके समय की परिस्थिति आदि के जानने में कुछ कम परिश्रम नहीं किया है। महाकवि भास सम्बन्धी साहित्य ने केवल भारतीय नाट्य-साहित्य की प्राचीनता, मौलिकता और उपादेयता ही सिद्ध नहीं की है, वरन् यह विश्व-नाट्य-साहित्य के लिए उपयोगी अंश बन गया है। उन्होंने कितने नाटक लिखे हैं यह बतलाना असंभव सा ही है क्योंकि अभी स्वर्गीय म० म० श्री गणपति शास्त्री तेरह नाटकों को ढूंढ लाये थे कि एक चौदहवां 'यज्ञफल' नाटक भी भासकृत है, इस सिद्धान्त को लेकर हलचल मच गई। भास के समर्थक क्षमा करें हम स्वयं अभी इस निर्णय पर नहीं पहुंचे हैं कि ये सारे नाटक भास लिखित ही हैं, यथा समय पर्याप्त सामग्री के संगृहित हो जाने में इस विषय पर हम एक लेखमाला ही प्रकाशित करने के प्रयत्न में हैं। इसमें आजतक भास के संबंध में लिखे गये और कहे गये विचारों के साथ पूर्णतया सामञ्जस्य स्थापित करने को स्थिरता दिखलाई जायगी।

अभी हम इसी स्वीकृति को लेकर चलते हैं कि श्री गणपति शास्त्री की खोज के तेरहों नाटक भासकृत हैं। श्री बलदेव उपाध्याय, श्री शिवराम महादेव परांजपे, श्री बी. एन. पुरोहित आदि विद्वानों को रचना-साम्य आदि के निर्णय के सिद्धान्तों के अनुसार यहां हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि भास के नाम से छपने वाला यह यज्ञफल नाटक भासकृत है अथवा नहीं।

प्रस्तुत 'यज्ञफल' नाटक हमें अभी अपूर्ण ही मिला है—अवशिष्टांश शायद प्रेस में है। छपाई के लिहाज से इसमें बड़ी त्रुटियां हैं—प्रकाशक महोदय को इस अनुपलब्ध रचना को प्रकाशित करते समय इसका ध्यान अवश्य ही रखना चाहिये। इसके प्रकाशक हैं विश्वविख्यात राजवैद्य पं० जीवराम कालिदास शास्त्री और टिप्पणी लेखक हैं संस्कृत-साहित्य के अनुभवी विद्वान् और समालोचना कुशल पं० गोपालदत्त शास्त्री। इन दो व्यक्तियों के तत्वावधान में यह नाटक प्रकाशित हो रहा है, यही इस नाटक की प्राचीनता तथा भास द्वारा रचित होने का काफी प्रमाण माना जा सकता है।

भास के तेरह नाटकों में राम और कृष्ण का चरित्र अंकित है। राम का चरित्र बालकाण्ड के भाग को छोड़ कर पूरा पूरा मिल जाता है। कवि की राम-भक्ति से यह आशा नहीं की जा सकती

कि कवि राम की बाल लीला का वर्णन न करे। प्रस्तुत यज्ञफल उस कमी को पूरी करता है, इससे यह अनुमान होता है कि अबतक अनुपलब्ध यह नाटक भी भासकृत ही होना चाहिए।

प्रस्तुत नाटक सूत्रधार से ही प्रारम्भ होता है। इसमें प्रस्तावना शब्द के स्थान में स्थापना शब्द ही का प्रयोग है। प्रस्तावना में जो कवि-प्रशस्ति मिला करती है वह इसमें स्फुट रूप में नहीं मिलती। 'यज्ञफल' इस नाम ही में आरम्भ से अन्त तक की कथा का परिचय मिल जाता है। स्थापना बहुत छोटी है। पताकास्थानकों की भी स्थान स्थान पर योजना है। इसमें प्राचीन काल में प्रचलित छन्दों का प्रयोग है और भाषा की सानुप्रासता तथा प्राकृत प्रयोगों की प्राचीनता भी है। शब्दों और वाक्यांशों की भी पुनरावृत्ति इसमें मिलती है, साथ ही अनेक आर्ष प्रयोगों का भी इसमें संचार है—ये सारी बातें जो विद्वानों ने किसी नाटक के भासकृत सिद्ध करने के सम्बन्ध में कही सुनी हैं—ये सब यहां हैं ही। इनको उदाहरण सहित उपस्थित करना तब समीचीन होगा जब यह सारा नाटक प्रकाशित हो जाय।

भास की प्राचीनता के सम्बन्ध में, समय निर्धारण आदि के विषय में यहां थोड़ा ही प्रकाश डाला जायगा क्योंकि यह एक स्वतन्त्र निबंध का विषय है और प्रस्तुत प्रकरण से थोड़ा परे भी है।

प्रस्तुत नाटक की भाषा सरल है। स्वर्गीय सर भण्डारकर की परिभाषा में इसकी शैली को Nominal style न कहकर Verbal style कहना अधिक उपयुक्त है—रचना संज्ञा-प्रधान न होकर क्रिया प्रधान है। छोटे छोटे वाक्य हैं, पर हैं सारगर्भित और कवि के भावों के पूरे व्यञ्जक। भाषा सालंकार है। अलंकार प्रयत्नजनित नहीं हैं, स्वाभाविक हैं। कवि तो अपनी बात कहना चाहता है, कहता चला जाता है, प्रवाह है, कहीं कहीं सुन्दर कटान अपने आप बन जाते हैं—लहरों में प्रकृत के अनेक उपादानों का सारूप्य स्वतः बनता चला जाता है। कहीं सादृश्य की प्रतीति होती है तो कहीं प्रतिबिम्बन, तथा कहीं विरोध की प्रतीति होती है तो कहीं वैधर्म्य।

इसके अतिरिक्त एक विशेषता जो भास के अन्य नाटकों में कम पाई जाती है वह यह है कि पात्र के चरित्र का परिचय दर्शकों अथवा पाठकों को या तो पात्र-प्रवेश से पहले ही मिल जाता है या ठीक उसके प्रवेश करने पर।

प्रकाशित भाग में सूक्तियों की भरमार है। सूक्तियां और सुभाषित अनुभव से सम्बन्ध रखते हैं। कवि जितना अधिक जनता के बीच रहा होगा, और उसका अपना जितना अधिक संघर्ष पूर्ण रहा होगा, उतनी ही मार्मिक सूक्तियां वह कह सकेगा अथवा लिख सकेगा। भास की सूक्तियां मानों कह रही हैं कि उनका रचयिता जीवन-क्षेत्र में पूरी तरह घुसकर अनुभव पाये हुए है।

अब हम संक्षेप में यह देखेंगे कि यज्ञफल में रचयिता के समय और स्थान आदि के सम्बन्ध में कुछ मिलता है अथवा नहीं। प्रकट रूप से तो वह मौन है—अन्तरङ्ग अथवा बहिरङ्ग उपादानों से कुछ पता चले तो बतलाया जाय। भास के समय के सम्बन्ध में विद्वानों ने विभिन्न मत स्थिर किए हैं :—

१—गणपति शास्त्री भास को चाणक्य और पाणिनि से भी प्राचीन सिद्ध करते हैं। (३२५ ईसा पूर्व के लग भग)

Introduction to स्वप्नवासवदत्तम् pp. 9-10 (3rd edition).

२—डाक्टर बर्नेट और विन्टर्निट्ज़ इन नाटकों के कर्ता कल्पित भास का समय सातवीं शताब्दी सिद्ध करते हैं।

Winternitz—Some Problems of Indian Literature—Bhas.

३—डाक्टर लेव्ही, प्रिट्ज़, बैनर्जी शास्त्री आदि भास को दूसरी और पांचवीं शताब्दी के बीच का बताते हैं।

Prof Baldeva—Sanskrit Kavi Charcha pp. 128-129.

४—प्रो० एच० बी० भीड़े (H. B. Bhide) भास का समय ४५० ई० पू० स्थिर करते हैं।

Introduction to स्वप्नवासवदत्तम् pp. 40.

५—के. एच. ध्रुव भास को ईसा से १६० वर्ष पहले का प्रमाणित करते हैं।

Introduction to स्वप्नवासवदत्तम् by N. B. Purohit pp. XXXIV.

६—जायसवाल साहब ईसासे ५० वर्ष पूर्व तक भास को ले जाते हैं।

Introduction to स्वप्नवासवदत्तम् by N. B. Purohit pp. XXXIV.

७—लॅसी कीथ ३०० के आस पास का बताते हैं।

SK. Dr pp. 94-95.

इन मतों में निश्चय किसी मत में नहीं है। सब संभावना ही बताते हैं। आजकल जो मत विद्वानों को विशेष मान्य है वह यह है कि भास अश्वघोष से पीछे और कालिदास के पहले हुए हैं। 'यज्ञफल' देखने से कुछ अधिक प्रकाश मिलता है। 'यज्ञफल' में पृष्ठ ४२ में लिखा है—

'सर्वत्राचारे मनोः प्रामाण्यम्। राजधर्मे तु बार्हिष्ठं प्रमाणतमम्।' इसकी टिप्पणी में मिलता है—

'दापे यच्छ्रेष्ठं तज्ज्येष्ठस्येति मनुः, (अ० ९ श्लो० ११२) किन्तु बार्हिष्ठे धर्मशास्त्रे नैव नियमो भवेत्। बार्हिष्ठस्य धर्मशास्त्रस्याद्य प्रचलिताया मनुस्मृतेः पूर्वं वर्त्तित्वं प्रतीयत एव।' (मनु० अ० श्लो० १८०) इससे प्रतीत होता है कि 'यज्ञफल' जब रचा गया था तब मनुस्मृति बन तो चुकी थी पर राज-धर्म के लिए प्रामाणिक नहीं हो पाई थी।

इसी नाटक के पांचवें पृष्ठ में कंचुकी राजा की आज्ञा सुनाता है—'संयता बन्धुस्ते मोच्यन्ताम्', इत्यादेशः। सुमन्त्र इसके जवाब में कहते हैं—

'न स्तेना न शठा न वेदवणिजो नान्याङ्गना कामुकाः
मद्य-द्यूत-रता न चापि मनुजा राजद्रुहो लिङ्गिनः ।
सौराज्येऽत्र कथं लभते सुकृती बन्धादि दण्डं ततः
सम्राडेव सुतोदयेन विहितो मुक्तः पितॄणां ऋणात् ॥'

मनुस्मृति के अनुसार स्तेन और राजद्रोही दण्डनीय हैं न कि वेद-व्यापारी, विलासी, मद्यप, द्यूत खेलने वाले और साधुवेषधारी । वेद-व्यापार आदि के लिए प्रायश्चित्त-विधान है दण्ड-विधान नहीं । मनुस्मृति के पहले इनका दण्ड-विधान होता होगा - तभी यह उक्ति सत्य हो सकती है ।

इसी नाटक के २३वें पृष्ठ में फिर एक उल्लेख मिलता है—

'परः शता महाराज्ञो विहारा अत्र मयाऽवलोकिताः' विद्वान् टिप्पणीकार लिखते हैं 'यद्वास्मिन् ग्रन्थे ग्रन्थस्य कर्त्रा स एव समयो दर्शितो यदा पाणिनि-सूत्राणि तु निर्मितान्यासन् किन्तु नासन्वार्तिकानि न चासीन्महाभाष्यं निर्मितम् ।'

'महाराज्ञः' प्रयोग यह सिद्ध करता है कि इस ग्रन्थ की रचना महाभाष्यकार और वार्तिककार के पहले हुई थी ।

इस तरह ऊपर के तीनों प्रकरण भास को ईसा से ४०० वर्ष पहले का सिद्ध करते हैं । भाषा की प्राचीनता तथा प्रो० एच. बी. भीडे (H. B. Bhide) का निर्णय भी इसका समर्थन करते हैं ।

और जो भास के १३ नाटकों में से ६ नाटकों का भरत वाक्य में राजसिंह नाम के आ जाने से ७वीं शताब्दी के किसी राजसिंह राजा के अस्तित्व पर भास का समय ७वीं शताब्दी स्थिर किया जाता है, वह तो इस बात का परिचय देना है कि कभी कभी बड़े विद्वान् भी एक साधारण बात को लेकर बात का बतंगड़ खड़ा कर दिया करते हैं । हमारे विद्वान् टिप्पणीकार ने इसी नाटक के १३वें पृष्ठ में आसानी से इस झगड़े को समाप्त करने का प्रयत्न किया है—

मूल पाठ है—

'अकार्यबुद्धिः पुरुषः कथं स्या-
भवादृशे राजति राज सिंहे ॥'

टिप्पणी—'रामायणे बहुत्र दशरथो राज सिंह इति विशेषितः ।'

यथा—

'तच्छ्रुत्वा राजसिंहस्य वाक्यमद्भुतविस्तरम् ।' १।१९।१

इस टिप्पणी से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजसिंह तो विशेषण मात्र है—किसी भी राजा के लिए उसका उपयोग किया जा सकता है । यदि इस राजसिंह की कल्पना ठीक मानी जाय तो प्रचलित संस्कृत-साहित्य के इतिहास में घोर परिवर्तन हो जाने की संभावना है ।

अब भास के देश के सम्बन्ध में जो संकेत मिलता है उसे लें—इस नाटक के ६५वें पृष्ठ में चित्रकेतु कहता है—

'हिमाधिकाद्देशादस्मागतावावाम्। अयं च निदाघकालः।'

यह हिमाधिक देश हिमालय के आस पास का देश हो सकता है। इस सम्बन्ध में यह कल्पना की जा सकती है कि भास हिमालय के आस पास के रहने वाले थे। पर जबतक इसे प्रमाणित करने वाला कोई दूसरा प्रमाण न मिल जाय इसे अभी केवल कल्पना ही समझना चाहिये।

इस तरह, यदि यह नाटक भासकृत मान लिया जाय तो इससे भास के समय और स्थान आदि के निर्धारण में कुछ सहायता मिल सकती है—इसमें कोई सन्देह नहीं।

भास की रचनाएं मौलिक हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। अब तक यह प्रवाद है—

'कविषुः कालिदासः' (श्रेष्ठः)

'काव्येषु नाटकं श्रेष्ठं नाटकेषु शकुंतला।

तत्रापि च चतुर्थोकः, तत्र श्लोक चतुष्टयम्॥'

जिस कालिदास की प्रतिभा अनूठी बतलाई गई है और जिसके साहित्य से आज संस्कृत वाङ्मय को गर्व है वह भास की छाया को अपनाता है और कहीं कहीं ठीक तरह से नहीं अपना पाता।

१। भास—'सूर्ये निरभ्राम्बर वर्तिनि स्यात्।

कथं तमिस्रा गति भंग हेतुः॥'

कालिदास—

'सूर्ये तपत्यावरणाय दृष्टेः

कल्पेत लोकस्य कथं तमिस्रा॥' [रघु० ५।१३]

'तमस्तपति धर्मांशौ कथमाविर्भविष्यति।' 'शकुं' ५।१३ छाया स्पष्ट है।

पर गति भंग हेतु गति में उन्नतिशीलता की ध्वनि तमिस्रा की कल्पना मात्र से कहीं अधिक चमत्कार पूर्ण है। फिर प्रचण्डताप वाले सूर्य के प्रकाश से चौंधियाई आंखें सामने नहीं देख पातीं—उनके सामने अंधेरा छा जाता है, और प्रचण्ड तापवाले सूर्य की गर्मी से मनुष्य सुस्त भी होजाता है। इसलिये निरभ्राम्बर सूर्य की कल्पना 'तपति सूर्ये और धर्मांशौ तपति' की कल्पना से कहीं बढ़कर है।

२। १३वें पृष्ठ में भास कहते हैं—

'बद्धो न चेदस्ति नरो यदत्र

न बन्धमोक्षे न भवेदिदानीम्।

पैश्यादणादास भवाभिबद्धो

मोक्षस्ततोऽभूद्भवतस्तु तस्मात्॥'

कालिदास—

'न संयतस्तस्य बभूव रक्षितु-
र्विसर्जयेद्यं सुत जन्म हर्षितः ।
ऋणाभिधानात्स्वयमेव केवलं
तदा पितृणां मुमुचे स बन्धनात् ॥'

३ । भास—

'यथा प्रदीपात्परे प्रदीपे
प्रज्वालिते नास्ति तयोस्तु भेदः ।
तथैव यूयं मदधीत विद्या
ज्ञाने समाना वयमत्र सर्वे ॥'

कालिदास—

'रूपं तदोजस्वि तदेव वीर्यं
तदेव नैसर्गिक मुन्नतित्वम् ।
न कारणात्स्वा द्विभिदे कुमारः
प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात् ॥'

यहां कालिदास के शारीरिक सम्बन्ध के प्रभाव से भास के आध्यात्मिक सम्बन्ध का प्रभाव कहीं अधिक विच्छित्ति पूर्ण है ।

कल्पना की मौलिकता के साथ साथ नाटकीय वस्तु योजना की मौलिकता को भी लें ।

भास ने इस नाटक के तीसरे अंक में सरयू में जलक्रीड़ा करते हुए चित्रकेतु और चित्रपाद नाम के दो गन्धर्वों के संलाप की योजना की है । और एक जगह विश्वामित्र और रावण के छिपकर बातचीत सुनने और आपस में संवाद की योजना भी की है । इस योजना से अज्ञात वस्तु के प्रकाशन में और संक्षेप में बहुत सी आवश्यक बातों के कहने का जो काम लिया गया है वह रामायण में नहीं मिलता । इससे नाट्यसाहित्य को कितना लाभ पहुंचा है वह बताने की आवश्यकता नहीं है । जबतक इस तरह का और कोई दूसरा ढंग इससे प्राचीन न मिले तब तक भास को ही यदि इस योजना का उद्भावक कहें तो किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए ।

ऊपर लिखी बातें, विद्वानों के बताए पैमाने के अनुसार यह सिद्ध करती हैं कि 'यज्ञफल' भासकृत है, उसकी मौलिकता मान्य है, और यह चौदहवां नाटक संस्कृत-साहित्य की श्री वृद्धि में पूरा सहायक है ।

अब हमें इस नाटक की टिप्पणी के सम्बन्ध में भी कुछ कहना है । ये टिप्पणियां 'टिप्पणियां'

ही हैं। संक्षेप टिप्पणी की जो विशेषता है वह इन टिप्पणियों में मौजूद है। टिप्पणी लेखक को बिना आवश्यकता के बोलना नहीं चाहिये—कथाप्रवाह जहां तक अपनी धारा को अनुकूलता से बहता रहे बहते रहने देना चाहिये—जहां दुर्गमता आये वहीं सरलता ला देना टिप्पणीकार का कर्त्तव्य है। प्रस्तुत टिप्पणियां यही काम करती हैं। उनमें विद्वत्ता और संस्कृत-साहित्य का सर्वांगीण ज्ञान कूट कूट कर भरा हुआ है। किन किन बातों को टिप्पणीकार ने सरल बनाया है यह हम ऊपर कई जगह दिखा आये हैं। केवल एक जगह हमें यह खटका कि टिप्पणीकार वहां क्यों मौन रहा।—

पृष्ठ १३वां—

'पैत्र्या ह्णादास भवन्निबद्धो।
मोक्षस्ततोऽभूद्भवतस्तु तस्मात् ॥'

यहां 'आस' प्रयोग टिप्पणी की आवश्यकता रखता है—यह अदादिगण वाले 'अस्‌भुवि' से है अथवा भ्वादिगणी 'अस् गति दीप्त्यादानेषु' से है, इस विचार की शायद यहां आवश्यकता है।

कई स्थलों को जिन्हें श्री देवधर ने अपने भास नाटकचक्र के Appendix c pp. 573. में अशुद्ध माना है उनको टिप्पणीकार शुद्ध समझता है। जैसे नवां नोट लीजिये—

'मे शापितोऽसि न परिरक्षसि चेत्स्वराज्यम्।'

यहां 'मे' शब्द पदादि में आया है इसलिये अशुद्ध है ऐसा देवधर बताते हैं। 'मे' यातो चतुर्थी में आता है या षष्ठी में—पर दोनों विभक्तियों का अर्थ यहां संगत नहीं होता। यहां कौन सा अर्थ लेना चाहिए यह टिप्पणीकार बतलाते हैं—

'सर्वे कामाश्चार्थिनां पूरिता मे।
तत्किं न स्युस्तोषिता लब्धलभ्याः ॥'

यज्ञफल पृष्ठ—४

टिप्पणी—अत्र मयेत्यर्थे 'मे' इति वर्तते। तथा च वामनः—

'ते मे शब्दौ निपातेषु।'

इसी तरह यदि 'मे' का अर्थ 'मया' ही वहां माना जाय तो कठिनता हट जायगी—शुद्ध अर्थ हो जायगा।

इसी तरह आर्ष और अनार्ष शब्दों का विचार भी बड़ी खूबी के साथ टिप्पणीकार ने २३ से २६वें पृष्ठ तक किया है।

हमारी समझ में यह प्रयत्न 'दुर्घटवृत्ति' के लेखक का सा प्रयत्न है—यदि ऐसा प्रयत्न चलता रहा तो भास की अनेक कठिनाइयां दूर होंगी ऐसा हमारा विश्वास है—टिप्पणीकार को धन्यवाद देकर हम इस निबन्ध को समाप्त करते हैं।

कुषाण काल में सरवास्तिवादिन और महासंधिक बौद्ध मत

श्री बैजनाथ पुरी एम. ए.

कुषाण काल में सरवास्तिवादिन और महासंधिक नामक दो भिन्न बौद्ध मतों का पता उस समय के लेखों से लगता है। इन दोनों मतावलम्बियों के केन्द्र केवल भारत ही में नहीं, किन्तु उसके बाहर भी थे[१] और दोनों का उद्देश्य एक दूसरे को वादविवाद में हराना था। मथुरा के सिंघ-मूर्त्ति लेख से पता चलता है[२] कि शोदस के समय महासंधिकों का मथुरा में अधिक जोर था। उनको हराने के लिये सरवास्तिवादिनों को अपने मुख्य केन्द्र जलालाबाद जिले के प्राचीन 'नगर' से बुधिल नामक खलुल अथवा सिद्धान्तवादी को बुलाना पड़ा था। इस लेख से दो बातें मालूम पड़ती हैं, एक तो यह कि कुषाण काल के पहले मथुरा में महासंधिकों का प्रभाव था जिसके कारण सरवास्तिवादिनों को बुधिल को बुलाना पड़ा था, दूसरा यह कि बुधिल के आने से सरवास्तिवादिनों का प्रभाव अवश्य बढ़ा होगा। इसलिये कुषाण काल के आरम्भ में बौद्ध धर्म के दो मुख्य मत थे। इनका पता उस समय के ब्राह्मी और खरोष्ट्री लेखों से लगता है। इस विषय पर अधिक चर्चा करने के पहले इन दोनों मतों के लेखों पर विचार करना आवश्यक है।

महाराज कनिष्क के डिब्बे पर लिखे[३] लेख से पता चलता है कि प्रथम वर्ष में अगिशल नामक एक नवकर्मिक ने सरवास्तिवादिनों के हितार्थ दान दिया था। दूसरा लेख[४] ग्यारहवें संवत् का है और ज़ेदा नामक स्थान में, जो यूसुफज़ाई जिले में है, पाया गया था। इसमें सरवास्तिवादिनों के हितार्थ हियथेय के दान का वर्णन है। तीसरा[५] खरोष्ट्री लेख पेशावर जिले के खुरम तहसील में मिला है। यह बीसवें वर्ष में लिखा गया था और इसमें एक नये विहार के विषय में लिखा है जो सरवास्तिवादिनों के पास था।

ब्राह्मी लेखों में श्रावस्ती (साहेट-माहेट) के लेख से[६] पता चलता है कि भिक्षुबल ने

१, खुरम और वर्दक लेख, स्टेन कनाओ कारपस जिल्द २ पन्ना १५४, १६५।

२, स्टेनकनाओ ३ कारपस जिल्द २ पन्ना ३० से।

३, वही पुस्तक पन्ना १३७। ४, वही पुस्तक पन्ना १४२।

५, वही पुस्तक पन्ना १५५।

६, एपीग्राफिया इण्डिका जिल्द ८ पन्ना १८०।

बोधिसत्व की एक मूर्ति छत्र सहित कोशाम्ब कुटी में स्थापित कराई थी जो सरवास्तिवादिनों के पास थी। दूसरा ब्राह्मी लेख मथुरा में एक बोधिसत्व मूर्ति पर लिखा है७। इसमें सरवास्तिवादिनों के हितार्थ बोधिसत्व मूर्त्ति के दान का वर्णन है। यह लेख ५१वें वर्ष का है। इनके अतिरिक्त और कोई लेख नहीं मिला है।

महासंघिकों के लेख भी भारतवर्ष और उसके बाहर मिले हैं। अफगानिस्तान के वर्दक नामक स्थान में एक लेख मिला है८ जिसमें वग्गमरेग विहार में बुद्ध जी की समाधि स्थापित करने का वर्णन है। यह विहार महासंघिकों के पास था। ब्राह्मी लेखों में एक बोधिसत्व मूर्ति के पद पर लिखा हुआ लेख मिला है।९ यह महाराज कनिष्क के १०वें वर्ष का है और इसमें भिक्षु नागदत्त के कौष्ठिकीय विहार में उस बोधिसत्व मूर्ति के स्थापित करने का वर्णन है। यह विहार भी महासंघिकों के पास था। इनके अतिरिक्त और दो लेख मिले हैं, एक पालिखेरा भिक्षुपात्र लेख१०, और दूसरा बुद्ध जी की एक मूर्त्ति पर लिखा लेख।११ ये दोनो मथुरा में मिले हैं और इनमें महासंघिकों के दान का वर्णन है। दूसरे लेख से आपनक विहार का पता चलता है। इनके अतिरिक्त एक तीसरा लेख१२ कुषाण संवत् ९१ का है। इसमें चूतक विहार में किसी वस्तु के दान का वर्णन है जो महासंघिकों की वृद्धि के लिये किया गया था।

इन दोनों भिन्न मतों के अतिरिक्त, मथुरा धर्मगुप्तिकों का भी केन्द्र था। एक बोधिसत्व मूर्त्ति के पद पर लिखे हुए लेख से१३ पता चलता है कि उस मूर्ति की स्थापना पुषिक नागप्रिय ने धर्म्मगुप्तिकों के हितार्थ की थी। धर्म्मगुप्तिकों का मत, सरवास्तिवादिनों से बहुत कुछ मिलता जुलता था। अभाग्य वश इस लेख में संवत् नहीं लिखा हुआ है जिससे यहां यह कहना कठिन है कि धर्म्म-गुप्तिकों का उत्थान सरवास्तिवादिनों के पतन के बाद हुआ था अथवा दोनों मत महासंघिकों के साथ साथ फल फूल रहे थे।

इन लेखों का अध्ययन करने से पता चलता है कि कुषाण काल में सरवास्तिवादिनों के केन्द्र तक्षिला, सुरम (पेशावर), ज़ेदा (यूसुफज़ाई जिले में) श्रावस्ती और मथुरा में थे। कुषाण संवत् ५१ तक इसका पतन नहीं हुआ था जैसा कि अनयोर के लेख से पता चलता है। महासंघिकों के केन्द्र

७, वोगेल : कैटालाग आफ मथुरा म्युज़ियम नं० ऐ ६६।

८, स्टेनकोनो : कारपस जिल्द २ पन्ना १६५।

९, जरनल यू० पी० हिस्टारिकल सोसाइटी जुलाई १९२९ पन्ना २२ नं० १२।

१०, वही पुस्तक लेख नं० ११। ११, वही पुस्तक लेख नं० १२।

१२, एपीग्राफिया इण्डिया जिल्द १९ नम्बर ९ पन्ना ६९।

१३, जरनल यू० पी० हिस्टारिकल सोसाइटी जुलाई १९२९ पन्ना २४ नं० १४।

बर्धक (काबुल के पास) और मथुरा के कई स्थानों में थे। महासंघिकों का सबसे प्रथम लेख महाराज कनिष्क के १०वें वर्ष का, और अन्तिम कुषाण संवत् ९१ का मिला है। उसी काल में धर्मगुप्तिक भी वर्त्तमान थे। सरवास्तिवादिनों के पास विहार और संघाराम भी थे। तक्षिला में उनका महाराज कनिष्क के नाम का एक विहार और महासेन नामक एक संघाराम था। महासंघिकों के मथुरा में चूतक, आपनक और क्रौष्टीय विहार थे।१४ यह नहीं कहा जा सकता कि महासंघिकों के पास भी कोई संघाराम था अथवा नहीं।

इस सम्बन्ध में यहां पर दो विषयों पर विचार करना अति आवश्यक है, पहला है संघाराम और विहार में भेद और दूसरा महाराज कनिष्क का सरवास्तिवादिनों के साथ सम्बन्ध। कर्न (Korn) के कथनानुसार१५ विहार शब्द से मन्दिरों इत्यादि को भी सम्बोधित किया जा सकता है किन्तु विहार केवल उतने स्थान को कहते है जहां पूजा अथवा दूसरे धार्मिक कार्य होते हैं। संघाराम एक पूर्ण स्थान को कहते हैं और विहार केवल उसका एक अंश है। इसलिये तक्षिला में महासेन का संघाराम था जिसमें महाराज कनिष्क का विहार था। संघाराम में इस प्रकार कई एक विहार होते थे। यहां अब यह प्रश्न उठता है कि क्या महाराज कनिष्क सरवास्तिवादिन थे? इस प्रश्न का उत्तर देने के पहिले सरवास्तिवादिनों के मत पर ध्यान देना आवश्यक है।

सरवास्तिवादिन, महीशासक मत की एक शाखा थी जो थेरवाद मत का एक अंग था। थेरवाद मत और उसकी शाखायें, महासंघिक या आचार्य्यवाद मत से बहुत भिन्न थी। प्राचीन थेरवाद मत की दो शाखायें थीं, महीशासक और वज्जीपुतक। महीशासक शाखा की भी दो उपशाखायें थीं, सरवास्तिवादिन और धर्म्मगुप्तिक।१६ इसलिये सरवास्तिवादिन और महासंघिक दो भिन्न मत थे और दोनों की नोक-झोक चली आती थी।

हुएनसांग के कथनानुसार१७ महाराज कनिष्क ने बौद्ध धर्म को समझने का प्रयत्न किया था किन्तु भिन्न मतों के कारण उसे असफलता प्राप्त हुई और उसने एक बड़ी सभा बुलाई थी। वसुमित्र की अध्यक्षता में यह सभा हुई थी किन्तु इसमें सरवास्तिवादिन बहुमत से थे। वसुमित्र स्वयं सरवास्तिवादिन था। सभा में जिन विषयों पर वादविवाद हुआ था उनमें वसुमित्र के कारण सरवास्तिवादिनों की ही चली थी। इसमें महाराज कनिष्क का भी प्रभाव अवश्य रहा होगा अन्यथा वह उस सभा में सरवास्तिवादिनों को बहुमत में न रखता। इस बात का प्रमाण तक्षिला के लेख से लगता है१८ जिससे यह प्रगट है कि महासेन के

१४, वही पुस्तक पन्ना २४।

१५, मैनवल आफ इण्डियन बुद्धिज्म पन्ना ८१।

१६. वही पुस्तक पन्ना १११।

१७, वैटरस-हुवैनच्वांग जिल्द १ पन्ना २०२, २८३।

१८, स्टेनकनौ : कारपस जिल्द २ पन्ना १३७।

संघाराम में महाराज कनिष्क का विहार था और डिब्बे का दान सरवास्तिवादिनों के हितार्थ उसी विहार में किया गया था। यह लेख महाराज कनिष्क के प्रथम वर्ष का है। इसलिये यहां यह कहना गलत न होगा कि राज्याभिषेक के पहले महाराज कनिष्क सरवास्तिवादिन मत को, जो बौद्ध धर्म का एक अंग था, मानते थे और इसी कारण से उन्होंने चतुर्थ बौद्ध सभा में भी सरवास्तिवादिनों को बहुमत से रक्खा था१९ जिससे केवल उसी मत के विचार ठीक समझे जायें। इसलिये यह कहना बिलकुल भूल है कि महाराज कनिष्क महायान मत को मानते थे। तक्षिला के लेख ने यह सिद्ध कर दिया है कि महाराज कनिष्क सरवास्तिवादिन थे।

कुषाण काल में इन दो भिन्न मतों के उत्थान और पतन पर विचार करना आवश्यक है। लेखों से यह बात पूर्णतया प्रगट हो गई कि दोनों मत कुषाण काल के पहले भी थे और कुषाण काल में भी रहे। कुषाण काल के पहले सरवास्तिवादिनों का मुख्य केन्द्र जलालाबाद जिले के प्राचीन 'नगर' में था। यह पहले कहा जा चुका है कि सोदम के समय में सरवास्तिवादिनों को 'नगर' से बुधिल को, महासंघिको के मत को झूठा साबित करने के लिये, बुलाना पड़ा था। कुषाण काल में सरवास्तिवादिनों को महाराज कनिष्क से सहायता मिली थी और उनके केन्द्र खुरम, श्रावस्ती और मथुरा में पूर्णतया रहे। मथुरा का केन्द्र महाराज हुविष्क के समय तक रहा जैसा कि अनयोर के लेख से पता चलता है।२० इसके बाद का सरवास्तिवादिनों का कोई लेख नहीं मिला है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, धर्म-गुप्तिकों का भी एक लेख मिला है२१ परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि धर्मगुप्तिकों का मत सरवास्तिवादिन मत के साथ ही साथ प्रचलित था अथवा उसके पतन के बाद उसका प्रचार हुआ। यह अवश्य कहा जा सकता है कि महाराज कनिष्क के बाद सरवास्तिवादिनों को राज्य संरक्षिता न प्राप्त हुई।

महासंघिक भी महाराज कनिष्क के पहले थे, वे कुषाण काल में भी रहे और कुषाण काल के अन्त तक विद्यमान रहे जैसा कि उनके ९१ संवत् के एक लेख से पता चलता है।२२ इससे यह प्रतीत होता है कि यद्यपि सरवास्तिवादिनों को महाराज कनिष्क को पूर्ण रूप से सहायता मिलती थी किन्तु महा-संघिकों का उस समय अभाव न था। उनके केन्द्र अफ़गानिस्तान और भारतवर्ष में भी थे। महाराज कनिष्क की मृत्यु से सरवास्तिवादिनों को धक्का पहुंचा। उनको महाराज हुविष्क की सहायता न मिल सकी। इधर महासंघिकों को अपना प्रभाव बढ़ाने का अवकाश मिला। बोधिसत्व नागार्जुन ने इस मत को

१९। कर्न : मैनवल आफ इण्डियन बुद्धिज़म पन्ना १२२।

२०, वोगेल : कैटालग आफ दी मथुरा म्यूज़ियम नं० ऐ ६६।

२१, जरनल यू० पी० हिस्टारिकल सोसाइटी पन्ना २४ नं० १४।

२२, एपीग्राफिया इण्डिका जिल्द १९ पन्ना ६९ नं० ९।

फैलाने का पूर्णतया प्रयत्न किया था।२३ इन्हीं दो कारणों से महासंघिकों का प्रभाव बढ़ने लगा। यह असम्भव नहीं कहा जा सकता कि महासंघिकों के ज़ोर से सरवास्तिवादिनों को धक्का पहुंचा और उनका पतन आरम्भ हो गया।

कुषाण काल में इस प्रकार सरवास्तिवादिन और महासंघिक दो मत थे। उस काल के पहले भी ये दोनों मत भारतवर्ष में ही नहीं किन्तु आजकल के अफगानिस्तान में भी थे। इन दोनो का यह ध्येय हमेशा रहता था कि एक दूसरे की भूलें निकाल कर उन्हें पराजित करें। महाराज कनिष्क के समय में सरवास्तिवादिनों का प्रभाव अधिक था। महाराज कनिष्क स्वयं सरवास्तिवादिन थे और उन्होंने चतुर्थ बौद्ध सभा में इस मत के आदर्शों को समझाने का पूर्ण उद्योग किया था। उसके बाद कोई कुषाण राजा ने इस मत की सहायता नहीं पहुंचाई। इधर महासंघिकों को अवकाश मिला। नागार्जुन के नेतृत्व में उन्हें सफलता प्राप्त हुई। मथुरा में उनके तीन विहार थे, आपनक, चूतक और क्रौष्ठिक जो उनकी सफलता के साक्षी हैं। उस काल में धर्मगुप्तिकों का भी एक मत था, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि सरवास्तिवादिनों के पतन के पश्चात् उस मत का जन्म हुआ अथवा उसी मत के साथ साथ वह भी प्रचलित था।

२३, कर्न : मैनुअल आफ इण्डियन बुद्धिज़म पन्ना १२२।

इन्द्र तथा वृत्र का युद्ध

श्री माधवदास सांख्य तीर्थ एम. ए.

ऐसा मालूम पड़ता है कि ऋग्वेद के आख्यान-भागों ने रूपक के आवरण में वर्णाश्रम-धर्म का विश्लेषण किया है। अधिकतर मंत्र 'अग्नौ प्रास्ताहुतं सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिः वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः' का प्रचार करते हुए दीख पड़ते हैं। इसकी ओर ध्यान देकर पूर्वमीमांसाकार जैमिनि ने 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्य मतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते'—इस सूत्र की रचना की थी।

इहलौकिक तथा पारलौकिक उन्नति की आशा से ऋग्वेद के ऋषि विविध देवताओं की स्तुति किया करते थे और उनके उद्देश्य में आहुति भी दिया करते थे। संतुष्ट होने पर देवता साधक की अवश्य उन्नति करेंगे—इस विषय में उन्हें संदेह न था।

चतुर्विध-पुरुषार्थ पाने की आशा से हम यज्ञादि किया करते हैं। निर्विघ्नता से यज्ञों की समाप्ति के लिये हम इंद्रादि देवताओं की स्तुति किया करते हैं और उनको उद्देश्य कर हविः अर्पण करते हैं। देवता संतुष्ट होकर हमारे शत्रुओं का नाश करते हैं और हमारे सब विघ्नबाधाओं को दूर हटाते हैं।

इंद्र-वृत्र-उपाख्यान भी रूपक के आवरण में इसी एक महासत्य की घोषणा कर रहा है। पुराण में यही इंद्र-वृत्र उपाख्यान रूपान्तरित रूप में दीख पड़ता है। जहां इंद्र ने वृत्र का विनाश किया है वहां यह मिलता है कि उसने जल को रोक रखा था,—यही था उसका अपराध। इसलिये मनीषी मूयर ने उसको जल-असुर कहा है। किसी किसी की राय में वृत्र अथवा अहि नाम बादल का है—इंद्र ने अहि का विनाश कर जल का पथ साफ किया था। कई प्राच्य तथा पाश्चात्य पंडितों की यह धारणा है कि वृत्र वर्षा के रूपक मात्र हैं।

यज्ञ के समय जो बाधाएं दिया करते थे ऐसे विश्वासघातकों को आर्यों ने दस्यु कहा है। जब कभी आर्य ऋषियों को वृत्र, अहि, शुष्ण, शम्बर, बल, पिप्रु, अर्बुद, वर्चि, कुयव आदि दानवों ने बाधा दी थी तब उन्होंने महा शक्तिशाली इंद्र की आराधना की थी। इंद्र ने उनका कष्ट दूर किया था। अति प्राचीन काल से ही देव-दानवों का ऐसा युद्ध चला आ रहा है, इसमें कभी तो देवों की और कभी दानवों की जीत होती है। जब असुर विजयी होते हैं तब धर्म का ह्रास हुआ करता है और यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान सुचारु रूप से नहीं हो पाता; संसार में हाहाकार मच जाने के कारण ऋषि इंद्र की आराधना करते हैं और उनके उद्देश्य में सोमरस प्रदान किया करते हैं। इंद्र संतुष्ट होकर

यज्ञों में आ उपस्थित होते हैं तथा अनिष्टकारी वृत्रादि असुरों तथा उनके अनुचरों को युद्ध में हराकर जल का पथ साफ करते हैं।

उपर्युक्त घटना से यह स्पष्ट है कि इंद्र तथा वृत्र का युद्ध रूपक मात्र है। इसी रूपक की आड़ में ऋग्वेद में परधर्मतत्व को खूब बढ़ा चढ़ा कर दिया गया है।

इंद्र शब्द की उत्पत्ति 'इदि' धातु से है। यह धातु परमैश्वर्य वाचक है, इसलिये इंद्र शब्द सब ऐश्वर्यों का आधार गुणोपहित ब्रह्म का वाचक है। यही कारण है कि इंद्र शब्द का अर्थ लिंग रूप में भी किया गया है। इन गुणोपहित ब्रह्म के साथ वृत्र अर्थात् अज्ञान का युद्ध ही वेद के इन्द्र-वृत्र युद्ध का सार है, यही मेरी धारणा है। यदि यह अर्थ स्वीकार किया जाय तो इंद्र-वृत्र सम्बन्धीय किसी भी मंत्र का समाधान हो सकता है नहीं तो पाश्चात्य विद्वानों एवं प्राच्य पंडितों की तरह केवल अंधेरे में टटोलना पड़ जायगा।

शुष्ण-उपाख्यान वर्षा की दूसरी उपमा है। इंद्र ने शुष्ण की हत्या वर्षा रोकने के लिये की थी। दूसरे दानवों के साथ इंद्र की लड़ाई वर्षा रोक लेने के लिये ही हुई थी ऐसा कई विदेशी विद्वान् कहते हैं।[1]

इंद्र-वृत्र-सम्बन्धीय मंत्रों पर अब विचार करना है। ऋग्वेद के प्रथम मंडल के ३२वें सूक्त में इंद्र-वृत्र-युद्ध के बारे में विस्तृत वर्णन दिया हुआ है। वहां इंद्र की वीरता दिखलाने में ऋषि ने कहा है—इंद्र ने अहि का संहार कर पार्वतीय नदियों का रास्ता साफ कर दिया था। वेद में कई जगह बादल को वृत्र अथवा अहि कहा है। इंद्र ने उस बादल को वज्र मारकर पानी बरसाया था। इसे पढ़कर कई वैदिक पंडितों ने यह सोचा था कि यह घन-मंडल की गर्जन के साथ वर्षा की उपमा-मूलक कहानी है। किन्तु इस भ्रांत धारणा को दूर करने के लिये ऋषि ने ऋग्वेद के दूसरे मंत्र में कहा है कि इंद्र ने पर्वताश्रित (बादलाश्रित) वृत्र का वध किया था। इसलिये यह स्पष्ट है कि अहि अथवा वृत्र से उनका मतलब बादल नहीं है। जिस अस्त्र द्वारा वह असुर वध किया गया था इस मंत्र में उसका भी विवरण है। ऋषि का कहना है कि त्वष्टा ने इंद्र के लिए एक दूर गिरने वाला वज्र बनाया था और उससे वृत्र का संहार करने पर जिस वेग से एक गाय अपने बछड़े की ओर दौड़ती है, धारावाही पानी भी उसी प्रकार समुद्र की ओर दौड़ चला था। इस कार्य के लिये उन्हें विशेष शक्ति की आवश्यकता हुई थी, इसलिये उन्होंने तीन प्रकार के यज्ञों में सोमरस का पान किया था। और त्वष्टा-निर्मित वज्र लेकर आप प्रथमजात राक्षस पर टूट पड़े थे।

---

1. Roth's Introduction to the Nirukta, p. 150; Muirs Sanskrit Text Vol. V (1883) pp. 95-96.

इस प्रथमसूक्त में वृत्र का संक्षिप्त विवरण दिया गया है और उस वृत्र को जगत का आवरणकारी कहा गया है। यह संसार अज्ञान से ही ढका हुआ है। अज्ञान दूर करने वाले इंद्र ने महाध्वंसकारी वज्र से उस वृत्र की भुजाओं को विच्छिन्न किया था। वृत्र कुल्हाड़ी से कटे हुए वृक्ष की नाईं भूमि पर आ गिरा था। उसके हाथ पैर काट डालने पर भी उसने अपना विक्रम बतलाया था, और उसी अवस्था में उसने युद्ध के लिये इंद्र को ललकारा था। सड़े हुए बीज की तरह उत्पादिका शक्ति दूर न होने से अज्ञान के फिर से अंकुरित होने की संभावना रहती है, हाथ पैर कटे हुए वृत्र की तुलना इससे की गई है। उस अज्ञानरूपी वृत्र का सपूर्ण विनाश करने के लिये इंद्र ने उसका सिर काट लिया। उन्होंने उसके कंधे में वज्र निक्षेप किया। वृत्र भी चुप न रहा, उसके शरीर में जब तक ताकत रही उसने इंद्र से लोहा लिया लेकिन कई जगह चोट खाकर वह गिर पड़ा। उस समय उसने जो पानी रोक रखा था वह वेग से निकलकर बह चला। अपनी जीवित अवस्था में राक्षसी माया द्वारा वृत्र ने जिस पानी को रोक रखा था, अब वह उस पानी के नीचे पड़ा रहा—धर्म की विजय-डंका बज उठी। अज्ञान के आत्मीय उस समय उसकी सहायता के लिये आ टपके। इंद्र के अस्त्र से बचाने के लिये वृत्र की माता अविद्या उस पर तिरछी होकर लेट गई। अविद्या को दूर हटाने के लिये इंद्र ने उसके अधोभाग में अस्त्र छोड़ा। तब वृत्र की माता ऊपर रही और वह नीचे रह गया अर्थात् अविद्या की ढक रखने की, और विक्षेप-शक्ति, आस पास पड़ी रहीं। वृत्र की अस्मितारूपिणी पत्नि उस समय अपने स्वामी के पास गई। लेकिन वृत्र की माता और उसकी पत्नि कोई भी उसकी रक्षा नहीं कर सकी। तब क्रोध, द्वेष इत्यादि वृत्र के अनुचर वहां सहायतार्थ आ उपस्थित हुए लेकिन इंद्र की तेज के सामने वे अंधकार की तरह मर मिटे। १।३२।६।८।

वृत्र के मर मिटने पर उसने जो पानी रोक रखा था वह बह चला। शत्रु के नाश होने पर वज्रबाहु इंद्र स्थावर जंगमों के राजा होकर राज्य करने लगे और जिस प्रकार एक चाक की परिधि (नेमि) अर (Pokes) को पकड़ी रहती है उसी प्रकार इंद्र ने दृश्यमान वस्तुओं को अपने में धारण किया, अर्थात् अज्ञान के लोप होते ही वे जीवों का स्व-स्वरूप समझ गये। उन्हीं का सहारा पाकर स्थावर-जंगमात्मक जगत ने आत्म प्रकाश किया। इसी को लेकर उपनिषद् गा उठा, "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते यतो जातानि जीवन्ति यं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तत् ब्रह्म, इति।"

वृत्र का संहार कर इंद्र ने अच्छा कार्य किया था या नहीं यह शंका उन्हें हुई थी। मूल ग्रंथ में दिया हुआ है कि यज्ञविरोधी सनकों का इंद्र के सायक से नाश हुआ था१। निर्दोष इंद्र-सेना

१, १, ३३, ४।

से लड़कर उन्होंने अपनी कमजोरी जान ली थी और वे भाग खड़े हुए थे१। वृत्र के अनुचर पृथ्वी में छा गये थे और वे बहुमूल्य पदार्थों से शोभायमान हुए थे तिस पर भी वे इंद्र को नहीं हरा सके। इंद्र ने उन्हें सूर्य के द्वारा दूर किया था। जब तक प्राणी अज्ञानान्धकार में पड़ा रहता है तब तक लोभादि उसे सताते रहते हैं। अज्ञान के दूर हो जाने से भोगविलास (विषय) सूर्य प्रकाश में खद्योत सरीखे लोप हो जाते हैं। यहां सूर्य का अर्थ आत्म-ज्ञान है, इसलिये वेद में लिखा है, "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च"। यह ज्ञान तथा अज्ञान का युद्ध है। प्रकृति के अनुसार पानी बह चला—समुद्रगामी नदियों में बाढ़ आ गई। इंद्र ने वृत्र का प्राणनाशक आयुध से कुछ दिनों में संहार किया।२

आर्य प्रकृति के उपासक थे। नैसर्गिक घटनाओं को देखकर वे भय और आश्चर्य से चकित हो गये। इसलिये प्रकृति को देवी समझकर वे उसकी उपासना करने लगे। यह धारणा दृढ़ हो जाने के सबब उन्होंने वेद की हर एक उपमा या रूपक की नैसर्गिक घटना की तरह व्याख्या की थी। इलीविश और शुष्ण का वृत्र के विशेषण के रूप में उपयोग हुआ है (१।३३।१४)। आचार्य सायण ने इलीविश का अर्थ 'गड्ढे में सोता हुआ' और शुष्ण का अर्थ 'जगत का शोषक' बतलाया है।

मरुतों ने वृत्र के साथ युद्ध के समय इंद्र की सहायता की थी। अविद्या, अस्मिता आदि जिस तरह वृत्र के सहचर थे उसी प्रकार मरुद् भी इन्द्र के सहचर थे। इन्हें आत्मगुण कहा गया है।३ ये अज्ञानान्धकार दूर कर आत्मज्ञान पाने में सहायता करते हैं।

यज्ञ में दी हुई आहुति देवताओं का भोजन है। यज्ञ करने से देवता संतुष्ट होते हैं और पानी बरसाकर लोगों का उपकार करते हैं। कालिदास ने भी कहा है "सम्पद्विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवन द्वयम्।" नरपति दिलीप ने यज्ञ द्वारा तथा देवराज इंद्र ने वर्षा द्वारा दोनों लोकों को धारण किया था। यह भी दिखलाया गया है कि इंद्र ने नदियों को रोक रखने वाले वृत्र का संहार किया था। वर्षा के कारण ही नदी में पानी भरा रहता है। वर्षा न होने से नदी का पानी भी सूख जाता है और लोगों को कृषि कार्य में कठिनाई हुआ करती है, अकाल पड़ जाने के कारण लोग काल के गाल में समाने लगते हैं। प्रथम मंडल के ५२सूक्त में इसका अच्छा वर्णन मिलता है। ऋषि कहते हैं—इंद्र की सहायता करने वाले मरुद् सोमपान से संतुष्ट होकर युद्ध-लिप्त इंद्र के सामने वर्षायुक्त वृत्र की ओर बढ़े।

ऋग्वेद के सूक्त में (१।८४) यह मिलता है कि दधीचि की हड्डी से इंद्र का वज्र बना था और उन्होंने ९९ बार उस वज्र से वृत्रों का संहार किया था। यहां और कई दूसरे स्थानों में भी 'वृत्र'

१, १, ३३, ६। २, १, ३३, ११।

३, दया, चयनसूरा, शौच, अनायास, मंगल्य, अकार्पण्य और अस्पृहा।

बहुवचन में उपयोग किया गया है। प्रथम मंडल के ११६ सूक्त के बारहवें मंत्र में सायण ने दधीचि के बारे में जो आख्यायिका दी है वह पौराणिक आख्यान से भिन्न है। पुराण के अनुसार दधीचि ने खुद ही अपनी हड्डी वृत्र वध के लिये दी थी। द्वितीय मंडल के ३० सूक्त में यह लिखा है कि वृत्र ने ऊपर उठकर सब पदार्थों को अपने कब्जे में कर लिया था। इंद्र ने उसका नाश करने के लिये उसकी ओर वज्र गिराया। वृत्र अपने को बादल में छिपा कर इंद्र की ओर दौड़ा लेकिन वह अपने को उनसे न छिपा सका और इस तरह उसकी मृत्यु हुई।

३, ३० में इंद्र को दृढ़ मूल कहा गया है और उन्होंने अकेले ही उसका संहार किया था।

३, ३२ सूक्त में इंद्र को दीप्तिमान् और वृत्र को दीप्ति रहित कहा गया है।

जैन धर्म में नारी का स्थान

ड० एस. मुखोपाध्याय, एम. ए., पी. एच. डी.

जैन सम्प्रदाय के दार्शनिक श्वेताम्बर और दिगम्बर दो सम्प्रदायों में विभक्त हैं। उन दोनों का यही सिद्धान्त है कि मनुष्य अपनी जीवित अवस्था में ही मोक्ष पा सकता है। मुक्ति या मोक्ष पाने के लिये सब बंधनों से छुटकारा पाना परमावश्यक है, तथा सब शुभ और अशुभ, पुण्य और पाप कर्मों की निवृत्ति होने से आत्मा भी मुक्त हो जाती है। दीर्घकाल-व्यापी साधना और तपस्या के साथ यथार्थ ज्ञान के उदय होने से मोक्ष मिल सकता है तथा मोक्ष प्राप्ति के लिये आत्मा की सब शक्तियों की पूर्णता आवश्यक है। सत्य-दर्शन, सत्य-ज्ञान और सत्य-चरित्र ही मोक्ष पाने का मार्ग या उपाय है। जिस प्रकार त्याग और वैराग्य से मोक्ष पाना सम्भव हो सकता है उसी प्रकार साधना और तपस्या करने की शक्ति नारी-देह में हो सकती है या नहीं इस विषय को लेकर जैन दार्शनिकों में एक विवाद उत्पन्न हुआ था और इस विवाद ने और और दूसरे सिद्धांतों से मिलकर जैन-दार्शनिकों और धर्मावलम्बियों में दो अलग अलग सम्प्रदायों की सृष्टि की थी। यह विवाद आज तक चला हुआ है। इस लेख में मैं नारियों की मुक्ति पाने की योग्यता और सामर्थ्य पर आलोचना करूंगा। जैसा कि ऊपर बतलाया गया है सत्य-दर्शनादि ही मुक्ति के मार्ग या उपाय हैं और उन्हें 'रत्न' की उपाधि दी गई है। इन्हीं

तीन रत्नों को—सत्य-दर्शन, सत्य-ज्ञान और सत्य-चरित्र—प्राप्त करना नारियों के लिये सम्भव है या नहीं इसी पर विचार करना है तथा उनकी अयोग्यता के क्या उदाहरण हैं इस पर भी ध्यान देना है।

दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्य नारियों की मोक्ष पाने की योग्यता पर विश्वास नहीं करते हैं, लेकिन श्वेताम्बरों की राय अलग है। यह किस तरह जाना जा सकता है कि अनन्त काल तक कोई भी नारी या स्त्री मुक्ति पाने के उपयुक्त साधना करने में समर्थ होगी या नहीं और वह उपयुक्त ज्ञान प्राप्त कर सकेगी या नहीं? वास्तव में यह एक कठिन समस्या है। इस प्रकार केवल शारीरिक भेद पर निर्भर हो अलग अलग मन्तव्य प्रगट करना उन तत्वदर्शियों और ज्ञानी पुरुषों के लिये उचित नहीं मालूम पड़ता। दिगम्बर आचार्य इस शारीरिक भेद को चरित्र, ज्ञान और आध्यात्मिक शक्ति भेद का प्रमापक समझते हैं। इस विषय में उनकी राय नीचे दी जा रही है—

दिगम्बरों का यह कहना है कि उपर्युक्त सत्य-दर्शनादि 'त्रिरत्न' पाना नारियों के लिये असम्भव है और इसके साथ ही साथ उनका यह भी कहना है कि उन्हें पाने की सामर्थ्य भी उनमें नहीं रहती है। पुरुषों के लिये वे कभी वन्दनीय नहीं हो सकतीं। किसी नारी ने आज तक शास्त्रोपदेश नहीं दिया है तथा आध्यात्म-मार्ग नहीं दिखलाया है; कोई आज तक अलौकिक विभूति या ऋद्धि नहीं पा सकी है; नारी मायाप्रवण होती है और माया के प्रभाव से वह कभी बच नहीं सकती। मोक्ष पाने की योग्यता रखने के लिये नारियों को पुरुष होकर जन्म लेना पड़ेगा और पुरुषत्व पाने के लिये जो जो साधनायें या सम्पदों की आवश्यकता होती है उन्हें अपनाना ही उनका परम ध्येय है। यह सत्य है लेकिन अप्रिय है तिस पर भी समाज और जगत् के हित चाहने वालों के लिये इसे कभी भूलना नहीं चाहिये। इसी सत्य पर समाज की नींव है और इसीलिये उनका देश-विदेशों में भ्रमण करना मना है। दिगम्बरों के उपर्युक्त कथन पर अब विचार करना है।

दिगम्बरों का कहना है कि 'त्रिरत्न' पाना नारियों के लिये असम्भव है। परन्तु उनके ऐसा कहने का कारण क्या है? उनके अनुसार नारियां कभी अपना वस्त्र शरीर से अलग नहीं कर सकतीं और इसीलिये 'सत्य-चरित्र' बनाये रखना उनके लिये असम्भव है। श्वेताम्बरों ने यह राय नहीं स्वीकार की है, हां इतना अवश्य है कि मोक्ष की कामना करने वालों को शरीर से वस्त्र दूर हटाना चाहिये। यदि उनका यह मतलब हो कि शरीर के साथ किसी भी दूसरी वस्तु का संसर्ग या सम्पर्क न रहे तब तो साधुओं के लिये भी मोक्ष पाना कठिन हो जायगा क्योंकि पृथ्वी की और और दूसरी वस्तुएं यथा पानी, हवा से भी उनको नाता तोड़ना पड़ेगा। जिन नारियों ने इस संसार की सभी वस्तुओं को त्याग कर, सब सुखों से हाथ धो लिया है, जिन्होंने मोक्ष पाने के लिये अपना सर्वस्व त्याग दिया है उनके लिये साधारण कपड़े को त्याग करना कुछ नहीं है। शास्त्रोपदेश के ही कारण वे कपड़ा पहना करती हैं। तीर्थंकरों ने यह उपदेश दिया है कि वस्त्र धारण करने से नारियां सहज ही में इंद्रिय-संयम कर सकती हैं। सब

रहने से दुर्बल-चित्त वाले मनुष्यों ने बचना उनके लिये कठिन हो जाता है इसी लिये उनको वस्त्र-धारण करना परमावश्यक है। यदि प्रत्येक मनुष्य संयमी होता तो बात ही निराली थी, स्त्री और पुरुषत्व भेद की कोई कला ही न रहती और तपस्विनी या मोक्ष की आशा करने वाली नारियों के लिये कपड़ा पहनने की कोई जरूरत ही नहीं थी। वस्त्र धारण करने से नारियों की कोई नैतिक दुर्बलता नहीं दिखलाई पड़ती, बल्कि पुरुषों की दुर्बलता के कारण ही उन्हें ऐसा करना पड़ता है। अब यहां पर यह प्रश्न उठ सकता है कि अगर नारियां इतनी कमजोर दिल की होती हैं कि पुरुषों से आत्म रक्षा करने में वे असमर्थ हैं और चरित्र को बेदाग रखना उनके लिये कठिन है तब वे किस तरह इंद्रियों को अपने वश में रख सकेंगी? इंद्रिय-दमन करना दुर्बल नारियों के लिये कैसे संभव हो सकेगा? लेकिन यह प्रश्न सारहीन है। यदि शारीरिक-सामर्थ्य नैतिक और आध्यात्मिक सामर्थ्य का परिचायक हुआ होता और जिसकी ताकत भी अधिक है उसकी बुद्धि और संयमशक्ति भी अधिक हुआ करती है ऐसा कोई सिद्ध कर सकता, तब तो बात ही अलग थी,—नारियों की कमजोर कह कर इस विषय में सिर-पची करने की कोई आवश्यकता न थी। जब दिगम्बर-आचार्य यह कहते हैं कि लंगड़े, लूले, बहरे और बीमार भी उत्तम गति को प्राप्त कर सकते हैं तब वे शारीरिक सामर्थ्य पर इतना जोर क्यों देते हैं यह बात ठीक ठीक समझ में नहीं आती। जब लंगड़े लूले कमजोर होकर भी मोक्ष पा सकते हैं तब शारीरिक-दुर्बलता नारियों के लिये ही मोक्ष पाने में क्यों बाधा देगी? वस्त्र धारण करना या बहिष्कार करना आध्यात्मिक उन्नति के लिये सहायक या विघ्न-स्वरूप नहीं होता। यदि माया से बचना कोई कठिन समझता है तो चाहे वह पुरुष हो या नारी उसके लिये नग्न रह कर मोक्ष पाना सर्वथा असम्भव है। गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करने वाले के लिये मोक्ष पाना असम्भव है—वह मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता क्योंकि माया से बचना उसके लिये कठिन है। वह वस्त्र धारण करता है इसलिये मोक्ष पाने का अनधिकारी नहीं है बल्कि वह माया-युक्त होकर वस्त्र-धारण करता है इसलिये। परन्तु जिसने अपना सर्वस्व त्याग दिया है उस नारी में माया कहां है? अतएव चरित्र या संयमशक्ति को वश में करने के लिये वस्त्र-धारण नहीं किया जाता है और इस पर विवाद करना मूर्खता ही है।

इसके बाद दिगम्बर आचार्यों का यह कहना है कि पुरुषों में जैसी नैतिक सामर्थ्य है नारियों में नहीं है। इस पर वे कई युक्तियां बतलाते हैं। पहली यह कि एक नारी ऐसा पाप नहीं कर सकती जिसके लिये उसे सप्तम-नरक में जाना पड़ता है। पुरुष ही हीन पाप करते हैं, नारियां नहीं। जिस प्रकार एक अति अशुभ गति को प्राप्त करना नारी के लिये असम्भव है उसी प्रकार परम शुभ गति को प्राप्त करना भी। एक पापी ही साधु बन सकता है। जिसमें नीच पाप कर्म करने की शक्ति है वही परम-पुण्य कार्य भी कर सकता है। लेकिन दिगम्बरों की यह धारणा श्वेताम्बर जैन विश्वास नहीं करते हैं। नीच कर्म के साथ पुण्य कर्म का कोई भी संबंध नहीं है। दूसरी यह कि जिन सांसारिक सम्बन्धों की

प्राप्त करना पुरुषों के लिये सम्भव है वह नारियों के लिये नहीं, जैसे चक्रवर्ती होना इत्यादि। लेकिन इससे मोक्ष का कुछ भी संबंध नहीं है। ऐसे कई मनुष्य हैं जिन्होंने सांसारिक सम्पद तो नहीं पाया है पर मोक्ष अवश्य पाया है—शास्त्रों में ऐसे उदाहरणों की भरमार है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि पांडित्य या शास्त्र-ज्ञान की न्यूनता के लिये नारियां मोक्ष नहीं पा सकतीं। पांडित्य या शास्त्र-ज्ञान के साथ मोक्ष का कुछ भी संबंध नहीं है।

तीसरी यह कि नारियों के लिये कठोर प्रायश्चित्त के बारे में कुछ नहीं पाया जाता—वह पुरुषों के लिये ही है। यह उसकी अल्प-शक्ति का प्रमाण है। लेकिन प्रायश्चित्त का स्वरूप या उसकी आवश्यकता की ओर ध्यान देने से इसकी असारता सिद्ध हो जाती है। नीच पाप के लिये कठोर प्रायश्चित्त की आवश्यकता है। यदि थोड़ा ही प्रायश्चित्त करने से नारी शुद्ध हो सकती है तो इससे पुरुष की अपेक्षा उसके शुद्धाचरण का ही पता चलता है—उसकी अल्प शक्ति की नहीं।

तदनन्तर दिगम्बरों का यह कहना है कि नारियां पुरुषों के लिये कभी वंदनीय नहीं हो सकती हैं। यह भी सार हीन है। सब पुरुषों के लिये वन्दनीय न होने से नारियों का मोक्ष पाना असम्भव है ऐसी बात तो कोई कह ही नहीं सकता। तीर्थंकरों की माताएं इंद्रादि द्वारा पूजी गई थीं और वन्दनीय भी थीं इसका उल्लेख तो शास्त्रों में मिलता ही है, इसलिये हम ऐसा नहीं कह सकते कि नारियां सब पुरुषों के लिये वन्दनीय नहीं हैं और पुरुषों के लिये वन्दनीय होना न होना इसके लिये नारियों का मोक्ष पाना कदापि असंभव नहीं हो सकता। इसके बाद दिगम्बरों का यह कहना कि किसी नारी ने आजतक शास्त्रोपदेश नहीं दिया है यह सर्वथा झूठ है। क्योंकि कई ने तत्त्वविद्या का उपदेश दिया है, इसका उदाहरण पुराणों और इतिहास में भरा पड़ा है। फिर यह कि कोई नारी आज तक अलौकिक विभूति या ऋद्धि नहीं पा सकी है। लेकिन जैसा ऊपर सिद्ध किया जा चुका है कि तृरत्न प्राप्त करना जैसा नारियों के लिये सम्भव है वैसे ही आध्यात्मिक ऋद्धि पाना भी। यदि ऐसा कहा जाय कि कोई नारी तीर्थंकर की उपाधि नहीं पा सकी है तो उसका उत्तर यही है कि तीर्थंकर की उपाधि बिना पाये ही कई मोक्ष प्राप्त कर चुके हैं। इसलिये यदि कोई नारी तीर्थंकर की उपाधि नहीं पा सकी है तो मोक्ष पाने में उसके लिये कोई बाधा नहीं है। इसके अलावा यह भी कहना है कि भविष्य में कोई नारी तीर्थंकर की उपाधि से सुसज्जित की जावेगी या नहीं इस पर पहले से ही कुछ नहीं कहा जा सकता।

दिगम्बर यह कहते हैं कि नारी मायाप्रवण है—सब माया का कारण नारी ही है। क्या पुरुष भी माया के कारण नहीं होते? नारद जैसे महर्षि भी माया के वशीभूत हुए थे। इसलिये माया-प्रवणता केवल नारियों के लिये ही है पुरुषों के लिये नहीं ऐसा नहीं हो सकता। माया से छुटकारा पाने के लिये जिस साधना और तपस्या की आवश्यकता एक नारी को है वह पुरुष के लिये भी है।

जैन धर्म में भी पुरुषों और नारियों के लिये देश विदेशों में भ्रमण करने के लिये कोई अलग विधि नहीं दी हुई है। दोनों ही देश पर्यटन कर सकते हैं और इसमें दोनों का बराबर अधिकार है। हर एक नारी के लिये देश पर्यटन करना मना नहीं है, केवल छोटे छोटे बच्चों की मा और आसन्न-प्रसूती के लिये पर्यटन करना मना है। यह निषेध तो केवल समाज और कुल-धर्म की रक्षा के लिये ही है। जिन नारियों ने समाज और कुल-धर्म की शर्तों को पूरा किया है और जिनके देश पर्यटन से समाज या कुल की कोई हानि नहीं होगी उनके लिये विदेश भ्रमण करना मना नहीं है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्रसिद्ध दार्शनिक रत्नप्रभाचार्य ने यह कहा है कि उनके समय में कई परिव्राजिका सिर मुंडन कर मोर पंख और कमंडल धारण किये तपस्या किया करती थीं। इसलिये यह कहना कि नारियों का पर्यटन मना है असत्य है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी दिगम्बरों की यह घोषणा सत्य नहीं है। वैदिक-दर्शनों को देखने से भी यह पता चलता है कि आध्यात्मिक या नैतिक योग्यता के विषय में नारियों को पुरुषों की अपेक्षा नीचा नहीं कहा है। उपनिषद् से भी गार्गी वाचक्नवीर का उल्लेख किया जा सकता है। यदि आधुनिक काल की ओर दृष्टि डालें तब भी श्री श्री रामकृष्ण परमहंस जी को पाते हैं जिन्होंने एक नारी को अपना गुरु बनाया था। वैदिक सम्प्रदाय के लोगों ने अपने आध्यात्मिक जीवन में नारियों को गुरु बनाया था। अन्त में यह कह कर इस लेख को समाप्त करना है कि दिगम्बरों के इस कथन को कि मोक्ष पाने की योग्यता रखने के लिये नारियों को पुरुष होकर जन्म लेना पड़ेगा—श्वेताम्बरों ने असत्य कहा है।

उपनिषदों के विषय में शाहज़ादा दारा शिकोह के विचार

पं० अयोध्या प्रसाद

वैदिक साहित्य में उपनिषदों के महत्त्व को प्रायः समस्त विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है, और इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं कि आर्यसंस्कृति के विकास में आध्यात्मिक तत्त्व-विषयक जिन विचारधाराओं का प्रादुर्भाव हुआ उनमे उत्तम से उत्तम विचारों का समावेश इन्हीं उपनिषद् नामक ग्रन्थों में भली भांति निहित हैं। उपनिषद् ग्रन्थ वैदिक साहित्य के बड़े अमूल्य रत्न हैं, यही कारण है कि स्वामी शङ्कराचार्य, स्वामी रामानुजाचार्य तथा भारत के अन्यान्य महात्माओं ने अपने २ दार्शनिक विचारों की पुष्टि में उपनिषदों की ही पंक्तियों का सहारा लिया है। वेदान्त दर्शन जो भारतीय दर्शन शास्त्रों में सर्वोपरि समझा जाता है उसका मूल आधार यही उपनिषद् ग्रन्थ हैं। एक शब्द में यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि उपनिषद् भारतीय संस्कृतिरूपी शरीर की आत्मा है। अतः यह निश्चित् सिद्धान्त है कि उपनिषदों के अध्ययन बिना कोई भी विद्वान् भारतीय संस्कृति के पूर्णस्वरूप से परिचित नहीं हो सकता। यही कारण है कि आधुनिक समय में भी विदेशीय विद्वानों से उपनिषदों को बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त है। योरुप और अमेरिका के कतिपय विद्वानों ने उपनिषदों का स्वाध्याय किया है और उन्होंने इनके प्रतिपादित विचारों से प्रभावित होकर उपनिषदों की प्रशंसा में निष्पक्ष होकर अपना २ विचार प्रकट किया है जिसका परिचय समय २ पर उपलब्ध होता रहता है। जिस समय भारतवर्ष में मुसल्मानों का शासन था और मुसल्मान शासकवर्ग तथा मुस्लिम जनसाधारण हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति की ओर बड़ी अवहेलना की दृष्टि से देखा करते थे, उस समय कतिपय विशाल हृदय तथा उदार मुसल्मानों में भी ऐसे महानुभाव हो गये हैं जिन्होने उपनिषदों का स्वाध्याय किया था और इनके विचारों से अत्यन्त ही प्रभावित हुये थे। आज हम "प्राचीन भारत" के पाठकों के सामने एक ऐसे ही उदारचरित्र महानुभाव के विचारों को रखते हैं जिन्होंने न केवल उपनिषदों का साधारणतया स्वाध्याय ही किया था वरन् उन पर इन उपनिषदों के स्वाध्याय का ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा था जिसे वे हृदय में गुप्त न रख सके वरन् तत्कालीन् मुस्लिम कट्टरपन्थियों की कुछ परवाह न करते हुये उपनिषदों के सम्बन्ध में अपने विचारों को स्पष्टतया प्रकट कर दिया था। इन उदारचरित्र महानुभावों में एक का शुभनाम शाहज़ादा दारा शिकोह है। आप दिल्ली के मुगलसम्राट शाहजहां के ज्येष्ठ पुत्र थे और भारत के राज्य का उत्तराधिकारी थे। शाहज़ादा दारा शिकोह ने घर पर पण्डित रखकर संस्कृत-भाषा का भली भांति अध्ययन किया था और स्वयं तत्कालीन उपलब्ध ५० उपनिषदों का संस्कृत-भाषा से फ़ार्सी भाषा में अनुवाद किया था। उनका अनुवाद किया हुआ उपनिषद् ग्रन्थ की छपी हुई प्रतियां तो शायद मिलती ही नहीं हैं।

हस्तलिखित प्रति भी किसी २ के पास भारत में विद्यमान है। एक हस्तलिखित प्रति मुझे भी किसी प्रकार प्राप्त हो गई थी जिसके आधार पर यह लेख लिखा जा रहा है।

शाहज़ादा दारा शिकोह द्वारा फ़ार्सी भाषा में अनुवादित उपनिषद का नाम "सिर्रे अकबर" (سر اکبر) है; 'सिर्रे' का अर्थ है 'रहस्य' तथा 'अकबर' का अर्थ है 'सबसे बड़ा'—अतः सिर्रे अकबर का अर्थ हुआ 'सब से बड़ा रहस्य' और वास्तव में उपनिषद् एक रहस्य ग्रन्थ है भी। अतः 'सिर्रे अकबर' नाम फ़ार्सी भाषा में बहुत ही उपयुक्त है। शाहज़ादा दारा शिकोह के हृदय में उपनिषदों के स्वाध्याय करने की प्रवृत्ति कैसे हुई तथा उन्होंने किस उद्देश्य से फ़ार्सी भाषा में इनका अनुवाद किया था तथा इन उपनिषदों के विषय में उनकी क्या सम्मति थी, इन सब प्रश्नों का उत्तर उन्होंने स्वयं अपने अनुवाद की भूमिका में उल्लेख किया है जिनका संक्षिप्त ब्यौरा इस प्रकार है—१०५० हिज्री में शाहज़ादा साहेब कश्मीर में पधारे हुये थे, उस समय शाहज़ादा साहेब को प्रत्येक सम्प्रदाय के साधु सन्तों से सत्सङ्ग करने की बड़ी उत्कट इच्छा रहती थी तथा 'तसव्वुफ़' (अध्यात्म शास्त्र) विषयक भिन्न २ ग्रन्थों के स्वाध्याय में भी रत रहा करते थे, इस सत्सङ्ग और स्वाध्याय का क्या परिणाम हुआ? शाहज़ादा साहेब लिखते हैं—

تشنگی طلب توحید که بحرلیست بےنهاست دمبدم زیاده میشد و مسلهاے رقیق بخاطر میرسید که حل آن جز بکلام الهی و أستادی ذات نامتنا هی امکان نداشت

अर्थात्—परमात्मा की एकताविषयक ज्ञान जो एक अथाह समुद्र है उसकी चाह की प्यास क्षण २ में अधिक ही होती जाती थी और यह सूक्ष्म सिद्धान्त हृदयङ्गम हुआ कि इनका हल उस परमात्मा के ज्ञान अथवा उस अत्यन्त ज्ञान सम्पन्न गुरु की वाणी बिना असम्भव है।

अब शाहज़ादा साहेब के हृदय में यह निश्चय हो गया कि अध्यात्म तत्त्वविषयक रहस्य का उद्घाटन परमात्मा की वाणी से ही हो सकती है, तब उन्होंने प्रत्येक सम्प्रदाय के धर्मग्रन्थों का जिन्हें वे परमात्मा की वाणी समझते हैं, पढ़ना आरम्भ किया जैसा कि वे लिखते हैं—

جمیع کتب سماوی با نظر دارآورده

अर्थात्—समस्त आस्मानी इल्हामों (अर्थात् ईश्वरीय पुस्तकों) पर दृष्टिपात की।

इन सब ग्रन्थों के अध्ययन का यह उद्देश्य था कि किसी २ पुस्तक में जो कोई विषय संक्षेप में वर्णित था सम्भव है वही विषय दूसरी पुस्तक में विस्तारपूर्वक वर्णित हो और उससे वास्तविक रूप से [illegible] का ज्ञान हो जाता, परन्तु इससे भी उनके उद्देश्य की पूर्ति नहीं हुई जैसा कि वे स्वयं लिखते हैं—

"نظر با توریت و انجیل و زبور و دیگر صحف
انداخت اما بیان توحید دران هم
مجمل و مرموز بود و از ترجمهاے سرسری کہ اهل غرض
کرده بودند مطلوب معلوم نگردید"

अर्थात्:—तौरित (Old Testament), और इञ्जील (New Testament) और ज़बूर (Book of Psalm) तथा अन्यान्य धर्मग्रन्थों का अवलोकन किया, ईश्वर की एकता का वर्णन उनमे भी संक्षिप्त तथा रहस्यपूर्ण रहा और स्वार्थी लोगों ने इन धर्मग्रन्थों के जो भाष्य किये थे उनसे उद्देश्य की सिद्धि न हो पाई।

अपनी मुसल्मानी धर्मग्रन्थ कुरान शरीफ के विषय में भी उन्होंने ऐसी ही राय प्रकट की है :—

وچون قران عظیم و فرقان کریم اکثرے بارموزست
ودانندہ آن رمزها کمیابند

अर्थात्—कुरान शरीफ अथवा फ़ुर्क़ान् करीम में भी प्रायः रहस्य हैं और उन रहस्यों के जानने वाले बहुत कम लोग हैं।

अतः इन उलझनों को सुलझाने के लिये शाहज़ादा साहेब ने भारत के प्राचीन आध्यात्मिक साहित्य की ओर दृष्टिपात की। उन्हें इस बात का निश्चय था कि हिन्दुओं में इस विद्या के जानने वाले लोग विद्यमान हैं परन्तु उनकी संख्या कम थी और उस काल के कट्टर मुल्ला तथा मौलवी लोग उनके विरोधी थे और उनको काफ़िर बतला कर उन्हें नाना प्रकार के कष्ट दिया करते थे। उस समय के मुल्लाओं के विषय में शाहज़ादा साहेब लिखते हैं—

خودرا علما قرار داده اندوردپے قتل
و آزار و تکفیر و انکار خداشناسان و موحدان اُفتاده

अर्थात्—वे मुल्ला अपने आपको (उलमा) विद्वान् कह कर प्रसिद्ध करते हैं और ब्रह्मज्ञानियों

तथा एकेश्वरवादियों के कत्ल करने, उन्हें काफिर बतलाने, उन्हें कष्ट देने तथा उनकी कड़ अवहेलना करने की फेर में लगे हुए हैं और उनके प्रति शाहजादा साहेब ने स्पष्ट शब्दों में लिख दिया है कि—

راهزنان راه خدایند

अर्थात् :—वे लोग परमात्मा के मार्ग के डाकू हैं।

ऐसे वातावरण में शाहजादा साहेब के हृदय में जिस तत्त्व की प्यास थी उसकी निवृत्ति तत्कालीन मुल्लाओं द्वारा अथवा साम्प्रदायिक धर्मग्रन्थों द्वारा न हो सकी। अतः उन्होंने हिन्दुओं के धर्मग्रन्थों की खोज आरम्भ कर दी और वे जिस परिणाम पर पहुंचे उसका उल्लेख आगे किया जावेगा।

(क्रमशः)

वेदान्त दर्शन

श्री सतीशचन्द्र शील, एम. ए., बी. एल.

वेदान्त (वेद + अन्त) शब्द का अर्थ है वैदिक साहित्य का अन्त अर्थात् उपनिषद्-समूह। इसका दूसरा अर्थ वेद का सारांश या उद्देश्य है। उपनिषदों में वेद में वर्णित वेदान्त-तत्व दिया गया है। परवर्ती काल में महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास (बादरायण) ने उन्हीं को ठीक ठीक सजाकर वेदान्त-दर्शन की रचना की थी। उसके बाद वेदान्त दर्शनों की सहायता से शंकराचार्यादि ने दर्शन-शास्त्रों की रचना की थी। भिन्न भिन्न आचार्यों ने वेदान्त दर्शन पर विभिन्न टीकाएं लिखकर अलग २ सम्प्रदायों की सृष्टि की थी और इस तरह नीचे लिखे बारह सम्प्रदायों की नींव पड़ी।

१। शंकराचार्य का द्वैतवाद (केवलाद्वैतवाद)।

२। रामानुज प्रवर्तित विशिष्टाद्वैतवाद।

३। मध्वाचार्य का द्वैतवाद (मध्व सम्प्रदाय)।

४। श्रीकंठाचार्य का शैवविशिष्टाद्वैतवाद)।

५। वल्लभाचार्य प्रवर्तित शुद्धाद्वैतवाद।

६ । निम्बार्काचार्य का द्वैताद्वैतवाद ।

७ । विज्ञान भिक्षु का समन्वयवाद ।

८ । काश्मीर के अभिनव गुप्त का स्पन्दवाद ।

९ । बलदेव विद्याभूषण का अचिन्त्य भेदाभेद वाद ।

१० । भास्कराचार्य प्रवर्त्तित भेदाभेद वाद ।

११ । श्रीकराचार्य प्रवर्त्तित शैवाद्वैतवाद ।

१२ । नीलकंठ का शैवविशिष्टाद्वैतवाद ।

उपर्युक्त आचार्यों ने इन मतों या सम्प्रदायों की सृष्टि नहीं की थी, उनके पहले से ही इनका प्रचार था । उन्होंने तीन श्रेणियों के ग्रंथों पर अपना अपना भाष्य लिखकर अपना स्वतन्त्र मत चलाया था । तीन श्रेणी के ग्रंथ ये हैं ।

(अ) श्रुतिप्रस्थान अर्थात् उपनिषद् (साधारणतः हर एक आचार्य ने ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक इन दस उपनिषदों पर भाष्य लिखा था) ।

(ब) स्मृतिप्रस्थान, यथा—गीता, सनत्सु जातीय शास्त्र आदि ।

(स) न्याय प्रस्थान, यथा महर्षि वादरायणकृत ब्रह्मसूत्र या वेदान्त दर्शन ।

उपर्युक्त बारह सम्प्रदायों की गणना हम साधारणतः चार मूल दार्शनिक मतों में कर सकते हैं—

१ । केवलाद्वैतवाद (Absolute monism).

२ । विशिष्टाद्वैतवाद (Qualified monism) इसमें रामानुज, श्रीकंठ, नीलकंठ, श्रीकराचार्य, अभिनव गुप्त और वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों की गणना कर सकते हैं ।

३ । द्वैतवाद (Dualism) इसमें मध्वाचार्य और बलदेवाचार्य के मतों को ले सकते हैं ।

४ । द्वैताद्वैतवाद (Dualism in nondualism), इसमें भास्कराचार्य, निम्बार्काचार्य और विज्ञानभिक्षु के मतों की गणना की जा सकती है ।

उपर्युक्त बारह सम्प्रदायों में धर्मसम्प्रदाय की तरह नीचे लिखे सम्प्रदाय भारतवर्ष में आज भी विद्यमान हैं—

१ । कबीरपंथी या ज्ञानमार्गी शंकराचार्य के अद्वैतवाद को मानते हैं ।

२ । दक्षिण के वैष्णव रामानुजाचार्य के श्री सम्प्रदाय के मानने वाले हैं ।

३। बंगाल और उड़ीसा के वैष्णव साधारणतः श्री कृष्ण चैतन्य महाप्रभु के गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के हैं।

४। वृन्दावन के वैष्णव निम्बार्क सम्प्रदाय के हैं।

५। गुजरात और बंबई के वैष्णव वल्लभाचार्य के वल्लभी सम्प्रदाय के हैं।

६। दक्षिण के शैव उपासकों में से कुछ नीलकंठ और श्रीकंठ के सम्प्रदाय के हैं और कुछ श्रीकर-सम्प्रदाय के "वीर-शैव" हैं।

७। काश्मीर के ज्ञान-मार्गियों में कई अभिनव गुप्त के सम्प्रदाय के हैं। ये अधिकतर तांत्रिक हैं।

वेदान्त दर्शन के बारह सम्प्रदायों की उपशाखाएं भी हैं लेकिन मूल से उन उपशाखाओं में भिन्नता बहुत कम है। उपर्युक्त तीन श्रेणियों के ग्रंथों के अतिरिक्त और एक श्रेणी के ग्रंथों को वेदान्त-दर्शन में ले सकते हैं—वे हैं प्रकरण ग्रन्थ। भिन्न भिन्न सम्प्रदाय के विभिन्न दार्शनिकों ने अपने अपने सिद्धान्तों को प्रचार करने के लिये जिन ग्रंथों की रचना की थी उन्हें प्रकरण ग्रन्थ कहते हैं जैसे वेदान्त सार, अद्वैत सिद्धि आदि।

वेदान्त दर्शन का दूसरा नाम उत्तरमीमांसा है। भारतीय दर्शनों को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—आस्तिक दर्शन और नास्तिक दर्शन। जो दर्शन वेद का प्रमाण स्वीकार करते हैं वे आस्तिक दर्शन हैं और जो दर्शन उसे अस्वीकार करते हैं वे नास्तिक दर्शन हैं। आस्तिक दर्शनों में ये मुख्य हैं—सांख्य, पातञ्जल, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा। इसके अतिरिक्त और भी कई सम्प्रदायों में आस्तिक-दर्शन हैं जैसे नकुलीश-पाशुपत्-दर्शन, प्रत्यभिज्ञा-दर्शन, रसेश्वर-दर्शन आदि। नास्तिक दर्शनों में से दो मुख्य हैं—बौद्ध-दर्शन और आहरत् या जैन दर्शन। भारतीय दर्शनों में केवल चार्वाक दर्शन नास्तिक है, उसे Materialistic कह सकते हैं, उसका दूसरा नाम लोकायत है। इन आस्तिक और नास्तिक ग्रंथों में वेदान्त-दर्शन का स्थान सबसे ऊंचा है और सनातन धर्म में जितने सम्प्रदाय हैं उनकी नींव वेदान्त दर्शन की विभिन्न व्याख्या पर है। अब यहां यह प्रश्न उठ सकता है कि एक ही ग्रंथ की इतनी विभिन्न व्याख्या कैसे हो सकती है? इसका उत्तर यही हो सकता है कि वेदान्त दर्शन सूत्राकार में बना हुआ है और प्रत्येक सूत्र कुछ अक्षरों से सजा हुआ है। इसलिये एक ही सूत्र की विभिन्न रूप से व्याख्या करना कुछ कठिन नहीं है। लेकिन जैमिनि ने पूर्व मीमांसा में सूत्र-साहित्य की व्याख्या करने की कुछ पद्धतियां दी हैं और उनके अनुसार हर एक सूत्र का ठीक ठीक अर्थ करना कुछ कठिन नहीं है।

महर्षि बादरायण के मत या सिद्धान्त की आलोचना करने के पहले उनके पूर्व या समसामयिक आचार्यों ने कितने प्रकार का मत या सिद्धान्त चलाया था उस पर आलोचना करना ठीक होगा।

महर्षि बादरायण ने वेद के अन्तर्गत उपनिषदों में बिखरे हुए दार्शनिक तत्त्वों का संकलन सबसे पहले नहीं किया था, उनके पूर्व भी कई आचार्यों ने वही कार्य किया था लेकिन उनका कोई भी ग्रंथ आज प्राप्य नहीं है। इसीलिये लोग यह कहा करते हैं कि महर्षि बादरायण ने ही सर्वप्रथम वेदान्त दर्शन बनाया था। उनके 'ब्रह्मसूत्र' में उन आचार्यों का मत दिया हुआ है। नीचे उस पर आलोचना की जा रही है—

१। जैमिनि—आप बादरायण के शिष्य थे और आपने ही पूर्वमीमांसा दर्शन की रचना की थी, इसलिये आपको कर्मवाद का प्रवर्त्तक कह सकते हैं। वेदान्त दर्शन के नीचे लिखे सूत्रों में आपका मत दिया हुआ है—

१।२।२८ ;	१।२।३१ ;	१।३।३१ ;	१।४।१८ ;	३।३।४० ;
३।४।१८ ;	३।४।४० ;	४।३।१२ ;	४।४।५ ;	४।४।११

२। आश्मरथ्य—ब्रह्मसूत्र १।२।२९ और १।४।२० सूत्रों में इनका मत दिया हुआ है। इन दो सूत्रों की व्याख्या करते समय शंकराचार्य और वाचस्पति मिश्र ने उनके मत या सिद्धान्त को विशिष्टाद्वैत कहा है। सम्भवतः बादरायण के पहले इनका आविर्भाव हुआ था।

३। बादरि—ब्रह्मसूत्र १।२।३० ; ३।१।११ ; ४।३।७ और ४।४।१० सूत्रों में इनका सिद्धान्त दिया हुआ है। पूर्वमीमांसा में कई जगह जैमिनि ने आचार्य बादरि के सिद्धान्तों का खण्डन किया है। इनका आविर्भाव बादरायण के पहले हुआ था और उन्होंने (बादरायण) इनके सिद्धान्तों को प्रमाण-स्वरूप ग्रहण किया था। उनके अनुसार शूद्रादि चारों वर्णों के लोगों का वैदिक कार्यों में अधिकार था।

४। बादरायण—ये 'ब्रह्मसूत्रकार' बादरायण के पूर्ववर्त्ती एक दूसरे 'बादरायण' उपाधि वाले आचार्य हैं। नीचे लिखे सूत्रों में इनका नामोल्लेख है —

१।३।२६ ; १।३।३३ , ३।४।४१ ; ३।४।८ ; ३।४।१९ और ४।४।१२ ये वैदान्तिक-आचार्य थे।

५। औडुलोमि – ब्रह्मसूत्र १।४।२१ ; ३।४।४५ ; और ४।४।६ सूत्रों में इनका सिद्धान्त दिया हुआ है। आपका आविर्भाव बादरायण के पहले हुआ था और आप 'भेदाभेदवादी' थे। उनके अनुसार मुक्त पुरुष में सर्वज्ञत्व, ऐश्वर्य और सर्वेश्वरत्वादि धर्म नहीं रह सकता। मुक्त पुरुष की आत्मा में केवल चैतन्य हुआ करता है, चैतन्य ही आत्मा का स्वरूप है।

६। काशकृत्स्न—ब्रह्मसूत्र १।४।२२ में इनका मत दिया हुआ है। आपका आविर्भाव बादरायण के पहले हुआ था, आप अद्वैतवादी थे।

७। ब्रह्मसूत्र ३।१।९ सूत्र में इनका मत दिया हुआ है। ये सम्भवतः अद्वैतवादी थे

क्योंकि बादरायण ने आपके सिद्धान्तों को स्वीकार किया है और जैमिनि ने उनका खंडन किया है। (मीमांसा दर्शन ४।३।१७ और १८ सूत्र तथा १८ सूत्र और ६।७।३५ और ३६ सूत्र)।

८। आत्रेय—ब्रह्मसूत्र ३।४।४४ सूत्र में इनका नामोल्लेख मिलता है। ये पूर्व मीमांसक और बादरायण के पूर्ववर्त्ती हैं। मीमांसा सूत्र ४।३।१८ में इनके मत को जैमिनि ने प्रमाणस्वरूप लिपिबद्ध किया है।

कुछ सूत्रों को देखने से इन आचार्यों का मत या सिद्धान्त नहीं निर्णय किया जा सकता। इससे केवल यही जाना जा सकता है कि वेदान्त दर्शन और मीमांसा दर्शन की रचना के पहले इन दर्शनों के सिद्धान्तों को लेकर आचार्यगण आलोचना किया करते थे।

महर्षि बादरायण के वेदान्त दर्शन के और भी नाम हैं, वे उत्तर मीमांसादर्शन, ब्रह्मसूत्र, वेदान्त सूत्र, शारीरक सूत्र या शारीरकमीमांसा, व्यास सूत्र या बादरायण सूत्र आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। व्यास या बादरायण द्वारा रचित होने से इसका नाम व्यास सूत्र या बादरायण सूत्र पड़ा है। वेदान्त या उपनिषदों के वाक्यों को लेकर इसकी रचना सूत्राकार में होने के सबब इसका नाम वेदान्त सूत्र पड़ा है और ब्रह्म-स्वरूप या ब्रह्म-तत्व-विषय की इसमें आलोचना हुई है इसलिये इसका नाम ब्रह्मसूत्र पड़ा है। जैमिनि के मीमांसा का नाम धर्मसूत्र या पूर्व मीमांसा है। साधारणतः मीमांसा ग्रंथों में वर्णित धर्मानुष्ठान के बाद मानवों को ब्रह्मज्ञान पाने की इच्छा होती है और इस ग्रंथ में इसी ब्रह्मज्ञान का वर्णन होने से इसका दूसरा नाम उत्तर मीमांसा है।

मानव-धर्म

पं० श्रीनाथ शर्मा 'विरल'

यतो अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स वै धर्मः ।

—कणाद ।

यह अनन्त-विश्व जड़ और चेतन का एक समन्वय है । यह समन्वय सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणुओं से लेकर बड़े से बड़े ब्रह्मांडों में अन्तरभूत है । वस्तुतः विश्व का प्रत्येक पदार्थ जड़, अचेतन और गति शून्य है । इसमे जो प्रस्फुरण, जो व्यापार, जो गति और जो प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती है उसका एक मात्र कारण किसी चेतन वा अदृश्य शक्ति का सयोग ही है । जिस तरह चेतन के बिना जड़ गति शून्य और निरर्थक है, उसी प्रकार व्यावहारिक भाषा में जड़ के बिना चेतन का भी कुछ महत्त्व नहीं है । किसी गति-शील पदार्थ को देखकर हमारे हृदय में आश्चर्य उत्पन्न होता है । इस आश्चर्य को लेकर विचार करते हुए जब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उक्त पदार्थ गति-हीन वा जड़ है और इसमें जो प्रक्रिया-प्रस्फुरित हो रही है वह किसी ऐसी चेतना शक्ति के द्वारा होती है जो उसमें अन्तर्निहित है, तो हम स्वभावतः उसकी ओर आकर्षित होते हैं, और धीरे-धीरे उस चेतनाशक्ति का अनुसन्धान और उसका जड़ के साथ सम्बन्ध आदि विषयों पर विचार और प्रयत्न करते हैं । बस, इसी विचार और प्रयत्न का नाम ही धर्म है । यही अर्थ इस 'धर्म शब्द' के धात्वर्थ से भी प्रकट होता है । धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'जोड़ना', या 'धारण' करना । अर्थात् जिससे जड़ और चेतन का एकत्र धारण किया जाय वा सम्बन्ध स्थापित किया जाय वही धर्म है ।

आप कहेंगे कि जड़ और चेतन का सम्बन्ध तो अनादि काल से है फिर धर्म कैसे स्थापित करता है ? इसके लिये मैं एक छोटा-सा उदाहरण देकर आगे बढ़ूँगा ।

मान लीजिये कि आपके पिता का एक हार्दिक-मित्र, जिसे आप नहीं जानते, आपके दरवाजे पर आ गया है । आप अपरचित समझ कर यदि हो सका तो उससे परिचय के दो-चार शब्द पूछेंगे अथवा उसकी ओर से अपनी अन्तर्दृष्टि खींच लेंगे । परन्तु यदि कोई वृद्ध-सज्जन यह कहें कि अमुक आदमी आपके पिता का एक परम हितैषी मित्र है तो सम्भव है कि आप उससे बड़े प्रेम से मिलेंगे और यथाशक्ति उसका सत्कार करेंगे । इस तरह आपको अपने पिता की सेवा करने का-सा आनन्द प्राप्त होगा । ठीक उसी प्रकार धर्म आपको जड़ और चेतन का परिचय कराता है । जब आप सृष्टि के किसी पदार्थ की आश्चर्यमयी गति वा कला देखते हैं और मननद्वारा जब आप यह भी जान लेते हैं

कि मैं भी अथवा समस्त प्राणी-जगत् वही शक्ति है, जो शक्ति इस पदार्थ में व्याप्त होकर गति पैदा करती है, तब आपको, आत्म-गत-शक्ति के साथ उक्त पदार्थ-गत-शक्ति का परिचय प्राप्त कर, अमोघ आनन्द प्राप्त होता है। बस, यही धर्म है॥ अस्तु।

अतः आपको अब प्रगट हो गया होगा कि इस समस्त विश्व के जड़ और चेतन; बाह्य और अभ्यन्तर अथवा स्थूल और सूक्ष्म नाम से दो भेद हैं। इन्हीं को दूसरे शब्दों में लोक और परलोक भी कहते हैं। महर्षि कणाद ने भी वैशेषिक में धर्म की व्याख्या करते हुए यही कहा है। उनका कहना है कि जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस अथवा लोक और परलोक की उन्नति या प्राप्ति होती है वही निश्चयपूर्वक धर्म है। लोकोन्नति का अर्थ है जड़ोन्नति। अर्थात् यह समझ लेना कि जितने परमाणुओं के संयोग से मेरी शरीर-रचना हुई है उतने ही परमाणुओं से समस्त विश्व के समस्त पदार्थ की भी रचना हुई है, जितनी आवश्यकता मुझे अपनी शरीर-रक्षा की है उतनी ही दूसरों को भी, जो वस्तु मुझमें है वह सभी में है और जिसका मुझमें अभाव है वह किसी में भी नहीं है। तात्पर्य यह कि इस समस्त ब्रह्मांड में जो कुछ भी दृश्य वा अदृश्य है वह सब का सब एक पिण्ड में भी है यही जान लेना लोकोन्नति है। इसी तरह जो चेतन समस्त ब्रह्माण्ड में है वही एक पिण्ड में भी है, यह जान लेना परलोक की उन्नति है। जिन विचारों से इन दोनों की यथावत् प्राप्ति हो वही सच्चा धर्म है और इसके विपरीत जो कुछ भी है वह सभी अधर्म वा अकर्त्तव्य है।

हम ऊपर लिख चुके हैं कि इस पिण्ड-ब्रह्मांड सृष्टि में आधि-व्याप्त चेतन एक ही है। अतः उसको प्राप्त करने का अथवा उससे परिचय करने का सत्य साधनरूप धर्म भी एकही होना चाहिये। परन्तु बात ऐसी नहीं है। आज विश्व के एक छोर से दूसरे छोर तक यदि आप खोज करें तो सम्भवतः आपको धर्म के नाम पर अनेक पन्थ और उप-पन्थ मिलेंगे। आपको यह भी पता चलेगा कि इन विभिन्न पन्थों और उप-पन्थों के सिद्धान्त भी प्रायः विभिन्न और बड़े ही विचित्र हैं। अब विचारणीय यह है कि इन विभिन्न धर्मों से किसी भी समय में किसी भी प्रकार की अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्धि हुई है या नहीं और ये सभी धर्म सत्य हैं वा असत्य; धर्म्म हैं वा अधर्म्म और कर्त्तव्य हैं वा अकर्त्तव्य।

प्राचीन-काल की बात है। यूरोप के भूगोल में एक ऐसे धर्म का घोर-प्रचार हुआ था जिसका उद्भव रोम में हुआ था। इस धर्म के मुखिया पोप के नाम से विख्यात थे। उस समय यूरोप में इन पोपों का इतना प्रभुत्व बढ़ा कि राजा तक भी इनसे डरते थे और लोग इनको ईश्वर का प्रतिनिधि समझते थे। इनकी आज्ञा भंग करना और प्राण-दण्ड पाना बराबर समझा जाता था। इसी समय इटली में एक बड़े भारी विद्वान् का अभ्युदय हुआ। इस महापुरुष ने यह सिद्ध कर दिया कि जिस तरह यह पृथ्वी दीखती है उसी तरह से अनेक ब्रह्माण्ड भी इस सृष्टि में वर्त्तमान हैं, और ये जो सितारे दीखते हैं ये सभी एक-एक लोक हैं। इस बात का प्रचार करना भी उक्त विद्वान् ने शुरू कर दिया।

परिणाम यह हुआ कि पोपों के द्वारा उस पर मुक़दमा चलाया गया। क्योंकि पोपों का कहना था कि इस पृथ्वी के अतिरिक्त और कोई दूसरा संसार नहीं है। इसके फल-स्वरूप वह विद्वान् देश से निकाल दिया गया। तदनन्तर वह फ्रान्स गया और वहां भी उसने उक्त मत का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया। बेचारा वहां से भी निकाल दिया गया। विवश होकर वह जर्मनी आया और जर्मनी से इंगलैण्ड गया। परन्तु जब वह इंगलैण्ड से भी निकाल दिया गया तो फिर स्वदेश लौट आया। स्वदेश आने पर उसने पुनः अपने मत का प्रचार करना शुरू किया। फल यह हुआ कि पोपों की काली-करतूत से वह विद्वान् जीते-जी अग्नि में भस्म-सात कर दिया गया। परन्तु जब यूरोप के इतिहास ने पल्टा खाया, जब विज्ञान का अभ्युदय होने लगा और जब पोपों और पादरियों के धर्म के साथ देश का भारी अहित देखा गया तब इन पादरियों के विरुद्ध एक भीषण क्रान्ति भभक उठी और पोप ढूँढ ढूँढ कर मारे जाने लगे। फल यह हुआ कि यूरोप धर्म की बेड़ी से मुक्त हुआ और विज्ञान की चरम उन्नति पर पहुँचा।

इस्लाम ही को लीजिये। पुराने समय में जब फ़ारस, अरब और ईरानादि मुल्कों में इस्लाम का प्रचार ज़ोरों पर था उस समय मुल्लाओं और पैगम्बरों का बड़ा दौर-दौरा था। रोम के पोपों की तरह इनकी भी शान सातवें आसमान पर नाच रही थी। मुसल्मानी औरतों का परदे से बाहर आना बड़ा भारी गुनाह माना जाता था। उस समय 'हवीवुलऐन' नाम की परम सुन्दरी महिला को, जिसने यह प्रचार किया था कि औरतों को भी मरदों के बराबर ही अधिकार प्राप्त है और परदे के अन्दर रहना पाप है, फांसी का दण्ड मिला था। इसी प्रकार जब मन्सूर और सोक्रटीस आदि विद्वानों ने यह बताया कि खुदा आसमान में ही नहीं वरन् सभी प्राणी के हृदय में व्याप्त है, तब इन बेचारों को सूली पर लटका दिया गया था। अधिक दूर जाने का कष्ट न उठाइये। आप अपने भारतीय इतिहास को ही लीजिये और उसके पन्ने उलटिये। मुझे विश्वास है, आपको मालूम होगा कि समृद्धिशाली हिन्दू-राज्य के अतुलवैभव, अनुपम-सभ्यता, अद्वितीय-संस्कृति तथा अमोघ-शक्ति का नाश उन आडम्बर-धारी पण्डितों और उनके अनुयायी क्षत्रियों ने किया जो कहलाने को सनातनी थे पर काम करते थे सड़ातनी का। आप देखेंगे कि उन लोगों ने भारतीय तन को इतना सड़ा डाला कि उसका पुनरोद्धार होना असाध्य नहीं तो कष्ट-साध्य अवश्य है। रोम के पोपों की तरह जब तक ये आडम्बरधारी पण्डित दण्ड नहीं पाएगे, जब तक यहां का अज्ञानान्धकार दूर नहीं किया जायगा तब तक भारत-वैभव का प्राचीन सूर्य जो पश्चिम में चमक रहा है फिर पूरब नहीं आ सकता। अस्तु।

उपर्युक्त विवेचन से अब आपको प्रगट हो गया होगा कि आज विश्व में जितने धर्म फैले हुए हैं उनमें किसीसे भी, किसी भी समय में किसी भी लोक की न तो उन्नति हुई है और न हो सकती है, प्रत्युत हानि ही हुई है और होने की अधिक सम्भावना है। अतएव ये धर्म, धर्म नहीं कहे जा सकते। इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर पश्चिम के एक विद्वान् ने यहां तक कह डाला कि—"Religion

is a kind of opium for human kind" अर्थात् धर्म मनुष्य-जाति के लिये एक प्रकार की अफयून है जो पागल बना कर हित को अहित और अहित को हित बताती है।

प्रिय पाठक! सम्भवतः आप पूछ सकते हैं कि यदि उपर्युक्त आधुनिक सनातन अथवा प्राचीन रोमन, इस्लाम धर्म, धर्म नहीं है तो धर्म क्या है और उसकी सच्ची पहचान क्या है? मैंने इस प्रश्न का उत्तर पहले ही महर्षि कणाद के शब्दों में दे दिया है। आइये उसी उत्तर को दूसरे शब्दों में बता दूं। यह बात सर्वशास्त्र सम्मत है कि—"सत्यमेव धर्मः। सत्यं शिवं सुन्दरम्।"

सत्य ही धर्म है। सत्य वही है जो शिव (कल्याणकर) है। जो शिव है वही सुन्दर है। अतएव सिद्ध हुआ कि जो कर्म सत्य, शिव और सुन्दर भी हो वही धर्म और जो इसके प्रतिकूल हो वही अधर्म है। यही धर्म की सच्ची पहचान है और है उसकी आत्यन्तिक व्याख्या।

यदि आप यह समझें कि मैं वेदनिन्दक एक भारी नास्तिक हूँ तो आप जबरदस्त भूल करेंगे। मैंने तो धर्म के उसी स्वरूप को आपके समक्ष रखा है जिसको अनन्त-विज्ञानवादी वेदों ने विस्तृत रूप में कहा है; मनु, कणाद तथा अन्य ऋषियों ने जिसकी विशद-विवेचना की है; जिसको भूल जाने से भारतवर्ष का भयानक-पतन हुआ है और जिसके शुद्ध-स्वरूप को महर्षि स्वामी दयानन्द जी ने बड़े प्रयत्न से परिष्कृत कर विश्व में पुनर्प्रकाशित किया है। धर्म का यह स्वरूप वही सत्य धर्म है जिससे भारत की सामाजिक, राजनैतिक, शारीरिक और मानसिक शक्तियों का चरम उत्कर्ष हुआ था।

हां, तो मानवधर्म क्या है? यह बात बतला कर हम अपने लेखको समाप्त करेंगे। धर्म का राष्ट्रीयता के साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। धर्म और राष्ट्रीयता का यह अमिट-सम्बन्ध अनादि-काल से चला आ रहा है। धर्म वहीं है जहां राष्ट्रीयता है। राष्ट्रीयता के अभाव में धर्म की कोई कीमत ही नहीं है और न है इसकी आवश्यकता। राष्ट्रीयता का नाम ही लोकोन्नति करना है। गीता में योगीराज श्री कृष्ण जी ने भी, "स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मः भयावहः" कह कर स्वशब्द से राष्ट्रीयता का ही निर्देश किया है। धर्म और राष्ट्रीयता का सम्बन्ध क्या है, इस पर एक स्वतन्त्र लेख यदि हो सका तो दूसरे अंक में लिखूंगा, यहां हम संक्षेप में यही कहेंगे कि यह संसार परिवर्तनशील है। इस परिवर्तन के साथ-साथ मानव-मनोवृत्तियों का भी परिवर्तन हो जाता है। मनोवृत्तियों के बदलने से उन्नति के दृष्टिकोणों का बदलना स्वाभाविक ही होता है। अतः सत्य धर्म का भी रूपान्तर होता है। एक बात और है। यदि हिन्दू शास्त्रों के अनुसार ईश्वर नर और पशु आदि का अवतार ले सकता है तो वह किसी विश्व-व्यापी भावना के रूप में भी प्रगट हो सकता है आज ईश्वर राष्ट्रीय-भावना के रूप में प्रगट हुआ है और उसकी उपासना करना मानव-समाज का परम धर्म है। क्योंकि इसीसे लोक और परलोक की उन्नति हो रही है और सदैव होगी—इसी को कहते हैं हम मानव-धर्म, विश्व-धर्म—और यही है आधुनिक युग-धर्म।

काशी राजघाट की खुदाई

श्री वासुदेव शरण अग्रवाल

काशी भारतवर्ष की सप्तमहापुरियों में गिनी जाती है। इसका इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। कहा जाता है कि राजा दिवोदास ने गंगा और गोमती के बीच की भूमि पर काशी जनपद की स्थापना की थी। इस काशी जनपद की राजधानी वाराणसी थी जिसे आजकल बनारस कहते हैं। पुरानी काशी के खण्डहर काशी नामक रेलवे स्टेशन के पूर्व की ओर मीलों तक फैले हुए हैं। अभी तक पुरातत्व की दृष्टि से काशी के प्राचीन टीलों की जांच का कोई प्रयत्न नहीं हुआ था और इसीलिये काशी का प्राचीन इतिहास भी अंधेरे में था। बनारस से कई मील दूर कमोली नामक गांव में बहुत से ताम्रपत्र प्राप्त हुए थे जो इस समय लखनऊ के अजायब घर में सुरक्षित हैं। ये ताम्रपत्र राजा गोविन्द चन्द्र के समय के हैं और इनमें उसके द्वारा ब्राह्मणों को दान में दिये हुए गांवों का उल्लेख है। राजा गोविन्द चन्द्र ने कन्नौज को राजधानी बनाकर बारहवीं सदी के प्रारम्भ में (११०५–११५५ ई०) एक विशाल साम्राज्य पर शासन किया जिसके अन्तर्गत बनारस भी था। यद्यपि बनारस के समीप सारनाथ नामक स्थान से पुरातत्व संबंधी बहुमूल्य सामग्री पहिले मिल चुकी है जो मौर्य सम्राट् अशोक से लेकर लगभग राजा गोविन्द चन्द्र के समय तक की है तथापि स्वयं काशी में इस प्रकार के अतीत इतिहास पर अभी तक पर्दा ही पड़ा था। हर्ष की बात है कि पिछले जाड़े में राजघाट के पुल के पास रेलवे विभाग के अधिकारियों ने मिट्टी के लिये पुराने टीलों को खोदना शुरू किया। उस खुदाई में बहुत सी प्राचीन मिट्टी की मूर्तियां और मोहरें मिलीं, जिससे गुप्तकालीन काशी की कला का एक बड़ा भण्डार जनता के सामने प्रकट हो गया। कई महीनों बाद भारतीय पुरातत्व विभाग ने भी उसी स्थान के पास नियमानुसार खुदाई का काम शुरू किया और उनको भी पुराने खिलौने और मोहरें मिलीं। सौभाग्य से रेलवे की खुदाई में गोविन्द चन्द्र देव का एक नया ताम्र पत्र भी प्राप्त हुआ जो इस समय भारत कला भवन में सुरक्षित है। एपीग्राफिका इण्डिका में इसके सम्पादन और प्रकाशन का प्रबन्ध हो रहा है। रेलवे की खुदाई में जो सामग्री प्राप्त हुई है उसका अधिकांश भाग भारत कला भवन काशी में ही सुरक्षित है।

इस सामग्री के मुख्य दो भाग हैं। पहिले वर्ग में अनेक सुन्दर मिट्टी की मूर्तियां या खिलौने हैं जिनमें अधिकांश स्त्रियों के मस्तक हैं। इनके केश विन्यास बहुत ही सुन्दर हैं। गुप्तकालीन समाज में स्त्रियों में नाना प्रकार के प्रसाधनों का बहुत चलन था। नारी के रूप को संवारने के

लिये प्रसाधन के कार्य में निपुण स्त्रियां नियुक्त की जाती थीं जिन्हें प्रसाधिका कहते थे। महाकवि कालिदास ने पार्वती के मंडन या रूप संवारने का वर्णन करते हुए प्रसाधन के लिये आई हुई स्त्रियों का उल्लेख किया है। परिवार की और पुरन्ध्रि स्त्रियां बड़े उत्साह से नववधू के मण्डन में भाग ले रही थीं। अनेक प्रकार के पुष्प, सुगंधित द्रव्य आभूषण और रेशमी वस्त्रों का प्रयोग प्रसाधन के लिये होता था। कवियों ने बड़े चाव से ऐसे दुकूलों का वर्णन किया है। जिनके छोर पर सुन्दर रंगों में हंस की आकृतियां बनी रहती थीं। सम्भव है कि वस्त्रों को बुनते समय ही कौशल से इन आकृतियों का संनिवेश कर दिया जाता था। कालिदास ने जिस प्रकार 'कलहंस लक्षण दुकूलों' का वर्णन किया है उसी प्रकार बाणभट्ट ने भी हंसों से सनाथ प्रान्त भाग वाले रेशमी वस्त्रों का वर्णन किया है। ऐसा विदित होता है कि प्रसाधन और मंडन की यह उत्कृष्ट परम्परा चौथी शताब्दी से लेकर सातवीं शताब्दी तक विद्यमान रही। अलका की स्त्रियों के केश-विन्यास का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है कि उनके अलक नये खिले हुए कुन्द के फूलों से गुथे जाते थे, उनके सीमन्त में वर्षा ऋतु में होने वाले कदम्ब के पुष्प सजाये जाते थे और केशपाश में कुरबक के फूलों का उपयोग होता था। अलक सीमन्त और केशपास ये शब्द केशरचना की दृष्टि से पारिभाषिक अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। इन तीनों के उदाहरण राजघाट में उपलब्ध स्त्रियों के मस्तकों में पाये जाते हैं। अलक से तात्पर्य घुँघराले केशों से है। इस रचना में किसी मसाले के द्वारा बालों की लट बनाकर उनमें घुमाव लाया जाता था। टीकाकारों ने अलक का पर्याय चूर्ण कुन्तल लिखा है। वह यह प्रकट करता है कि इस प्रकार की केश रचना के लिये एक चूर्ण अथवा द्रव्यपदार्थ काम में लाया जाता था जिसके कारण लटों में बल पड़ जाते थे। कालिदास ने रघुवंश ८।५३ में लिखा है कि हवा इन्दुमती के फूलों से गुथे हुए भौंरे की तरह काले केशों को (वलीभृतः अलकान्) जिनमें बल पड़े हुए थे इधर उधर उड़ा रही थी। अलकों का वलीभृत् विशेषण बहुत उपयुक्त है। वलीभृत् का नाम ही वेल्लित केश अर्थात् घुँघराले बाल जान पड़ते है। विराटपर्व ९।१ में द्रौपदी के केशों को वेल्लित कहा गया है। इस प्रकार के बटे हुए या टेढ़े केशों को छल्लेदार या घुँघराले कहा जा सकता है। लटों को अलकों के रूप में बटने से उनकी लम्बाई स्वभावतः कम हो जाती थी। मिट्टी के खिलौनों में अलकों की यह विशेषता स्पष्ट सूचित की गई है। जिस समय वियोग में यक्षिणी ने केशों का संस्कार छोड़ दिया था उस समय के बालों को कवि ने लम्बालक या लम्बी लटकती हुई अलकावली कहा है। सामान्यतः अलकों की रचना ललाट के ऊपर से होती हुई कपोलों तक रहती थी, टीकाकारों ने सीमन्त का पर्याय केशवीथी या मांग लिखा है। चूड़ापाश बालों के जूड़े को कहते थे जिसके चारों ओर और भीतर भी पुष्पों की माला गुंथी जाती थी। इसी का नाम मौलि था। कालिदास ने मोतियों की माला से मौलि गुंथने का वर्णन किया है (रघुवंश १७।२३) कुछ खिलौनों में एक विशेष प्रकार की

केशरचना है जिसमें मांग के दोनों ओर बालों का समुदाय शहद के छत्ते की तरह झंझरीदार सा जान पड़ता है। संस्कृत में इसे मधुपटलविन्यास और हिन्दी में छत्तेदार बाल कह सकते हैं। अंगरेजी में इसके लिये Honeycomb design शब्द है। यह फैशन लगभग इसी काल में रोम नगर की स्त्रियों की केशरचना में भी पाया जाता है।

राजघाट के खिलौनों की एक विशेषता उन पर पाये जाने वाले भांति २ के रंग हैं। यह रंग साधारण कुम्हारों द्वारा किये हुये नहीं मालूम पड़ते। इनमें कुशल चित्रकारों की तूलिका से बनी हुई चित्रकारी पाई जाती है। एक स्त्री-मूर्ति की साड़ी को लाल और सफेद रंग की लहरियों से चित्रित किया गया है। इसी मूर्ति में काली रंग की कुचपट्टिका दिखाई गई है। एक छोटी बालक-मूर्ति के जांघिये में खड़ी दुरंगी धारियां बनाई गई हैं। ये दोनों ढंग अजन्ता की गुफा के भित्ति चित्रों में मिलते हैं (राजा साहब औंधकृत अजन्ता चित्र ६५ और ६९)। कुछ स्त्रियों के मस्तकों में चित्रकार ने बहुत सावधानी से काली रेखाओं द्वारा सिर के बाल, भुजाओं के केयूर, कण्ठहार और स्तनहारों को भी बनाया है। कुछ में नेत्रों के पलक और भ्रूलताओं की काली रेखायें स्पष्ट दिखाई देती हैं। जान पड़ता है कि पकाने के बाद ये खिलौने कुम्हार के हाथ से निकल कर चित्रकार के सुपुर्द कर दिये जाते थे। इससे भी अधिक सम्भावना इस बात की है कि जो कुशल कारीगर इनको बनाते थे उनमें ही इनके चित्रण की कारीगरी भी थी। कालिदास ने शकुन्तला नाटक के सातवें अंक में भरत के एक खिलौने का वर्णन करते हुए उसे 'वर्णचित्रित मृत्तिका मयूर' लिखा है। यह विशेषण राजघाट के रंगीन खिलौनों पर भी ठीक घटता है। खेद है कि इस प्रकार की चित्रकारी अब थोड़े ही खिलौनों पर शेष है। इलाहाबाद के पास के भीटा नामक प्राचीन स्थान से भी गुप्तकालीन रंगीन खिलौने पहले मिल चुके हैं जिनका विशेष अध्ययन अब किया जाना चाहिये। (दे० पुरातत्त्वविभाग की रिपोर्ट, १९११-१२)। अफगानिस्तान के कपिशा नामक स्थान (काबुल से लगभग ५० मील उत्तर आधुनिक बेग्राम) से भी गुप्त काल के रंगीन स्त्री मस्तक प्राप्त हुए थे जो इस समय काबुल के अजायब घर में हैं (नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ४४, पृष्ठ २०७)। अवश्य ही गुप्त काल भारतीय प्रसाधन कला, चित्र-कला और मृण्मय मूर्तिकला का एक स्वर्ण युग था। इन खिलौनों में कुछ खिलौने कला की दृष्टि से अपूर्व सौष्ठव का परिचय देते हैं। इनमें अशोक वृक्ष के नीचे झूले पर झूलती हुई एक स्त्री की मूर्ति अत्यन्त सुन्दर है। एक छोटे बालक की भोली मूर्ति और मृदंग बजाते हुए एक मार्दंगिक या ढोलची की मूर्ति भी बड़ी आकर्षक हैं। एक ठिकरे पर किन्नर मिथुन की आकृति अंकित है। एक बड़ी विचित्र मूर्ति लुब्धक या बहेलिये की है जो खुले बटनों का भारी कोट लादे हुए दिखाया गया है और एक हाथ में रस्सी में बंधे हुए हिरन को पकड़े है। ऐसी मूर्ति अबतक और किसी जगह से नहीं मिली है।

राजघाट में प्राप्त सामग्री के दूसरे वर्ग में बहुत सी मोहरें हैं। यह अधिकांश गुप्त लिपि

में है। कुछ मोहरें राजाओं की है, कुछ अधिकारियों और अमात्यवर्ग की है, कुछ श्रेणियों और निगमों की है, कुछ धार्मिक स्थानों या मन्दिरों की है, कुछ विदेशी पुरुषों के मस्तकों से अंकित है और बहुत सी सामान्य व्यापारीवर्ग या जनता की है। मन्दिरों की मोहरों में एक मोहर गभस्तीश्वर की है। स्कन्दपुराण के काशीखंड में ज्ञानवापी का वर्णन करते हुये गभस्तीश महालिंग का उल्लेख है (अध्याय ३३)। इस मोहर का उसी शिवलिंग के मन्दिर से संबन्ध जान पड़ता है। इसी अध्याय में अविमुक्तेश्वर शिवलिंग का भी वर्णन है और यह नाम भी एक बड़े मोहर पर पढ़ा गया है जिसपर एक वृष मूर्ति है और कुठारयुक्त त्रिशूल अंकित है। राजकीय मोहरों में एक महा सेनापति रुद्रमघ की है जो संभवतः कौशाम्बी के मघ वंश का था। यह कुषाण लिपि में है। राजा अभय और राजा नन्द की मोहरें नई हैं। अमात्य जनार्दन की बहुत सी मोहरें हैं। एक मोहर पर अमात्य कपिल्क और दूसरी पर 'अमचहथिक' (अमात्य हस्तिक) लिखा हुआ है। एक मोहर काशी के राज्याधिकारी के दफ्तर की है जिसपर 'कुमारामात्याधिकरण' लिखा हुआ है। एक मोहर पर भिषक विहार के स्थविर भिक्षु सघ का उल्लेख है जो कुशाणकालीन है। हरिषेण के नाम की बहुत सी मोहरें हैं और उसी प्रकार राजा धनदेव की मोहरे भी गिनती में सबसे अधिक हैं। श्रीदेव देव स्वामिन् और देवरात स्वामिन् की मोहरें विद्वान् ब्राह्मणों की जान पड़ती हैं। एक मोहर पर शुंगकालीन लिपि में 'फाल्गुनिमित्र' का नाम है।

कुछ मोहर बड़े रोचक हैं जिनपर गुप्तकालीन सोने और चांदी की मुद्राओं पर मिलने वाली मूर्तियों से मिलती जुलती मूर्तियां है इनमें लक्ष्मी, वीणावादन, सिंहदमन, नाचते हुए मोर और पलंग पर बैठे हुए सम्राट् की मुद्राओं से समानता रखने वाली मोहरे विशेष उल्लेखनीय हैं। एक दूसरे प्रकार की मोहरें विशेष महत्वपूर्ण हैं जिनपर रोमदेशीय वृद्ध और युवा पुरुषों के जैसे मस्तक अंकित है। भारतवर्ष का इस युग में रोमदेश के साथ व्यापारिक सबन्ध बहुत बढ़ा चढ़ा था जिसका वर्णन उस देश के लेखकों ने किया है। इसकी पुष्टि इन मोहरों से होती है।

राजघाट में प्राप्त सामग्री बड़ी रोचक और ऐतिहासिक महत्त्व की है। उसका सचित्र वर्णन पुस्तकाकार प्रकाशित होना चाहिये।

विविध-विषय

प्राचीन बौद्ध-धर्म में वेदान्त और सांख्य

एफ. ओटो श्रेडर

प्राचीन बौद्ध धर्म से मेरा अर्थ बुद्ध जी की शिक्षा से है जो कि साधारणतः निकायों में ही परिदर्शित है। इस विषय में मेरी राय प्रो० शरबस्की (Stcher batsky) से बहुत कुछ मिलती जुलती है। जहां तक मैं समझता हू आज तक किसी ने यह अविश्वास नहीं किया है कि बुद्ध के समय में भी किसी न किसी अंश में 'वेदान्त' प्रचलित था। निकायों के अनुसार वेदान्तवादियों से वे बहस किया करते थे जैसा कि ब्राह्मणों की बस्ती मनसाकट में दो ब्राह्मण आपस में 'ब्रह्म-सहव्यता-मार्ग' पर वार्तालाप करते हुए दिखलाये गये हैं। परंतु यहां और कई दूसरे स्थानों में भी सूत्त केवल ब्रह्म और उनकी दुनिया के बारे में ही कहता है जिनका बौद्धों के अनुसार एक स्थान अवश्य था। बौद्ध धर्म की गवेषणा करने वाले कई बड़े बड़े विद्वानों ने कहा है कि निकायों में ब्रह्म का उल्लेख नहीं है। लेकिन तेविज्ज-सुत्त (दीघ निकाय) से यह स्पष्ट है, "य न जानाम यं न पस्साम तस्स सहव्यताय मग्गं देसेम"। यही वार्त्ता कई उपनिषदों में भी कुछ हेर-फेर के साथ मिलती है,

यथा—

नैव वाचा न मनसा प्राप्तु शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोन्यत्र कथं तद् उपलभ्यते॥

(कठोपनिषद ६।१२)

तथा—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनो।
न विद्मो न विजानीमो यथैतद् अनुशिष्यत्॥

(के० उ० १।३)

इसी प्रकार के और भी कई उदाहरण दिये जा सकते हैं जिससे यह कहा जा सकता है कि बुद्ध ने जानबूझकर अथवा अज्ञानता वश हो प्राचीन पोथियों से थोड़ी बहुत सामग्री अवश्य ली थी। अलगद्दूपम-सुत्त (मज्झिम निकाय) में एक जगह बुद्ध ने ब्रह्म के बारे में कहा है, "पृथ्वी और मनुष्य दोनों अलग २ नहीं बल्कि एक हो हैं, मिट्टी से ही मनुष्य की उत्पत्ति होती है, मृत्यु के बाद में भी

इसी पृथ्वी की मिट्टी में मिल जाऊंगा, फिर मुझमें कोई परिवर्तन नहीं होगा.........।" क्या बुद्ध की यह वक्तृता छांदोग्योपनिषद के 'तत् त्वम् असि' से मिलती जुलती नहीं है ! वह यद्यपि गौड़पाद तथा शंकराचार्य के अद्वैतवाद सरीखे नहीं था तथापि इसमें अद्वैतवाद की बू अवश्य परिलक्षित है। शंकराचार्य के अद्वैतवाद का बुद्ध के समय में नहीं बल्कि उसके बाद प्रचार हुआ था इसलिये हम उसका प्रभाव नहीं कह सकते। हां बौद्धों पर उसका प्रभाव अवश्य पड़ा था लेकिन बाद में।

क्या बुद्ध के समय में भी सांख्य का प्रचार था ! प्रो॰ टी॰ डबल्यु राइस डेविड्स (T. W. Rhys Davids) ने मुझे कहा था कि सांख्य की उत्पत्ति बौद्ध-धर्म से हुई थी। लेकिन मेरी धारणा बिलकुल उलटी है। बौद्ध धर्म की नींव के पहले भी सांख्य का प्रचार था—उन दिनों में सांख्य जड़ पकड़ रहा था उसका विस्तार नहीं हो पाया था। इस विषय में कठोपनिषद और मुंडकोपनिषद उल्लेख योग्य हैं। बुद्ध पर भी उनका ही प्रभाव पड़ा था, और इस विषय में निकायों में क्या लिखा है अब हम उसका विचार करते हैं।

ब्रह्मजाल-सूत्त में एक विचार पाया जाता है जिसमें कुछ लोग सांख्य की झलक देख पाते हैं। ऐसे विचार किसी न किसी रूप में उस समय विद्यमान थे। बुद्ध ने उनमें कुछ हेर-फेर कर उन्हीं को दुहराया है। उदाहरण स्वरूप एक शब्द 'कूटट्ठ' देखिये जो कि सांख्यों का कूटस्थ (=पुरुष) है। यह भगवद्गीता (सांख्य प्रभाव पड़ने पर) के—क्षरः सर्वाणि भूतानि, कूटस्थोक्षर उच्यते—से मिलता जुलता है। इससे सांख्यों का 'कूटस्थ-नित्यत्व' और 'परिणामि-नित्यत्व' का बोध होता है; इसे हम सांख्य की रीढ़ कह सकते हैं। इससे एक ओर प्रकृति और दूसरी ओर पुरुष का बोध होता है। अतएव यह सिद्ध होता है कि बुद्ध के पहले भी सांख्य का प्रचार था।

बुद्ध का कहना है कि 'अत्तवादुपादान' का प्रभाव एक भ्रांत मनुष्य पर ही हो सकता है उन पर नहीं, क्योंकि उनका यह विश्वास है कि इस संसार में न तो 'अत्ता' (आत्मन्) ही है और न 'अत्तनिय' (आत्मीय) ही, इसलिये उन्होंने नेतं मम, नेसोहं अस्मि, न मेसो अत्ता आदि की घोषणा की थी।

अब बुद्ध ने पुरुष और प्रकृति के बारे में क्या कहा है उस पर विचार करना है। निकायों में मन की गणना इंद्रियों में की गई है और विञ्ञाणम् को पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु के साथ एक धातु कहा गया है। बुद्ध के अनुसार अनंत परिवर्तन कोई ऐसे मार्के की वस्तु नहीं थी लेकिन 'परिणामि-नित्यत्व' आपत्तिकर था। उनके अनुसार यह संसार हर तरह से अनित्य और अनात्मन् है और पुरुष तथा प्रकृति को बिना समझे निर्वाण पाना कठिन है। परमेश्वर की महिमा अपरम्पार है, उनका ज्ञान प्राप्त करना बहुत कठिन है इसलिये साधारण के विवेक पर बुद्ध ने अधिक जोर नहीं दिया है क्योंकि

सभी मनुष्य बड़े २ दार्शनिक नहीं हैं। उन्होंने इस नाशवान संसार पर ही बहुत कुछ कहा है। यही कारण है कि बुद्ध हमेशा 'आत्मन्' से युद्ध करते रहे।

उपर्युक्त विचारों से हम यह कह सकते हैं कि वेदान्त और सांख्य दोनों बुद्ध के समय प्रचलित ही नहीं थे बल्कि बौद्ध-धर्म-गठन में उनका विशेष प्रभाव भी पड़ा था। वेदान्त का प्रभाव साधारण था लेकिन सांख्य का प्रभाव गहरा था क्योंकि उसका मनोवैज्ञानिक द्वैतवाद बौद्ध-धर्म-गठन का आधार बना था।

—लेखक का सारांश

'प्रभास'

वैदिक समय का एक मुक़द्दमा

गोभिल ने कहा है कि लड़की और लड़के दोनों माता-पिता के शरीर से उत्पन्न हुए हैं अतएव दोनों धन के अधिकारी हैं—

"अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।
मिथुनानां विसर्गादौ॥"

इस पर निरुक्तकार यास्क कहते हैं कि लड़की बाप के धन की भागिनी नहीं होती पुत्र ही धन का अधिकारी है—

"न दुहितर इत्येके तस्मात् पुमान्दायादोऽदायादास्त्री।"

इस पर निरुक्तकार की युक्ति है कि कन्या दूसरे के घर चली जाती है। सम्पत्ति दूसरे के यहां जाने पर कुल में दरिद्रता आ जाती है उसे धन देना ठीक नहीं। उसका स्वयम्बर होता है। वह मन चाहे पुरुष को पति बनाती है। वह पितृवश की नहीं, किसी २ अवस्था में शुल्क लेकर कन्या विक्रय भी होता है। यथार्थ में वह न माता-पिता की है और न उनके धन को पा सकती है।

वेद में विधान है कि जिसे भाई नहीं हो उसके साथ कोई पिता अपने पुत्र का विवाह नहीं करे। सम्भव है कि उससे पुत्र उत्पन्न नहीं हो उसमें अपनी माता का रोग कन्याप्रजनन आ गया हो—

"अभ्रातर इव योषास्तिष्ठन्तिहतवर्त्मनः।"

(अ० १।७।१)

जिस स्त्री को अपना भाई नहीं है वह पुत्रवती होने पर भी पूरा आदर नहीं पाती। पतिगृह के लोग उससे कहते हैं कि तुम्हें भाई नहीं है अतएव तेरे बाप का हिस्सा तेरे लड़के में है। तेरा लड़का अपने नाने का श्राद्ध करेगा। यदि पुत्र उसे नहीं हुआ और पति भी जीता नहीं रहा तो उसकी बड़ी दुर्दशा होती है। उसे कोई पूछता नहीं। उस दशा में पहले वह न्यायालय में जाती थी। उसे किसी वकील की आवश्यकता नहीं होती। किसी स्टाम्प के क्रय के लिये पैसा नहीं ले जाती थी, उसका काम इतना ही होता था कि कचहरी में एक काठ का टुकड़ा रखा रहता था। उसी पर खड़ी होकर पासा फेक देती थी। उसके ससुराल के लोग बुलाये जाते थे। उनसे उसे पर्याप्त धन दिलवा दिया जाता था। उस समय शपथ खानी नहीं पड़ती थी कि मैं सच बोलूंगी। जो काठ के स्थाणु पर खड़ी हुई उसका अभिप्राय यही हुआ कि यहां अवश्य सच बोलना है। वैदिक समय के मुकद्दमें का कैसा सरल दृश्य है। आज कल इस ढंग के मुकद्दमों में बर्षों लग जाते हैं। खर्च की कोई चर्चा नहीं की जा सकती। इस विषय का वर्णन ऋग्वेद और निरुक्त में यों है—

"गर्तारुगोवसनयेधनानाम् ।" (ऋक्)

गर्तः सभास्थाणुर्गृणातेः। सत्यसङ्गरो भवति। तं तत्र याऽपुत्रायाऽपतिका साऽरोहति तां तत्राक्षैराघ्नन्तिसारिकथं लभतेति।

निरुक्तकार की राय है कि स्त्री के काष्ठस्थाणु पर खड़े होते ही दूसरे उसके शरीर से पासा छुला देते थे जिसका तात्पर्य होता था कि यहां झूठ बोलने पर जूआ खेलने वालों का पाप तुम्हें लगेगा।

—सकलनारायण शर्मा

प्राचीन भारत में विमान-यंत्र बनाने की प्रणाली

प्राचीन भारतवर्ष में लोग विमान-यंत्र बनाया करते थे। समरांगन सूत्रधार में लघु और अ-लघु दो प्रकार के यन्त्रों का उल्लेख है[१]। यंत्र का आकार गरुड़ पक्षी की तरह हुआ करता था। पक्षी के भीतर यात्रियों के बैठने का स्थान रहता था। छोटी लकड़ियों को जोड़कर एक बड़ा पक्षी बनाते थे और उसमें दो पर या पख जोड़ दिये जाते थे। उस पक्षी की देह में एक यंत्र रहता था और उसके नीचे खूब जलती हुई आग रखी जाती थी। आंच लगने से उस यंत्र का पारा गरम हो जाता था और वह धीरे २ ऊपर उठने लगता था। इस प्रकार पारा और दोनों पखों की सहायता से लोग ऊपर उड़ सकते थे। बड़ी २ लकड़ियों को जोड़कर जो पक्षी बनाया जाता था उसमें पारे के चार बर्त्तन रहते थे। लोहे के बर्त्तन में रखी हुई आग से पारा गरम होता था और वह पक्षी ऊपर उड़ने लगता था[२]।

बोधि राजकुमार वत्थु[३] से यह जाना जाता है कि वह यन्त्र इस तरह बनाया जाता था कि खिड़कियों से भी आना जाना सम्भव था। स्थपति अपनी पत्नि और अपने बाल-बच्चों के साथ उस पक्षी के भीतर बैठे थे और वे राजप्रासाद की खिड़की से उड़ सके थे। विमानों के बनाने में सूखी और कड़ी लकड़ियों की जरूरत थी। गूलर या उसी तरह की लकड़ियां काम में लाई जाती थीं। ऐसे यन्त्रों की सहायता से नगर या राज्यों को जीतना आसान था। अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होकर लकड़ी के विमान में बैठ किसी राजा ने हिमालय की ओर का एक नगर जीता था। उस नगर का नाम 'कट्ठवाहन नगर' और राजा का नाम 'कट्ठवाहन राजा' पड़ा था। उन्होंने न्याय और धर्मानुसार राज्य किया था[४]।

—बी. सी. ला.

---

(१) समरांगन सूत्रधार, अध्याय ३१ श्लोक ९५ और ९७।

(२) समरांगन सूत्रधार, अ. ३१, यंत्रविधान। और "Flying Machines in Ancient India" by Barua Majumdar, Cal. Rev. December 1933, pp. 287 foll.

(३) धम्मपद टीका, खंड २, पृ, १२४

(४) सुत्तनिपात टीका, खड २, पृ, ३५७
धम्मपद टीका, खंड २, पृ, १२५

सम्पादकीय मन्तव्य

आसाम में एक अलग विश्वविद्यालय खोलने पर मत भेद है। कुछ लोगों का कहना है कि एक पृथक विश्वविद्यालय की विशेष आवश्यकता है। लेकिन दूसरों की अर्थनैतिक तथा और २ कारणों से एक भिन्न राय है। संसार में ऐसे कई प्रसिद्ध नगर हैं जहां कि अलग विश्वविद्यालय अपना उन्नत सिर खड़ा कर चारों ओर ज्ञान का प्रकाश फैला रहे हैं, लेकिन भारतवर्ष की बात ही अलग है। प्रत्येक प्रदेश में—नगर की तो बात कोसों दूर रही—अगर एक पृथक विश्वविद्यालय रहे तो साहित्य, शिक्षा एवं संस्कृति की वृद्धि शायद कुछ हो सकेगी।

*   *   *   *

देश, काल, परिस्थिति और जाति भेद की ओर ध्यान न देकर यह युग संस्कृति का कहा जा सकता है। विभिन्न शिक्षा केंद्रों में आपस में सौहार्द्र एवं भ्रातृ भाव की आवश्यकता है। शिक्षा-प्रतिष्ठानों के विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ है और हर्ष की बात है कि भारतवर्ष में एक अखिल-भारतीय-विश्वविद्यालय-बोर्ड (Inter-University-Board) की स्थापना हुई है।

संसार के विभिन्न विश्वविद्यालयों के विषय में हमें कुछ अधिक जानना चाहिये। उन विश्वविद्यालयों की शिक्षा पद्धति कैसी है, उनकी विविध व्यवस्थायें, नियम आदि पर यदि छोटी छोटी पुस्तकें छपवाकर दूसरे विश्वविद्यालयों में भेजी जांय तो सम्भवतः हमारी जानकारी और भी बढ़ेगी। विभिन्न विश्वविद्यालयों का कोर्स यदि एक ही किया जाय तो छात्रों को कई सुविधायें होंगी। अध्यापक और साथ साथ यदि छात्र भी एक विश्वविद्यालय से दूसरे में भेजे जांय तो कुछ लाभ होगा। बेतार वक्तृता देकर भी अध्यापक एक देश से सारे संसार के छात्रों की भलाई कर सकते हैं।

*   *   *   *

जैसा कि गत अंक में सूचित किया गया है कि पं० रामसुरति मिश्र बीमार हैं। वे स्वास्थ्य खराब होने के सबब घर गये हुए हैं। अतएव पं० अयोध्या प्रसाद जो 'गुप्त-संग्रह' की टीका लिख रहे हैं। इन्हीं कारणों से और श्रीयुत कालिदास मुकरजी के बीमार रहने से—जो कि इस पत्रिका का प्रायः सब काम किया करते हैं, इस अंक के निकलने में देर हुई। आशा है पाठक क्षमा करेंगे।

पुस्तक-समालोचना

Doctrine of Śakti in Indian Literature, by the late Dr. Prabhat Chandra Chakravarti, pp. 123, Calcutta, 1940.

यह स्वर्गीय प्रो० चक्रवर्ती की एक अपूर्ण पुस्तक है। भारतीय दार्शनिक साहित्यों में 'शक्ति' का अर्थ 'सामर्थ्य' दिया हुआ है। सांख्यों के सत्कार्यवाद की जड़ में भी यही सामर्थ्य है। बौद्ध भी 'शक्ति' में विश्वास किया करते थे और उनका अर्थक्रिया में विश्वास न था। प्रो० चक्रवर्ती का उद्देश्य भारतीय दार्शनिक साहित्य में शक्तिवाद की खोज करना था। लेकिन खेद है कि काल ने उन्हें अपना उद्देश्य पूरा करने के पहले ही आ ग्रसा।

—वटकृष्ण घोष।

Studies in the Purāṇic Records on Hindu Rites and Customs, by R. C. Hazra, pp. VII+367; published by the University of Dacca (Bulletin No. XX), 1940.

कोई कैसा भी समालोचक क्यों न हो इस पुस्तक की समालोचना में कोई त्रुटि पाना कठिन है। इस पुस्तक को लिखने में लेखक ने कड़ा परिश्रम किया है इसमें संदेह नहीं। लेखक के अनुसार पुराणों में लगभग ईसा की दूसरी शताब्दी के आसपास की सामाजिक अवस्था का वर्णन दिया गया है। लेकिन वैदिक समय में वर्णाश्रम धर्म का प्रचार न था। उपनिषदों के समय क्षत्रिय ब्राह्मणों को शिक्षा दिया करते थे बौद्ध धर्म के प्रचार के बाद वर्णधर्म का प्रचार धीरे २ फैलता गया। ऐसा कोई उपाय नहीं है जिससे कि यह सिद्ध किया जाय कि आश्रमधर्म की अपेक्षा वर्णधर्म पर अधिक जोर दिया जाता था।

आलोच्य पुस्तक से मुझे अच्छी शिक्षा मिली है और मैं डा० हाजरा से ऐसी ही पुस्तकों की आशा करता हूं।

—सतीश चंद्र शील।

वेद परिचय—("वेद-परिचय" परीक्षा की पाठ विधि), प्रथम भाग, लेखक—श्रीपाद

दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय-मंडल, औंध (जि० सतारा), सन् १९४०, शक १८६१, संवत् १९९६, मूल्य १॥)

दामोदर जी ने चारों वेदों को प्रकाशित कर जो कार्य किया है उसके लिये हिंदी-संस्कृति और वैदिक-साहित्य-प्रिय उनके ऋणि हैं। वेद का अध्ययन करना सरल नहीं है। चारों वेदों की तो बात ही अलग है, ऋग्वेद की ही अच्छी तरह से गवेषणा करना कठिन है। दामोदर जी ने 'वेद-परिचय' प्रकाशित कर लोगों का बहुत उपकार किया है। वेद के चुने हुए श्लोकों का इसमें संग्रह है और उनका हिंदी और अंग्रेजी में अर्थ दिया गया है ताकि सब कोई वेद का आभास पा जांय।

यह पुस्तक भारतवर्ष तथा बाहर के लोगों के लिये भी उपयोगी हुई है क्योंकि इसमें अंग्रेजी में भी अर्थ दिया गया है। विद्यार्थियों के लिये यह कम उपयोगी नहीं है। मूल्य भी अधिक नहीं है, अतएव सभी विद्यार्थी इसे अपना सकते हैं। लाइब्रेरियों में इसकी एक प्रति होना वांछनीय है।

—कालिदास मुकरजी।

बंगला साहित्य का इतिहास—डा० सुकुमार सेन एम. ए, पी. एच. डी, अध्यापक कलकत्ता विश्वविद्यालय ; प्रकाशक माडार्न बुक एजेन्सी ; १० कलेज स्क्वेयर, कलकत्ता।

डा० सुकुमार सेन का परिचय देना सूर्य के सामने दीपक रखने का सा होगा। आपने आलोच्य पुस्तक में बंगला साहित्य का इतिहास अच्छी तरह दिया है। असंख्य हस्तलिखित प्रतियों की सहायता से इस पुस्तक की रचना की गई है, अतएव यह पुस्तक खूब मार्के की हुई है। विभिन्न हस्तलिखित प्रतियों का पाठान्तर भी दिया गया है। उन प्रतियों से उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियां भी दी गई हैं। अतएव यह पुस्तक विद्यार्थियों के काम की है। कहीं कहीं तो जिस प्राचीन पुस्तकों की आलोचना की गई है उनका सूचीपत्र ही दे दिया गया है।

संक्षेप में यह कहना है कि आलोच्य पुस्तक अपने ढंग का एक अनूठा रत्न है। इस पुस्तक की रचना में आपने जो परिश्रम किया है वह सराहनीय है। आशा है बंगाली विद्वान् और छात्र-मंडल इसको अवश्य अपनावेंगे।

—कालिदास मुकरजी

नल-नरेश—इसके रचयिता हैं पुरोहित श्री प्रताप नारायण जी 'कविरत्न'। यह १९ सर्गों का एक महाकाव्य है जिसमें नल दमयन्ती के जीवन वृत्त का अत्यन्त रोचक ढंग से सरल भाषा में वर्णन है। इस कथा का मूल आधार महाभारत का सुप्रसिद्ध नलोपाख्यान है। कवि ने उसको अपनी कल्पना से परिष्कृत कर पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया है। उनकी प्रतिभा का विकास स्थान स्थान पर है। ऋतुओं की विचित्रता, प्राकृतिक सुषमा की रमणीयता, भारतवर्ष का गौरव इत्यादि वर्णन अत्यन्त भावपूर्ण और हृदयग्राही हुये हैं। साहित्य-दर्पण में दिये महाकाव्य के लक्षणों को इसमें बहुत कुछ निभाया गया है। अपनी इन सब विशेषताओं के कारण यह हिन्दी के अच्छे महा-काव्यों में गिने जाने योग्य है। इसमें केवल अतीत का ही कीर्तन नहीं है सामयिक समस्याओं पर भी दृष्टिपात किया गया है। तेरहवें सर्ग में कवि ने दमयन्ती के मुख से जो स्त्रियों की पैरवी कराई है और समाज में उनके ऊंचे स्थान का निदर्शन किया है वह अत्युत्तम है। सोलहवें सर्ग में राजा के कर्तव्यों का वर्णन है वह भी केवल शास्त्रों के अनुसार ही नहीं, परन्तु वर्तमान समय की कठिनाइयां को ध्यान में रख किया है। किसी कृति का दोषों से बिलकुल मुक्त होना असम्भव है। आपकी रचना भी इसका अपवाद नहीं है। इस पुस्तक में कहीं कहीं वाक्य-विन्यास में शिथिलता आ गई है, और लिंग-विपर्यय भी बहुधा हुआ है। अलकारों को यदि कविता की कसौटी में कसें तो यह महाकाव्य उच्चकोटि का नहीं कहा जा सकता। ये दोष ऐसे नहीं कि गुणों को बिलकुल दबा लें, पर वे खटकते अवश्य हैं। आशा है भविष्य में आप इसका ध्यान रखेंगे, और इन दोषों को दूर करने का प्रयत्न करेंगे। इस काव्य का संशोधित संस्करण यदि छप जाय तो अत्युत्तम हो।

—कुमारी पद्मा मिश्र

नई पुस्तकें

Ornamental Art—Nanda Lal Bose

The Scul of India—A constructive study of Indian thoughts and ideals—Bepin chandra Pal

Sanatana Dharma or the Hindu View of Life—
V. R. Sundara Raman Re. 1-8

गुप्त साम्राज्य का इतिहास (प्रथम और द्वितीय भाग)
श्रीयुत वासुदेव उपाध्याय, एम. ए., मूल्य प्रथम भाग ३), द्वितीय भाग ४)

सुश्रुत-संहिता-सचित्रा—पं० सुदामा शास्त्री, बनारस मूल्य ४॥)

आर्यावर्त हृदयम्—विष्णुपद भट्टाचार्य, मूल्य ५)

कंसवाहो—ए. एन. उपाध्ये, बंबई ।

श्री मद्भागवत गीता—आर वासुदेव राव, मद्रास ।

आत्म मीमांसा—श्रीनंदलाल खन्ना एम. ए., एल. एल. बी मूल्य २)

चित्र सृष्टि—पी. वी. देसाई मूल्य १।)

जीवन अने साहित्य—रमनलाल वी देसाई मूल्य २॥)

पुरातन दक्षिण गुजरात—मनिभाई द्विवेदी मूल्य १।)

पुरानी-पत्रिकायें

कालिदास मुकरजी द्वारा संकलित

The Indian Antiquary Vol. I and II 1872-73.

Explanation of Vedic Words :—Prof. Th. Aufrecht (P. 56) (Translated from the Zeitschrift der Deut schen Morgent-andischen Gesellschaft Bd. XXIV. pp. 205-6)

आलोच्य लेख में लेखक ने 'निष्ठुर' और 'अभ्युद' वैदिक पदों की व्याख्या की है।

The Oldest known South Indian Alphabet—Mr. A. C. Burnell, M. G. S., M. R. A. S. Mangalore.

इस लेख में लेखक ने दक्षिण भारत के प्राचीन अक्षरों की आलोचना की है।

On the Dravidian Element in Sanskrit Dictionaries—The Rev. F. Kittel, Merkara.

लेखक का कहना है कि कई द्राविड़ शब्द सस्कृत में आ मिले हैं। लेकिन कई पंडितों की दूसरी ही राय है। उनका कहना है कि कई द्राविड़ शब्दों की उत्पत्ति सस्कृत से हुई है। लेखक ने इस लेख में यह दिखलाने की चेष्टा की है कि संस्कृत कोष में कौन कौन से द्राविड़ शब्द हैं।

Chaitanya and the Vaishnava Poets of Bengal. Studies in Bengali Poetry of the fifteenth and sixteenth Centuries by John Beams, B. C. S. M. R. A. S. etc.

इस लेख में लेखक ने चैतन्य महाप्रभु तथा बंगाली वैष्णव कवियों की रचनाओं पर आलोचना की है।

Papers on Satrunjoya lc—by Jas Burgess M. R. A. S. F. R. G. S.

प्राचीन काल से ही शत्रुंजय पर्वत जैनों का तीर्थस्थान रहा। इस लेख में जैन-धर्म की उत्पत्ति, बौद्ध और जैन-धर्म की एकता आदि पर लिखा हुआ है।

The Desisabdasamgraha of Hemchandra, by G. Buhler, Ph. D., Educational Inspector, Gujrat.

हेमचंद्र लिखित 'देशी शब्दसंग्रह' नामक हस्तलिखित प्रति की आलोचना। इस प्रति में लगभग ४००० प्राकृत शब्द हैं।

सामयिक-साहित्य

विश्वमित्र—	कामदेव के पञ्च पुष्पबाण—श्रीकृष्णानंद शास्त्री।
जीवनसखा—	शीर्षासन—डा० बालेश्वर प्रसाद सिंह।
सरस्वती—	अयोग्य का नाश अवश्यम्भावी है—श्रीयुत प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति।
,,	पंजाब में हिन्दी-उर्दू-विवाद—श्रीयुत शिवकुमार विद्यालंकार।
जीवनसाहित्य—	आधुनिक हिंदी कविता की कुछ प्रवृत्तियां—श्री सुधीन्द्र एम ए. साहित्यरत्न।
विश्ववाणी—	निष्पक्ष साधना—आचार्य क्षितिमोहन सेन।
,,	प्राचीन भारत में उत्सव-नाच-गान-अभिनय—पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी।
,,	निग्रो संस्कृति की एक झलक—कुमारी जोरानील हर्स्टन।
,,	चीन का सांस्कृतिक जीवन—प्रो० तान युन शान।
वैदिक धर्म—	स्वर्ग और नर्क तथा मोक्ष—श्री रघुनाथ प्रसाद वर्मा सहवेई बुजुर्ग।
,,	भृगुवंश और भारत—डा० वी. एस. सुकथनकर एम. ए, पी. एच. डी.
,,	ईश्वरवाद का वास्तविक स्वरूप—श्री पं० रामावतारजी विद्याभास्कर।
भारतीय विद्या—	श्री रामानुजाचार्य अने तेमनो सम्प्रदाय—
(गुजराती)	श्रीमती कुमारी सुशीला मेहता एम. ए., एल. एल. बी.
,,	व्युत्पत्ति शास्त्र अने संस्कृत-प्राकृत शब्दो —अध्यापक पं० श्री बहेचर दास जी दोशी।
तरुण जैन—	"भारतीय राष्ट्र का इतिहास" और जैन समाज —श्री गोपीचंद धाड़ीवाल बी. एस. सी. एल. एल. बी.
सूर्योदय—	संस्कृत भाषा—वि० कृष्ण स्वाम्यय्यङ्गार्य।
,,	शंकरस्य रहस्यपूर्ण स्थानम्—के. टी. रामशरण शर्मा शास्त्री आइ. ई. कालेजाध्यापक।

सामयिक संवाद

आसाम में अलग विश्वविद्यालय :—आसाम में एक अलग विश्वविद्यालय खोलने की बात चीत बड़े जोरों से चल रही है। आसाम का कोई निजस्व विश्वविद्यालय नहीं है—यह कलकत्ता विश्वविद्यालय के आधीन है। लेकिन एक अलग विश्वविद्यालय चलाने के लिये आर्थिक प्रश्न सामने आ खड़ा होता है।

भौगोलिक प्रदर्शनी और भूगोल शिक्षा—कलकत्ते में एक भौगोलिक प्रदर्शनी हुई थी। कलकत्ता विश्वविद्यालय की उच्च परीक्षाओं में भूगोल शिक्षा को व्यवस्था की गई है।

कलकत्ता विश्वविद्यालय :—डा० सर नीलरतन सरकार और डा० राघवेंद्र राव को 'डाक्टर आफ साइन्स' की उपाधि दी गई है।

ढाका विश्वविद्यालय—ढाका विश्वविद्यालय में तीन नये विभाग खुल रहे हैं—गणना, (statistics), बेतार और भूगोल।

श्रीयुत दुर्गा प्रसाद बनर्जी और श्रीयुत कालिमोहन चक्रवर्ती को 'डाक्टर आफ साइन्स' की उपाधि दी जावेगी।

कीटदष्टातिभयदा दीर्घा चैव सुतान् हरेत् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन वर्जनीयाश्च वर्जयेत् ॥३१॥

सान्वय-शब्दार्थ—(कीटदष्टा) घुन लगी हुई समिधा (अति) बहुत ही (भयदा) भय देने वाली होती है (च) और (दीर्घा) लम्बी समिधा (एव) निश्चयपूर्वक (सुतान्) सन्तानों का (हरेत्) नाश करती है । (तस्मात्) इसलिये (वर्जनीयाः) निषिद्ध समिधाओं को (सर्वप्रयत्नेन) पूर्ण प्रयत्नपूर्वक (वर्जयेत्) त्याग दे ॥३१॥

भावार्थ—निषिद्ध समिधाओं को यज्ञ में कदापि व्यवहार न करनी चाहिये उनके व्यवहार से बुरे परिणाम होते हैं ॥३१॥

अकृशा चैव न स्थूला अशाखा चापलाशिनी ।
सक्षीरा नाधिका न्यूनाः समिधः सर्वकामदाः ॥३२॥

सान्वय-शब्दार्थ—(अकृशाः) न बहुत पतली हो (च+एव+न) और न तो (स्थूला) मोटी ही हो (अशाखा) बिना शाखा वाली, (च) और (अपलाशिनी) बिना पत्तों वाली और (सक्षिरा) दूध वाली हो (न) न तो (अधिक) अधिक ही हो और (अन्यूना) न न्यून हो ऐसी (समिधः) समिधायें (सर्व) सब (कामदाः) कामनाओं को सिद्ध करने वाली होती हैं ॥३२॥

भावार्थ—निषिद्ध समिधाओं का परित्याग कर जिस प्रकार की समिधाओं का यज्ञानुष्ठान में उपयोग करना चाहिये उनका वर्णन उपर किया गया है ॥३२॥

गृह्यकर्मसु सर्वषु होत्रे प्रतिविधिं ध्रुवम् ।
क्रमशः सम्प्रवक्ष्यामि यो यत्र विहितो विधिः ॥३३॥

सान्वय-शब्दार्थ—(सर्वेषु) सब (गृह्यकर्मसु) गृह्यकर्मानुष्ठानों में और (होत्रे) यज्ञ में (ध्रुवम्) निश्चित् (प्रतिविधिम्) प्रतिविधियों का अर्थात् (यः) जिस (विधिः) विधि का (यत्र) जहां पर (विहितः) विधान किया गया है उनका (क्रमशः) क्रमानुसार (सम्प्रवक्ष्यामि) में वर्णन करूंगा ॥३३॥

भावार्थः—आचार्य समस्त याज्ञिक कर्मों की विधियों का यथाक्रम वर्णन करने की प्रतिज्ञा करते हैं ॥३३॥

अनुच्छिन्नपदार्थानि गृह्यावाक्यानि यानि तु ।
तेषां वक्ष्यामि सिध्यर्थं श्लोकैः संग्रहसंज्ञकैः ॥३४॥

सान्वय-शब्दार्थ—(यानि तु) जो (अनुच्छिन्न पदार्थानि) दोषरहित् पदार्थ तथा (गृह्या वाक्यानि) गृह्यकर्मानुष्ठान के वाक्य हैं उनको (सिद्धार्थं) सिद्धि प्राप्ति के लिये (संग्रहसंज्ञकै) संग्रह नाम वाले (श्लोकै) श्लोकों द्वारा वर्णन करूंगा ॥३४॥

भावार्थ—यज्ञ में विहित् पदार्थों तथा वाक्यों के वर्णन करने की प्रतिज्ञा करते हैं ॥३४॥

पत्न्यः पुत्राश्च कन्याश्च जनिष्याश्चापरे सुताः ।
गृह्या इति समाख्याता यजमानस्य दायकाः ॥३५॥

सान्वय-शब्दार्थ—जो (यजमानस्य) यजमान के (दायकाः) उत्तराधिकारी (पत्न्यः) विवाहित् स्त्रियां (च) और (पुत्राः) पुत्र (च) ओर (कन्या) पुत्रियां (चापरे) और दूसरे (जनिष्याः सुताः) लड़के हैं (गृह्या) उनको गृह्या (इति) ऐसा (समाख्याता) कहा जाता है ॥३५॥

भावार्थ—यजमान के उत्तराधिकारियों को अर्थात् उसकी धर्मपत्नियों तथा लड़के लड़कियों को गृह्या कहा जाता है ॥३५॥

तेषां संस्कारयोगेन शान्तिकर्म्म क्रियासु च ।
आचार्यविहितः कल्पस्तस्माद्र गृह्या इति स्थितिः ॥३६॥

सान्वय-शब्दार्थ—(संस्कारयोगेन) संस्कार के योग से (च) और (शान्तिकर्मक्रियासु) शान्तिकर्म की क्रियाओं में। (आचार्य) आचार्य ने (तेषाम) उनके (कल्पः) कल्प का (विहितः) विधान किया है (तस्मात्) इसलिये (गृह्या) गृह्या (इति) ऐसी (स्थिति) स्थिति हैं ॥३६॥

भावार्थ—उन यजमान के उत्तराधिकारियों के लिये आचार्य ने कल्पशास्त्र का विधान किया है ॥३६॥

भूमेः समूहनं कृत्वा गोमयेनोपलिप्य च ।
द्रव्याण्युत्तरतः स्थाप्य बृषीं कुर्यादुदङ्मुखीम् ॥३७॥

सान्वय-शब्दार्थ—(भूमेः) पृथिवी को (समूहनम्) स्वच्छ (कृत्वा) कर (च) और (गोमयेन) गोबर से (उपलिप्य) लीप (द्रव्याणि) यज्ञसम्बन्धी द्रव्यों को (उत्तरतः) उत्तर दिशा में (स्थाप्य) रख (बृषीम्) पुरोहित का आसन (उदङ्मुखीम् उत्तरमुख की ओर (कुर्यात्) बिछावे ॥३७॥

भावार्थ—भूमि को गोबर से भली प्रकार लीप कर यज्ञसम्बन्धी द्रव्य वेदी की उत्तर दिशा में रक्खे और आसन उत्तर मुख की ओर बिछावे ॥३७॥

गोचर्ममात्रं कुर्वीत चतुरस्रमनूषरे ।
सर्वतोऽरत्निमात्रं स्यात् सायं प्रातस्तु होमयोः ॥३८॥

सान्वय-शब्दार्थ—(अनूषरे) किसी नोनी भूमि में (गोचर्म मात्रम्) गोचर्म प्रमाण की लम्बी चौड़ी एक (चतुरस्रम्) चतुष्कोण (कुर्वीत) बनावे । (सायम्) सन्ध्या काल तथा (प्रातः तु) प्रातः काल के (होमयोः) होमों में (सर्वतः सब ओर से (अरत्निमात्रम्) एक हाथ मात्र की हो ॥३८॥

भावार्थ—यज्ञ करने के लिये उपयुक्त ऊसर अर्थात् अनुपजाऊ वा नोनी भूमि चाहिये । भूमि का परिमाण गोचर्म मात्र हो, गोचर्म मात्र भूमि ३०० फीट लम्बी तथा १० फीट चौड़ी होती है । 'गोचर्म मात्र' भूमि उतनी भूमि को भी कहते हैं जिसमें इतना अन्न उपजे जो एक मनुष्य के लिये एक वर्ष पर्यन्त आहार का काम दे । वशिष्ठ ने 'गोचर्म भूमि की मात्रा का उल्लेख इस प्रकार किया है—

दशहस्तेन वंशेन दशवंशान समन्ततः ।
पञ्चचाभ्याधिकान् दद्यादेतद्गोचर्म चोच्यते ॥

गोचर्म का लक्षण स्वयं ग्रन्थकार ने अगले श्लोक में किया है । प्रातः और सन्ध्या काल के हवन के लिये वेदी का परिमाण अरत्निमात्र हो 'अरत्नि' हाथ की केहुनी से लेकर कनिष्ठा अंगुली तक की लम्बाई को कहते हैं—

मध्यांगुली कूर्परयोर्मध्ये प्रामाणिकः करः ।
बद्धमुष्टिकरो रत्निररत्निः स कनिष्ठकः ॥

कृत्या० ॥३८॥

ऋषभैकशतं यत्र गवां तिष्ठति संवृतम् ।
बालवत्सप्रसूतानां गोचर्म इति तं विदुः ॥३९॥

सान्वय-शब्दार्थ—(यत्र) जिस स्थान पर (ऋषभैक) एकसांढ़ तथा (बालवत्सप्रसूतानां) बच्चे जनने वाली (गवाम्) गौओं की (शतम्) सौ संख्या (संवृतम्) घेर करके (तिष्ठ ति) रहते हैं (तम्) उस स्थल को (इति) हो (गोचर्म) गोचर्म (विदुः) जानते हैं, अर्थात् कहते हैं ॥३९॥

भावार्थ—गोचर्म मात्र भूमि का परिमाण ग्रन्थकार ने स्वयं कथन किया है ॥३९॥

षट् पञ्च चतुरो वापि त्रयो द्वौ वा शफौ स्मृतौ ।
गोचर इति शब्दोऽयं विधियोगे निपात्यते ॥ ४० ॥

सान्वय-शब्दार्थ—(षट्) छः (पञ्च) पांच (चतुरः) चार (वा+अपि) अथवा (त्रयः) तीन (वा) वा (द्वौ) दो (शफौ) खुर जितनी भूमि को भी (स्मृतौ) गोचर्म कहते हैं। (अयम्) यह (गोचर्म+शब्दः) गोचर्म शब्द (इति+विधियोगे) शास्त्र द्वारा विधान किये हुये कर्मों में ऐसा ही (निपात्यते) माना जाता है ॥४०॥

भावार्थ—दो, तीन, चार, पांच वा छः खुर बराबर भूमि को भी शास्त्र द्वारा विहित कर्मों गोचर्म कहा जाता है ॥४०॥

प्रागग्रीवं ब्रह्मवर्चस्यमुदग्ग्रीवं यशोत्तमम् ।
पित्र्यं दक्षिणतो नीचं प्रतिष्ठालम्भकं समम् ॥४१॥

सान्वय-शब्दार्थ—(ब्रह्मवर्चस्य) ब्रह्म ब्रचस्वी अनुष्ठान के लिये (प्राग्ग्रीवम्) पूर्व दिशा की ओर गला हो (यशोत्तमम्) उत्तम यश के लिये (उदग्ग्रीवम्) उत्तर की ओर गला हो (पित्र्यम्) पितृयज्ञ सम्बन्धी अनुष्ठान में (दक्षिणतः) दक्षिण की ओर (नीचं) नीचा गला हो (प्रतिष्ठालम्भकम्) प्रतिष्ठा प्राप्ति के लिये (समम्) सम हो ॥४१॥

भावार्थ—किस अनुष्ठान में ग्रीवा किस ओर हो उसका उल्लेख किया गया है ॥४१॥

वरं गान्तु विजानीयाच्चतुर्वर्षा मिति स्थितिः।
दक्षिणानां विशिष्टं वै वरं त मपरं विदुः ॥४२॥

सान्वय-शब्दार्थ—(चतुर्वर्षाम्) जिनकी चार वर्ष की आयु हो (इति) ऐसी (स्थितिः) स्थिति वाली (गाम) गौ को (तु) तो (वरम्) श्रेष्ठ (विजानीयात्) जानना चाहिये। (दक्षिणानाम् विशिष्टं) और जो दक्षिणा के लिये विशिष्ट की गई हैं (तम्) उनको (अपरम्) अन्य लोगों ने (वै) निश्चयपूर्वक (विदुः) श्रेष्ठ जाना है ॥४२॥

भावार्थ—चार वर्ष वाली गौ को श्रेष्ठ जानना चाहिये परन्तु अन्य लोगों ने उन गौओं को श्रेष्ठ बताया है जो दक्षिणा के लिये विशिष्ट की गई हैं ॥४२॥

चतुर्मुष्टिर्भवेत् किञ्चित् पुष्कलं च चतुर्गुणम्।
पुष्कलानि च चत्वारि पूर्णपात्रं विधीयते ॥४३॥

सान्वय-शब्दार्थ—(चतुर्मुष्टि) चार मुट्ठियों का (किञ्चित्) 'कुछ' (भवेत्) होता है। (चतुर्गुणम्) और इसके चौगुने को (पुष्कलम्) पुष्कल कहते हैं। (च) और (चत्वारि) चार (पुष्कलानि) पुष्कलों को (पूर्णपात्रम् विधीयते) पूर्ण पात्र कहा जाता है ॥४३॥

भावार्थ—४ मुट्ठियों का 'किञ्चित्' और चौगुने किञ्चित् का 'पुष्कल' और ४ गुणे पुष्कलों का पूर्ण पात्र होता है ॥४३॥

यज्ञद्रव्यसमाहारे भोजनाचमने तथा।
जपे वा होमकाले वा दक्षिणं बाहुमुद्धरेत् ॥४४॥

सान्वय-शब्दार्थ—(यज्ञ द्रव्य समाहारे) यज्ञानुष्ठान सम्बन्धी द्रव्यों के एकत्र करने में (तथा) और (भोजनाचमने) भोजन और आचमन की क्रिया में (जपे) जप (वा) अथवा (होमकाले वा) हवन करते समय (दक्षिणम् बाहुम) दाहिने बाहु को (उद्धरेत्) उठावे ॥४४॥

भावार्थ—यज्ञीय सामग्रियों के एकत्र करने में, भोजन, आचमन तथा जप या हवन के समय दाहिने बाहु को उठाना चाहिये ॥४४॥

होमः प्रतिग्रहो दानं भोजनाचमनानि च।
अवहिर्जानु कर्माणि साङ्गुष्ठान्येव माचरेत् ॥४५॥

सान्वय-शब्दार्थ—(होमः) होम और (प्रतिग्रह) दान लेना तथा (दानम्) दान देना (च) और (भोजन आचमनानि कर्म्माणि) भोजन और आचमन के कर्म्मों को (अवहिर्जानु) जंघाओं को बाहर न रखते हुये (साङ्गुष्ठानि) अंगूठों के सहित (खम्) ही (आचरेत्) करे ॥४५॥

भावार्थ—पांव के घुटनों को हाथों के बीच रखकर ही उपरोक्त कर्म्मों को सम्पादन करना चाहिये ॥४५॥

आरम्भः सर्वहोमानामाहुर्यज्ञविदो जनाः।
लक्षणं तत्प्रवक्ष्यामि प्रमाणं दैवतं च यत् ॥४६॥

सान्वय-शब्दार्थ—(यज्ञविदः) यज्ञ तत्त्व के जानने वाले (जनाः) लोगोंने (सर्व) सब (होमानाम्) हवन कर्म्मों का (आरम्भः) आरम्भ (आहुः) कथन किया है। (यत्) जो उसका (लक्षण) लक्षण (च) और (दैवतम्) देवता सम्बन्धीय (प्रमाणम्) प्रमाण हैं (तत्) उन्हें (प्रवक्ष्यामि) मैं वर्णन करूंगा ॥४६॥

भावार्थ—ग्रन्थकर्त्ता यज्ञ के लक्षण और देवता सम्बन्धी प्रमाणों के उल्लेख करने की प्रतिज्ञा करते हैं ॥४६॥

न नखेन न काष्ठेन नाश्मना मृण्मयेन वा।
प्रोल्लिखेल्लक्षणं विप्रः सिद्धिकामस्तु यो भवेत् ॥४७॥

सान्वय-शब्दार्थ—(यः) जो (विप्रः) पण्डित (सिद्धि+कामः भवेत्) अपनी कामनाओं की सिद्धि की इच्छा रखता हो वह (न) नतो (नखेन) नाखून से और (न) न (काष्ठेन) लकड़ी से

और (अश्मना) पत्थर से (वा) अथवा (मृण्मयेन) मिट्टी की बनी किसी चीज़ से (लक्षणम्) लक्षण को (प्रोल्लिखेत) लिखे ॥४७॥

भावार्थ—लकड़ी, नाखुन, पत्थर अथवा मिट्टी आदि से लक्षण नहीं लिखना चाहिये ॥४७॥

नखेन कुनखी चैव काष्ठेन व्याधि मिच्छति ।
अश्मना धननाशः स्यान् मृन्मयेन कलिध्रुवम् ॥४८॥

सान्वय शब्दार्थ—(नखेन) नाखूनसे लिखने पर (कुनखी) खराब नख वाला हो जाता है (च+एव) और (काष्ठेन) लकड़ी से लिखने पर (व्याधिम्) रोग को (इच्छति) इच्छा करता है। (अश्मन) पत्थर से लिखने पर (धननाशः) धन का नाश होता है (मृण्मयेन) मिट्टी की किसी चीज़ से लिखने पर (ध्रुवम्) बराबर (कलिम्) कलह होता रहता है ॥४८॥

भावार्थ—नख, लकड़ी, पत्थर आदि से लक्षण लिखने का क्या दुष्परिणाम होता है उनका उल्लेख किया गया है ॥४८॥

फलेन फलिनी चैव पुष्पेण श्रिय मिच्छति ।
पर्णेन धनलाभः स्याद्दीर्घ मायुः कुशेन तु ॥४९॥

सान्वय-शब्दार्थ—(फलेन) किसी फल से लिखने पर (फलिनी) कार्य मे सफलीभूत होता है (पुष्पेण) और फूल से लिखने पर (श्रियम्) लक्ष्मी की (इच्छति) इच्छा करता है (पर्णेन) पत्ते से लिखने से (धन लाभः) धन की प्राप्ति (स्यात्) होती है (तु) और (कुशेन) कुशा से लिखने से (दीर्घम्) लम्बी (आयुः) उमर होती है ॥४९॥

भावार्थ—जिन पदार्थों से लक्षण लिखने का जो फल प्राप्त होता है उपर्युक्त श्लोक में उनका वर्णन हुआ हैं ॥४९॥

तस्मात् फलेन पुष्पेन पर्णेनाथ कुशेन वा ।
प्रोल्लिखेल्लक्षणं विप्रः सिद्धिकामस्तु कर्मसु ॥५०॥

सान्वय-शब्दार्थ—(तस्मात्) इसलिये (फलेन) किसी फल से, (पुष्पेण) किसी पुष्प से (अथ) या (पर्णेन) पत्ते से (वा) अथवा (कुशेन) कुशा से (सिद्धिः कामः तु कर्मसु) कर्मों में सिद्धि की कामना रखने वाला (विप्रः) पण्डित (लक्षणम्) लक्षण को (प्रोल्लिखेत) लिखे ॥५०॥

भावार्थ—मनोकामना की सिद्धि के लिये विप्र को फल, पुष्प, पत्ता वा कुशा से लक्षण लिखना चाहिये ॥५०॥

सव्यं भूमौ प्रतिष्ठाप्य प्रोल्लिखेद्दक्षिणेन तु ।
तावन्नोत्थापयेत्पाणिं यावदग्निं निधापयेत् ॥ ५१ ॥

सान्वय-शब्दार्थ –(सव्यम्) बांये हाथ को (भूमौ) पृथ्वी पर (प्रतिष्ठाप्य) रखकर (दक्षिणे तु) दाहिने हाथ से (प्रोल्लिखेत) लिखे (यावत्) जब तक (अग्निम्) अग्नि को (निधापयेत्) भली प्रकार प्रज्वलित न करे (तावत्) तब तक (पाणिम) हाथ को (न) नहीं (उत्थापयेत्) उठावे ॥५१॥

भाभार्थ—बांये हाथ को भूमि पर रख कर दाहिने हाथ से लिखना चाहिये और जब तक अग्नि को भली प्रकार प्रज्वलित न करे तब तक भूमि से हाथ नहीं उठाना चाहिये ॥५१॥

प्राक्कृता पार्थिवी लेखा आग्नेयी चाप्युदक् स्मृता ।
प्राजापत्या च ऐन्द्री च सौमी च प्राक्कृता स्मृता ॥५२॥

सान्वय-शब्दार्थ—(पार्थिवी लेखा) पृथ्वी सम्बन्धी लेखा (प्राक् कृता) पूर्व की ओर की गई है (च) (आग्नेयी) अग्नि सम्बन्धी लेखा (उदक्) उत्तर की ओर को गई है। (प्राजापत्या) प्रजापति सम्बन्धी लेखा (च ऐन्द्री) और इन्द्र सम्बन्धी लेखा (च) और (सौमी) सोम सम्बन्धी लेखा (प्राक्कृता) पूर्व की ओर को गई है (स्मृता) ऐसा वर्णन है ॥५२॥

भावार्थ—पार्थिवी, प्राजापत्य, ऐन्द्री तथा सौमी लेखाओं पूर्व की ओर (आग्नेयी) आग्नेयी लेखा उत्तर की ओर होनी चाहिये ॥५२॥

उत्करं गृह्य रेखाभ्योऽरत्निमात्रे निधापयेत् ।
द्वार मेवन्तु द्रव्याणां प्रागुदीच्यां दिशि स्मृतम् ॥५३॥

हिन्दी-सभा

सभापति—श्रीयुत घनश्यामदास जी बिड़ला ।

सह० सभापति—(२) श्रीयुत बंशीधर जालान ।

(३) „ भागीरथ कानोड़िया ।

अन्यान्य सदस्य

(४) काका कालेलकर ।
(५) डा० डी० आर० भंडारकर ।
(६) महामहोपाध्याय सकलनारायण शर्मा ।
(७) डा० सुनीति कुमार चटर्जी ।
(८) श्रीयुत बहादुर सिंह सिंघी
(९) श्रीयुत मूलचन्द अगरवाल ।
(१०) डा० बेनीमाधव बड़ुवा ।
(११) श्रीयुत शिवप्रसाद गुप्त ।
(१२) पं० अम्बिका प्रसाद बाजपेयी ।
(१३) श्रीयुत देवीप्रसाद खेतान ।
(१४) „ लक्ष्मीनिवास बिड़ला ।
(१५) „ परेश नाथ सिंह
(१६) „ पद्मराज जैन ।
(१७) „ बाबूलाल राजगढ़िया ।
(१८) डाः बटकृष्ण घोष
(१९) पं० श्री रामसुरति मिश्र ।
(२०) श्रीयुत सतीश चन्द्र शील । (परिचालक)
(२१) „ कालिदास मुकरजी (सह-सम्पादक)
(२२) कुमारी पद्मा मिश्र (सह-सम्पादिका)

प्राचीन भारत का उद्देश्य

हिन्दी में मासिक एवं त्रैमासिक कई पत्रिकायें हैं लेकिन भारतीय संस्कृति एवं शास्त्र सम्बन्धीय कोई पत्रिका नहीं दिखलाई पड़ती । प्राचीन भारत की ज्ञान-गरिमा को हम क्रमशः भूलते ही आ रहे हैं कि इसी भारतवर्ष ने चीन, जापान के अतिरिक्त सुदूर अमेरिका में भी हिन्दुत्व का प्रभाव कैसे डाला था ? कैसे यूनानियों ने यहां से चिकित्सा पद्धति सीखी ? सम्राट सिकन्दर तो यहां की शिक्षा, एवं संस्कृति को देखकर दंग हो गया था । इस पत्रिका का उद्देश्य उस प्राचीन संस्कृति आदि पर प्रकाश डालना ही है । इस पत्रिका में नीचे लिखे विषयों पर लेख रहेंगे :—

(१) वैदिक शास्त्र (२) दर्शन-शास्त्र (३) धर्म-शास्त्र (४) बौद्ध तथा जैन शास्त्र (५) आयुर्वेद-शास्त्र (६) शिल्प एवं कला (७) प्राचीन विज्ञान-शास्त्र (गणित, ज्योतिष, रसायन, पदार्थ-विद्या आदि) (८) हिन्दी-साहित्य (९) समाज तथा नीति-शास्त्र (१०) प्राचीन तथा आधुनिक भारतवर्ष और दूसरे देशों की शिक्षापद्धति तथा उनका प्रचार कार्य (११) पुस्तक समालोचना तथा अन्यान्य विषयों में प्रकाशित लेखों पर मन्तव्य (१२) सम्पादकीय मन्तव्य । इसके अतिरिक्त अप्रकाशित हस्तलिखित प्रतियों का प्रकाशन एवं प्रकाशित दुष्प्राप्य पुस्तकों की समालोचना। संस्कृत, पाली एवं प्राकृत अप्रकाशित हस्तलिखित प्रतियों का हिन्दी अनुवाद।